अंगद चरित्र



परमपूज्य श्री रामकिंकरजी महाराज

।। श्री रामः शरणं मम।।

अंगद चरित

वस्तु अमोलक दी मेरे सत्‌गुरु
किरपा करि अपनायो

परमपूज्यपाद सद्‌गुरुदेव श्रीरामकिंकरजी महाराज
के पावन चरण कमलों में प्रणति

—विजयशंकर बाजोरिया

अंगद चरित

प्रतिपादन

परम पूज्य 'पद्मभूषण' डॉ॰ श्री रामकिंकर जी महाराज

सम्पादन

मैथिलीशरण

डॉ० चन्द्रशेखर तिवारी

प्रकाशक

रामायणम् ट्रस्ट

परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट,

श्रीधाम, अयोध्या-२२४१२३

प्रथम संस्करण
संवत् 2061 गुरुपूर्णिमा, 2 जुलाई 2004

संकलन
स्वामी श्रीविदेहात्मानन्दजी महाराज

लिपिबद्ध
श्री राजेन्द्र तिवारी

सत्साहित्य सेवा हेतु मूल्य : रुपये ८०.००

प्रकाशक
रामायणम् ट्रस्ट
परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट,
श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३
दूरभाष : ०५२७८-२३२१५२

मुद्रक
रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली, फोन : २२८२११७४

।। श्री रामः शरणं मम।।

प्रकाशन-संदर्भ

परम पूज्यपाद सद्गुरुदेव श्रीरामकिंकरजी महाराज द्वारा प्रवाहित रामकथा गंगा का यह वह एकत्रित जल है जिसको समय-समय पर संजोकर रख लिया गया। अब किसी को जब कभी भी उसमें अवगाहन और आचमन की इच्छा हो, वह कर सकता है। वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाराजश्री के शील स्वभाव और जीवन को यदि एक शब्द में बाँधना हो तो शायद गंगा से बढ़कर और कोई शब्द उनके लिए सूझता नहीं। उनके चिन्तन में गंगा की पवित्रता, शीतलता और निरन्तरता के साथ-साथ गहराई का ऐसा अनुभूत दर्शन होता है जो वाणी का विषय नहीं है। धन्य हैं वे वक्ता जो उनकी वाणी का प्रसाद अपने श्रोताओं में यह कहकर बाँटते हैं कि ये विचार पूज्य श्रीरामकिंकरजी के हैं।

एक सज्जन ने मुझसे कहा कि एक प्रख्यात वक्ता को मैंने महाराज-श्री के विचार प्रस्तुत करते सुना, पर उन्होंने कहीं पर भी उनके नाम का संकेत नहीं दिया, मैंने कहा कि आपको इसमें दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है। जब उन्होंने उनके विचारों को अपने अन्दर आत्मसात कर लिया, उनकी श्रेष्ठता, महानता और प्रासंगिकता को तो स्वीकार कर ही लिया और विचारों की श्रेष्ठता को स्वीकार कर वह श्रेष्ठ वस्तु लोगों को बाँट रहे हैं। इससे तो महाराज-श्री को प्रसन्नता ही होगी और जब प्रकाशक किसी वस्तु को सार्वजनिक रूप से प्रकाशित करता है तो उसका उद्देश्य भी तो यही है कि इस ज्ञान का अधिक से अधिक लोगों को लाभ मिले।

महाराज-श्री जब प्रवचन करते थे तो श्रोताओं के मुखारविन्द और शरीर की स्थिति बिल्कुल वैसी ही होती थी, जैसे किसी सुन्दर वाटिका में मंद-मंद हवा चलने पर पौधों की होती है। वे हर झोंके पर लहलहाते हैं और झूमते हैं। मैंने यह दृश्य साक्षात् देखा है।

महाराज-श्री की कृपा से इस बर्ष एक साथ दो ग्रन्थों का प्रकाशन विषय के अनुसार बड़ा ही सांकेतिक और सारगर्भित है-ज्ञानदीपक एवं अंगद चरित। इन प्रकाशनों का विषय सांकेतिक इन अर्थों में है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति से लेकर तत्त्वज्ञानी महापुरुषों तक सबके जीवन में एक तो वह संसार है जिसमें वे जीते दिखाई दे रहे हैं और एक संसार वह है जो उनके अन्दर है। घटनाक्रम लगभग एकही है। बाहर व्यक्ति हैं तो अन्दर वृत्ति। दोनों के समाधान में ग्रन्थों ने और महापुरुषों ने अपने-अपने तौर तरीके से समाधान दिए हैं, पर महाराज-श्री की जो अलौकिकता है वह यह है कि वे प्रत्येक विषय को प्रतिपादित करते समय किसी एक दिशा में झुकते नहीं अर्थात् यदि वे किसी एक किनारे का पक्ष लें और दूसरे को न्यून सिद्ध करें तो उनकी अलौकिकता न रहकर वे एक पक्ष के प्रतिपादक ही होंगे, पर ज्ञानदीपक के रूप में वे चाहे अन्तरंग संसार की समस्याओं का समाधान दें, चाहें अंगद चरित के माध्यम से प्रवृत्ति की विभीषिकाओं का वर्णन करें, पर उनका पहिया डगमगाता नहीं है और वे अपने पाठकों और श्रोताओं को सुरक्षित, व्यवस्थित और कल्याणकारी मार्ग से लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं।

प्रवृत्तिमार्गियों के लिए अंगद चरित और निवृत्तिपरायण महापुरुषों के लिए ज्ञानदीपक का प्रकाशन मणिकांचन योग है।

रामायणम् ट्रस्ट आप लोगों की इस भावना के लिए कृतज्ञ और कार्यरत है कि पूज्य महाराज-श्री का यह दिव्य साहित्य समाज का मार्गदर्शन करता रहे।

रामायणम् ट्रस्ट की अध्यक्षा परमभक्तिमयी मंदाकिनीश्रीरामकिंकर जी एवं रामायणम् ट्रस्ट के सभी ट्रस्टियों के इस प्रकाशन अनुमोदन के लिए मैं इन सबको पूज्य महाराज-श्री की ओर से आशीर्वाद देता हूँ।

उन पाठकों के प्रति मेरा विशेष धन्यवाद है जो प्रवचनों में बुकस्टाल पर और अयोध्या आश्रम में पुस्तक लेकर जो अमृतवचन कहकर जाते हैं, वे इस प्रकाशन की प्रमुख प्रेरणा हैं।

—मैथिलीशरण

।। श्रीरामः शरणं मम।।

अनुक्रम

प्रथम

'मानस' में कुछ चरित्र ऐसे हैं, जो साधना की दृष्टि से बड़े उपयोगी हैं और उनमें से एक है अंगद का चरित्र। अंगद के चरित्र में कुछ उत्कृष्ट गुण हैं, तो उनके साथ कुछ कमियाँ भी हैं। परन्तु उनके चरित्र की यह विशेषता है कि उसमें निरन्तर विकास होता हुआ दिखाई देता है और वे क्रमशः अपनी कमियों से ऊपर उठते हुए भक्ति की चरम स्थिति तक पहुँचने में समर्थ होते हैं।

दूसरी ओर 'मानस' में कुछ चरित्रों में उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं। वे सिद्धावस्था तथा परिपूर्णता के चरित्र होते हुए भी हमारे लिए बन्दनीय तथा आदर्श तो हैं, परन्तु साधना में उन्नति के लिए जिस क्रम की आवश्यकता है, उन चरित्रों में उसका दर्शन नहीं होता है। पर कुछ ऐसे पात्र भी हैं, जिनके चरित्र में गुण तथा दोष दोनों ही पक्ष विद्यमान हैं। काकभुशुण्डिजी का चरित्र भी उनमें से एक है, जिसमें साधना की दृष्टि से क्रमिक विकास दीख पड़ता है।

अंगद के प्रारम्भिक चरित्र में कुछ कमियाँ हैं और वे उन कमियों को दूर करते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। काकभुशुण्डि के चरित्र में भी यही विशेषता है कि वे एक ऐसी स्थिति से साधना आरम्भ करते हैं, जब उनमें अनेकों दोष विद्यमान थे, पर इसके पश्चात् वे ऐसी स्थिति तक पहुँच जाते हैं कि कल्पान्त में भी उनके गुणों का विनाश नहीं होता। उनकी गणना राम भक्ति के महान आचार्यों में की गई है। उनके चरित्र से हम लोगों को आशा बँधती है। ऊँचे-चरित्रों को पढ़कर या सुनकर प्रसन्नता और आनन्द की अनुभूति तो होती है, परन्तु उसमें एक यह भय लगा रहता है कि इतनी ऊँचाई तो हमारे जीवन में नहीं

है। इतने उत्कृष्ट विचार, इतनी उत्कृष्ट भावना तो हमारे जीवन में नहीं है। साधक के जीवन में इससे एक प्रकार की निराशा सी आ सकती है कि वह इन विशेषताओं को अपने जीवन में ला पाने में समर्थ नहीं है। लेकिन जब हम ऐसे पात्रों के विषय में पढ़ते या सुनते हैं, जिनके चरित्र में हमारे ही समान अनेक त्रुटियाँ और कमियाँ विद्यमान हैं, परन्तु वे धीरे-धीरे इन कमियों से मुक्त होते हैं, तब इसके द्वारा हम लोगों को भी यह आश्वासन मिलता है कि निराश होने की कोई बात नहीं है; जिस स्थिति को इन भक्तों या पात्रों ने अपने जीवन में पाया है, उसी मार्ग पर चलकर हम भी उसे पा सकते हैं। अंगद का चरित्र ठीक इसी प्रकार का चरित्र है।

इसीलिए गोस्वामीजी इन चरित्रों पर बड़ा बल देते हैं। 'विनय-पत्रिका' में आप देखेंगे कि भगवान की कृपा का वर्णन करते समय वे उसके साथ बड़े-बड़े ऐतिहासिक पात्रों का नाम लेते हैं और अन्त में वे अपना नाम भी जोड़ देते हैं। भगवान की उदारता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं–

ऐसी कौन प्रभु की रीति?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।।
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ।।
काममोहित गोपिकनिपर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत-पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्ह।।
नेमतें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।
कियो लीन सु आपमें हरि राज-सभा मँझारि।।
ब्याध चित दै चरन मार्‌यो मूढ़मति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि।।

(वि.प.-२१४)

प्रभु राम के सिवाय अन्य किस स्वामी की ऐसी रीति है? जो अपने विरद के लिए पवित्र जीवों को छोड़कर पामरों से प्रेम करता हो? गोस्वामी तुलसीदासजी एक-एक घटना को गिनाते हुए बताते हैं कि कृष्णावतार में राक्षसी पूतना अपने स्तनों में विष लगाकर उन्हें मारने

गई थी, पर उन्होंने उसे माता जैसी गति प्रदान की; काम-मोहित गोपिकाओं पर अतुलित कृपा की; जगत के पिता ब्रह्मा ने भी आपकी चरण-धूलि ग्रहण की; जो शिशुपाल प्रतिदिन नियमपूर्वक गिन-गिनकर गालियाँ देता था, आपने उसे राज्यसभा के भीतर ही स्वयं में विलीन कर लिया; मूढ़ व्याध ने मृग समझकर आपके चरणों में तीर मारा, उसे भी आपने अपनी दयालुता की आदत के अनुसार सशरीर अपने लोक में भेज दिया।

इस प्रकार पुरातन काल के बड़े पात्रों के नाम गिनाने के बाद अन्त में इस पद की समाप्ति वे अपने नाम से करते हैं–

कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ।। (वि.प.२१४)

इस प्रकार जिन जीवों के पाप और पुण्य दोनों थे उनकी तो बात ही क्या, प्रत्यक्ष पापों के पुंज तुलसीदास को भी जिन्होंने अपनी शरण में रख लिया है।

वर्तमान में इस लम्बे कथानक को सुनकर कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि ये पात्र तो बड़े पुराने युग के हैं, हम इनसे परिचित नहीं हैं; तब वे स्वयं को और हम सभी को आश्वासन देते हुए तत्काल याद दिलाते हैं कि अन्य लोगों में तो पाप और पुण्य दोनों रहे होंगे, पर आप लोग मेरी ओर दृष्टि डालिए, वे कहते हैं–"मैं तो साक्षात् पातक-पुँज ही था, पर मुझ जैसे व्यक्ति ने भी प्रभु की कृपा प्राप्त कर ली, तो किसी व्यक्ति को निराश होने की आवश्यकता नहीं है।"

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है–'मानस' में दो प्रकार के पात्र हैं–बड़े उच्च चरित्रवाले सिद्ध पात्र और अंगद के समान ऐसे पात्र, जो विषय-परायण हैं। उनके जीवन में साधना और उसके बाद सिद्धि आती है।

अब अंगद के चरित्र के क्रमिक विकास पर चर्चा होगी। अंगद का चरित्र सर्वप्रथम किष्किन्धाकाण्ड में उस समय सामने आता है, जब भगवान श्री राघवेन्द्र बालि के ऊपर बाण चलाते हैं। और बालि गिर जाता है, तब प्रभु आकर बालि के सामने खड़े हो जाते हैं। बालि भगवान को कुछ उलाहने देता है और कुछ प्रश्न करता है। भगवान बड़े कठोर शब्दों में बालि की भर्त्सना करते हैं और इसकी अन्तिम

परिणति यह होती है कि बालि में सहसा एक परिवर्तन आता है तथा अपनी धृष्टता के लिए उनसे क्षमा माँगता है; भगवान की दया एवं करुणा की दुहाई देता है और तब भगवान की करुणा का रूप सामने आता है। भगवान बालि के मस्तक पर हाथ रख प्रस्ताव करते हैं कि वह जीवित रहे। परन्तु बालि बड़ी विनम्रतापूर्वक इस पुरस्कार को अस्वीकार कर देता है। बालि ने सोचा कि इस समय तो शरीर को त्याग देने में ही धन्यता है। लेकिन इसके साथ-ही-साथ बालि ने भगवान से कहा—प्रभो, एक रूप में तो मैं आपके धाम में जाकर मुक्ति के आनन्द का अनुभव करूँगा, परन्तु दूसरे रूप में सेवा का सुख भी पाना चाहता हूँ। इस तरह बालि ने अन्तिम क्षणों में ज्ञान और भक्ति—दोनों का सुख पा लिया। ज्ञान की चरम परिणति है मुक्ति और भक्ति का चरम लक्ष्य है—भगवान की सेवा। इस तरह बालि जब मुक्त हो जाता है, तो वह ज्ञान का चरम फल पा लेता है और जीवन के अन्तिम क्षण में अपने पुत्र अंगद को बुलाकर उसे भगवान श्रीराम के हाथ में सौंपते हुए उनसे निवेदन करता है—प्रभो, आप अंगद का हाथ पकड़ लीजिए और इसे अपने चरणों में स्थान दीजिए, सेवा का सौभाग्य दीजिए—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए।।

४/६/छं-२

भगवान श्रीराम ने अंगद को स्वीकार किया। यह 'मानस' में आनेवाला अंगद का पहला चित्र है, परन्तु आप जरा इसकी पृष्ठभूमि पर गहराई से ध्यान दें। बालि के ऊपर प्रहार, उसके बाद बालि के प्रति प्रसन्नता और तदुपरान्त बालि द्वारा किया जानेवाला अंगद का जो समर्पण है, इसमें भी साधना के विकास का ही एक क्रम प्रस्तुत किया गया है।

बालि के स्वरूप से आप लोग परिचित होंगे। 'मानस' के प्रारम्भ में ही यह बताया गया कि प्रभु ने जब नर रूप में अवतार लेने का निर्णय किया और यह आश्वासन दिया—हे मुनियो, सिद्धों, देवताओं, आप लोग डरिये मत, हम मनुष्य का रूप धारण करके पृथ्वी का भार हरण करेंगे—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा।। १/१८६/१

पर देवताओं पर इसकी प्रतिक्रिया जैसी होनी चाहिए थी, वैसी नहीं हुई। उन्होंने इसका अर्थ यह लगा लिया कि अब तो भगवान ने घोषणा कर दी है कि वे रावण का वध करेंगे, अतः कोई चिन्ता की बात नहीं है, अब हम चलकर स्वर्ग का भोग करें। देवताओं की इस मनोवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए गोस्वामीजी ने एक शब्द लिखा और उस एक शब्द में ही देवताओं का चरित्र हमारे सामने आ गया। गोस्वामीजी कहते हैं—आकाशवाणी सुनकर जब देवता लौटने लगे, तो—

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।। १/१८६/८

इस **तुरत फिरे** शब्द में ही देवताओं का चरित्र सामने आ गया। देवताओं और इन्द्र के सन्दर्भ में यह समस्या कई बार बड़े विचित्र रूप में आती है।

वाराणसी विद्या और ज्ञान का केन्द्र तो है, लेकिन परम्परा के तीव्र आग्रही लोगों की संख्या भी वहाँ कम नहीं है। उनका आग्रह तो कभी-कभी सीमा लाँघ जाता है। अभी दो वर्ष पहले की बात है। वहाँ 'मानस' का नवाह्न यज्ञ हो रहा था। किसी युवा वक्ता ने वहाँ देवताओं के लिए कुछ निन्दा के वाक्य कह दिए। इस पर वहाँ पर बैठे हुए एक वयोवृद्ध सज्जन, जो एक उच्चकोटि के वैद्य तथा वक्ता भी हैं, ने तत्काल आयोजकों को लिख भेजा कि इनका भाषण बन्द करवा दो। इसका कारण उन्होंने बताया कि यहाँ नवाह्न यज्ञ हो रहा है, जिसमें हम लोगों ने देवताओं की पूजा की है, उनका आवाहन किया है और कोई वक्ता मंच से देवताओं की निन्दा करे, तो इससे बढ़कर अपराध क्या हो सकता है? आयोजकों ने भी उसके प्रभाव में आकर उस वक्ता का भाषण रोक दिया। बाद में वह युवक वक्ता बेचारे बड़े उदास होकर मुझसे मिलने आए। मैं उस सम्मेलन में नहीं गया था, पर काशी में ही था।

जब उस युवक ने मुझे सारी बात बताई, मुझे अपने देखे तथा पढ़े हुए और भी कई प्रसंगों की याद आ गई, जहाँ देवताओं की निन्दा

की गई है। एक बड़े प्रसिद्ध विद्वान ने लिखा कि गीता अवैदिक ग्रन्थ है, क्योंकि उसमें वेदों की महिमा को कम कर दिया गया है। उनका कहना है कि श्रीकृष्ण जब यह कहते हैं कि–**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन** (२/४५) तो इसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण की वेदों पर आस्था नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने गीता को अवैदिक सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार नवाहन्यज्ञ में जिन विद्वान ने वक्ता की वक्तृत्व पर आपत्ति की उनका यह मानना है कि हमारे यज्ञों के मन्त्रों में देवताओं की स्तुति है। इन्द्र की तो बहुत ही स्तुति की गई है और यज्ञ के मुख्य वक्ता तो इन्द्र ही हैं, पर इस सन्दर्भ में उनका ध्यान 'मानस' के प्रसंगों पर नहीं गया। केवल 'मानस' ही क्यों, हमारे अन्य पौराणिक ग्रन्थों में भी यह बात आती है, परन्तु इसे सही दृष्टि से न समझ पाने के कारण ही ऐसा भ्रम होता है। श्रीमद्भागवत को ही उठाकर पढ़ लीजिए। उसमें भी आप ऐसी ही बात पाएँगे, पर उन सज्जन ने इसे वक्ता की त्रुटि मान ली। मैं तो एक ऐसे विद्वान को भी जानता हूँ, जिन्होंने इसी आधार पर गोस्वामीजी को वेद-विरोधी सिद्ध कर दिया कि उन्होंने 'मानस' में यत्र-तत्र देवताओं तथा इन्द्र की निन्दा की है या हँसी उड़ाई गई है।

वस्तुतः हमारे यहाँ जो निन्दा-प्रशंसा का क्रम है, उसके वास्तविक उद्देश्य को न समझ पाने के कारण ही ऐसी भ्रान्ति होती है। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि यदि हम मानते हैं कि यह सारी सृष्टि गुणों और दोषों से मिलकर बनी है, तो यही बात सबके साथ जुड़ी हुई है। जब किसी व्यक्ति में अनेक उत्कृष्ट गुण होते हैं, तो हम उन्हें वन्दनीय मानते हैं, उनकी पूजा करते हैं। यह तो ठीक है, पर इसके बावजूद जो उत्कृष्ट या वन्दनीय होता है, उसमें कोई कमी भी तो हो सकती है।

निन्दा और प्रशंसा दो प्रकार से की जाती है। एक तरह की निन्दा-प्रशंसा तो की जाती है द्वेष-राग या आसक्तिवश। जिसके प्रति आपका राग है, उसकी आप प्रशंसा करते हैं और वैसे ही जिसके प्रति हमारे मन में द्वेष या विरोध की भावना है, उसकी हम निन्दा करते हैं, परन्तु हमारी परम्परा के ये जो महान् ग्रन्थ हैं, इनमें जो निन्दा और

प्रशंसा है, वह वस्तुतः व्यक्तिपरक नहीं है। 'मानस' में गोस्वामीजी ने कई प्रसंगों में लिखा है कि गुण-दोष मिथ्या हैं, पर जब उन्होंने सन्त के गुण और असन्तों के दोषों का वर्णन किया, तो किसी ने कहा–महाराज, यह तो आपकी बात स्वयं अपने आप कट गई; एक ओर तो आप गुण-दोष का भेद ही मिथ्या बताते हैं और दूसरी ओर आप इतने विस्तारपूर्वक गुणों और दोषों का वर्णन करते हैं। ऐसा क्यों? इसका उत्तर आपको 'मानस' की उस पंक्ति में मिलेगा, जहाँ गोस्वामीजी कहते हैं–वस्तुतः ये जो गुण-दोष बताए गए हैं, उसका उद्देश्य यह है कि गुण को जानकर हम अपने जीवन में उसे ग्रहण करें, उनका संग्रह करें और दोषों को जानकर उसका परित्याग करें–

तेहि तें कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।। १/५/२

गुण-दोष का वर्णन केवल अपने गुण और दूसरों के दोष देखने के लिए के नहीं किया गया है, वह तो अपने ही जीवन में दोषों का त्याग और गुणों का संग्रह करने के लिए है। हमारे जीवन में तो उल्टा ही हो जाता है। दूसरों के दोष देखकर हम उनसे घृणा करने लग जाते हैं, उनकी निन्दा करने लग जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस विषय में हमारी दृष्टि भ्रान्त है, हम दूसरों का दोष देखते हैं, व्यक्ति को दोषी देखते हैं, पर यह नहीं देखते कि दूसरों का दोष-दर्शन करते हुए, निन्दा करते हुए हम स्वयं भी दोषों में लिपटे हुए हैं। वैसे ही हम गुणों की प्रशंसा तो बहुत करते हैं, पर गुणों को जीवन में लाने की चेष्टा नहीं करते। 'मानस' का तात्पर्य है कि–जब हम किसी का गुण देखते हैं, तो उद्देश्य केवल उन गुणों की प्रशंसा करना नहीं है, उद्देश्य तो उन गुणों को अपने जीवन में ले आना है। इसी प्रकार जब किसी पात्र के दोषों का वर्णन किया जाता है, तब उसका उद्देश्य भी यही रहता है कि यदि हमारे जीवन में दोष हों तो उसका परित्याग कर देना चाहिए।

ऐसी स्थिति में इन्द्र आदि देवता वन्दनीय हैं या निन्दनीय? इसका उत्तर यह है कि 'मानस' में इन्द्र आदि देवताओं की प्रशंसा भी की गई है और निन्दा भी। इसका भी उद्देश्य वही है। बालि और अंगद के चरित्र को आप इसी पृष्ठभूमि पर देखें। देवता वन्दनीय क्यों हैं?

क्योंकि हमारी मान्यता है कि जो पुण्यात्मा होते हैं, वे देवत्व को प्राप्त होते हैं। जो विश्व का श्रेष्ठतम पुण्यात्मा है, वे ही अपने समय में इन्द्र-पद को प्राप्त होते हैं। ऐसी मान्यता है कि जो व्यक्ति सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता है, उसे भविष्य में इन्द्र-पद प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि देवत्व पुण्य का परिणाम है और इन्द्र-पद पुण्य की पराकाष्ठा का परिणाम है। ऐसी स्थिति में पुण्य के साथ कुछ दोष भी होते हैं या नहीं? पुण्य में भी कुछ कमियाँ होती हैं या नहीं? बड़ी सीधी-सी बात है—जब कहा जाता है कि पुण्य से देवत्व प्राप्त होता है और उसके बाद स्वर्ग का जो वर्णन किया गया है, उसमें विस्तार से यही तो बताया है कि स्वर्ग में कितनी प्रचुर मात्रा में भोग सुलभ है; तो यह सब बताने का क्या अभिप्राय है? पुण्य के द्वारा व्यक्ति देवत्व को पाकर भले ही स्वर्ग के प्रचुर भोग प्राप्त कर ले, पर वस्तुतः देवत्व के द्वारा वह भोग को ही तो अपने जीवन का लक्ष्य बनाए हुए है। मर्त्यलोक में भोग के स्थान पर वह कोई उत्कृष्ट कर्म करके देवलोक में जाकर स्वर्ग के भोगों को भोगना चाहता है। ऐसी स्थिति में पुण्य चाहे जितना ऊँचा हो, जब उसमें भोग की वृत्ति छिपी हुई है और भोग के साथ जो समस्याएँ जुड़ी हुई हैं, वे स्वर्ग में भी आए बिना नहीं रहेंगी। इसीलिए हमारे शास्त्र बिना किसी संकोच के यह बात कह देते हैं कि पुण्य से देवत्व प्राप्त होता है, पर इसके साथ एक अन्य वाक्य भी जुड़ा हुआ है—**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति** (गीता-९/२१)। आपने पुण्य के द्वारा भोग पाया, पुण्य की पूँजी समाप्त हुई और आप पुनः स्वर्ग से नीचे की ओर ढकेल दिए जाएँगे। इसका अभिप्राय यह है कि यह देवत्व भी उत्थान और पतन के क्रम से मुक्त नहीं है। देवत्व वन्दनीय है, परन्तु इस अर्थ में नहीं कि उसमें कोई कमी नहीं है। देवता निन्दनीय भी हैं और प्रशंसनीय भी। हमें बस इतना ही सावधान रहना है कि जहाँ तक वे वन्दनीय हैं, हम उनकी वन्दना करें, यह नहीं कि कहीं पर देवता की निन्दा कर दी गई, तो हम उनकी पूजा करना ही बन्द कर दें।

जब चन्द्रमा पर पहले मनुष्य ने पैर रखा, तो किसी व्यक्ति ने उस समय एक लेख लिखा था। उसने लिखा कि अब चन्द्रमा की पूजा

बन्द कर देनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य का पैर पड़ गया, अब चन्द्रमा वन्दनीय कहाँ रह गया। मुझे तो उस लेख को पढ़कर उस लेखक की बुद्धि पर तरस आया। अरे भाई, हम लोग तो पृथ्वी की पूजा करते हैं, जिस पर दिन-रात पैर रखकर चलते हैं। यह तो बड़ा विचित्र तर्क है कि चन्द्रमा पर पैर पड़ जाने से उसकी पूजा नहीं करेंगे।

देवता पूज्य हैं, पर पूज्यता के साथ यदि उनमें कोई कमी है, तो उसे भी बताना गीता, रामायण और भागवत का उद्देश्य है। देवता दोनों पक्षों को प्रगट करते हैं। देवत्व का वन्दनीय पक्ष तो सुन्दर है ही। जब देवताओं पर अत्याचार हुआ और व्याकुल होकर उन्होंने भगवान से प्रार्थना की, तो उन्होंने प्रसन्न होकर घोषणा की कि वे अवतार लेंगे। यह देवताओं का बड़ा उत्कृष्ट और प्रशंसनीय पक्ष है। इसका अभिप्राय यह है कि देवता जब यह अनुभव करता है कि हम बुराई को मिटाने में समर्थ नहीं हैं, तो अन्त में उनकी दृष्टि भगवान की ओर जाती है और यही देवता का वन्दनीय पक्ष है। देवता और दैत्य में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि दैत्य न तो अपने आप में असमर्थता का अनुभव करता और न ईश्वर की ओर दृष्टि डालता है, पर देवत्व में जहाँ पर अपनी असमर्थता का भान है, अपनी कमी का ज्ञान है, वहीं पर दृष्टि भगवान की ओर चली जाती है। वे तत्काल ब्रह्मा के साथ मिलकर भगवान से प्रार्थना करते हैं और तब आकाशवाणी होती है। इससे बढ़कर साधना का उत्कृष्ट फल और क्या हो सकता है कि किसी की साधना से, प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान अवतार लेने की घोषणा करें। यह देवत्व का बड़ा उज्ज्वल पक्ष है, पर देवत्व का जो दुर्बल पक्ष है, वह भी समझ लेने योग्य है। उसके लिए गोस्वामीजी ने एक बड़ी सांकेतिक बात कही। बोले—

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।। १/१८६/८

यहाँ **तुरत** शब्द का अभिप्राय यह है कि वे इतने उतावलेपन से स्वर्ग की ओर जाने लगे मानो कैसे जल्दी-से-जल्दी स्वर्ग पहुँचें। यदि वे शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे जाते, तो वहाँ **तुरत** शब्द जोड़ने की आवश्यकता नहीं थी, पर इस **तुरत** शब्द के द्वारा गोस्वामीजी ने देवताओं की मनःस्थिति

को प्रगट कर दिया कि मानो वे हड़बड़ी में हों। यही देवताओं का दुर्बल पक्ष है। इसका रहस्य क्या था? यह कि प्रार्थना से भगवान प्रसन्न हो गए और रावण के वध करने का आश्वासन दिया। देवताओं को लगा कि भगवान ने तो कह दिया है कि वे रावण का वध करेंगे, अब हम लोग शीघ्र चलकर अप्सराओं का नृत्य देखें, विहार करें, अब हमें तो कुछ करना-धरना नहीं है। इसका अर्थ है कि भगवान की पूजा के बाद भी मन भोग की ओर ही लगा हुआ है। यह जो भोग की वृत्ति है, वह इस **तुरत** शब्द के द्वारा व्यक्त की गयी है। उस भगवद्‌वाणी के आनन्द को छोड़कर तत्काल अगले ही क्षण स्वर्ग के भोग और विहार के लिए व्यग्र हो जाना, उसकी भोगासक्ति को ही प्रकट करता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस पुण्य के पीछे, उस देवत्व के पीछे, जो दुर्बलता है, भोग के लिए प्रति जो तीव्र आसक्ति है, वह उनके इस **'तुरत फिरे सुर'** क्रिया के द्वारा प्रगट हो जाती है।

ब्रह्मा विवेक के देवता है। उन्होंने देवताओं को वापस बुलाया और बोले कि आप लोग इतने उतावले होकर कहाँ भाग रहे हो? देवता बोले कि महाराज, अब तो हम लोग निश्चिन्त हो गए, क्योंकि भगवान ने तो कह ही दिया है कि हम अवतार लेकर रावण का बध करेंगे। हमारे जीवन का जो लक्ष्य था, वह तो पूरा हो गया। ब्रह्मा ने कहा–तुम लोगों ने ध्यान से नहीं सुना। क्या? भगवान केवल इतना ही तो कह सकते थे कि हम रावण को मार देंगे, मिटा देंगे, परन्तु उन्होंने ऐसा तो नहीं कहा। रावण को मिटा देना भगवान के लिए कोई प्रयत्नजन्य कार्य थोड़े ही है। वे तो केवल संकल्प मात्र से ही रावण तथा समस्त राक्षसों को मिटा सकते हैं, परन्तु उन्होंने यह जो कहा कि हम अवतार लेकर रावण का वध करेंगे। तुमने उनकी इस बात पर ध्यान नहीं दिया और उनकी वाणी का दूसरा ही अर्थ ले लिया। भगवान ने यह अवश्य कहा कि हम तुम्हारी समस्या का समाधान करेंगे, पर उसमें उन्होंने एक वाक्य और जोड़ दिया है, तुम्हारे लिए हम नर का वेश धारण करेंगे–

तुम्हहि लागि धरिहऊँ नर बेसा। १/१८६/१

इसका अर्थ यह है कि उन्होंने रावण का विनाश ईश्वरीय पद्धति से न करके मानवीय पद्धति से करने का निर्णय किया है; इसलिए वे

घोषणा करते हैं कि मैं मनुष्य का रूप लेकर रावण का विनाश करूँगा, इसका अभिप्राय क्या है? जो सिद्ध सत्य था, उसको साधन का सत्य बनाने के लिए ही भगवान नर का रूप लेने वाले थे। ब्रह्माजी ने देवताओं पर व्यंग्य करते हुए कहा कि भगवान ने तो तुमसे कह दिया कि हम तुम्हारे लिए मनुष्य बनेंगे, पर तुम बताओ कि तुम क्या बनोगे? देवताओं ने कहा कि महाराज! क्या हम लोगों को भी कुछ बनना पड़ेगा? ब्रह्मा ने कहा कि समस्या ईश्वर की नहीं, तुम्हारी है; अतः जब ईश्वर नर बन रहा है, तो तुम कम-से-कम वानर तो बनो, तभी ठीक-ठीक मिलन होगा। ब्रह्मा बड़ा सूत्रात्मक आदेश देते हुए कहते हैं कि वानर-देह धारण करो–

बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ। १/१८७

समस्या तुम्हारी ही है, इसलिए तुम वानर बनोगे। इस तरह से लोक-कल्याण की समग्रता के लिए ईश्वर और जीव के मिलन की ठीक-ठीक पद्धति यही होगी। इसके साथ ही वे एक सूत्र और भी जोड़ देते हैं। कहते हैं कि बन्दर बनोगे तो पूरे बन्दर ही न हो जाना। बन्दर दोषयुक्त तो है ही, वह बड़ा कामी और भोगी होता है। ब्रह्माजी ने आदेश दिया कि स्वर्ग से नीचे उतरो, भोगों का परित्याग करो, वानर शरीर धारण करो और भगवान के चरणों की भक्ति-सेवा करो। इसका अभिप्राय यह है कि पुण्य का उपयोग भोग में नहीं, भगवान की भक्ति में करो। इस प्रकार ईश्वर जब नर बने, तब ये विविध देवता बन्दरों के रूप में आते हैं।

यहाँ एक विचित्र संकेत आता है। हमारे यहाँ की पौराणिक परम्परा से तो आप लोग भली-भाँति परिचित हैं। अब देवताओं के वानर शरीर ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं होता कि वे देवता स्वर्ग में नहीं रह जाते। उनमें एक साथ अनेक रूप बनाने की क्षमता है। एक रूप में देवता अपने-अपने मूल रूप में अपने-अपने धाम में रहते हैं और अन्य रूप में वे किसी व्यक्ति या जो भी रूप धारण करना चाहें, उस रूप में रहते हैं। इसी लंका-युद्ध के बाद देवता दो रूपों में दिखाई दे रहे हैं। रावण मारा गया। देवता फूल बरसाते हुए भगवान श्रीराम को बधाई देने के लिए आए, पर वहाँ तो बड़ा विचित्र दृश्य था। भगवान

बन्दरों से घिरे हुए बैठे उनसे विनोद कर रहे हैं। जब देवता आए, तो बन्दरों ने उन्हें भगवान के निकट पहुँचने के लिए मार्ग ही नहीं दिया। उन्हें दूर से ही खड़े होकर स्तुति करनी पड़ी। अद्‌भुत दृश्य है! देवता तो भगवान से दूर है और बन्दर बिल्कुल पास में बैठे हुए हैं। उस समय देवता जो स्तुति करते हैं, उसमें एक वाक्य आता है, देवता भगवान से कहते हैं–प्रभो! हमारे देव-शरीर को धिक्कार है–

धिग जीवन देव सरीर हरे। ६/११०/छं-९

भगवान बोले कि क्यों? आप लोग देव-शरीर की निन्दा क्यों करते हैं? आप लोगों की इच्छा पूर्ण हो गई, रावण की मृत्यु हो गई, अब और किस बात की कमी है? देवता बोले कि महाराज! आपकी भक्ति के बिना अभी भी हम लोग भोग में डूबे हुए हैं, इसलिए हमें धिक्कार है–

तव भक्ति बिना भव भूलि परे। ६/११०/छं-९

पर इसके साथ अगले वाक्य में उन्होंने अपने ही दूसरे रूप की प्रशंसा करते हुए यह भी कहा कि महाराज! धन्य तो ये वानर हैं, जो आपके समीप बैठे हुए प्रेमपूर्वक आपके मुख को निरख रहे हैं और हम दूर खड़े हुए हैं–

कृतकृत्य बिभो सब बानर ए।
निरखंति तवानन सादर ए।। ६/११०/छं-८

मानो अपने ही एक रूप की स्तुति कर रहे हैं और दूसरे रूप की निन्दा। वानर के रूप में देवता ही हैं, पर उनकी वे प्रशंसा करते हैं। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि भोगी भगवान तक पहुँचकर भी उनसे दूर हैं और जो भगवान की सेवा में संलग्न है, वे उनके अत्यधिक निकट हैं।

इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पुण्य और सत्कर्म परम उत्कृष्ट वस्तु है, पर इसके साथ-साथ उसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुण्य और सत्कर्म के द्वारा हम जीवन में क्या चाहते हैं? पुण्य के द्वारा कोई व्यक्ति प्रशंसा चाहता है, कोई भोग चाहता है और कोई वैभव चाहता है। ऐसी स्थिति में जैसे आप अपने धन से चाहे जो वस्तु खरीदने में स्वतन्त्र हैं, परन्तु क्या खरीदकर लाएँ, इसी में आपके विवेक की परीक्षा

है; वैसे ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुण्य की पूँजी के द्वारा हमने क्या पाया? पुण्य की पूँजी से भोग भी मिल सकता है। रामायण में दोनों बातें कही गई हैं कि धर्म और पुण्य से सुख मिलता है–

सुख चाहहिं मूढ न धर्मरता। ७/१०१/छं-१

और दूसरी ओर कहा गया है कि अनेक पुण्यों के संग्रह के बिना सन्तों का सान्निध्य नहीं होता–

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता। ७/४४/६

पुण्य से सुख मिलता है और पुण्य से ही सन्त की भी प्राप्ति होती है। अब ऐसी स्थिति में यदि पुण्य के बदले भोग चाहते हैं, तो मूल्यवान वस्तु के बदले जो प्राप्त करना चाहिए था, वह नहीं लिया। उस पुण्य के द्वारा यदि हम सन्त का संग या भगवान की भक्ति चाहते हैं, तभी हम पुण्य का सच्चे अर्थों में सदुपयोग कर रहे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि देवत्व का जो संकेत है, वह यह बताने के लिए है कि यह जो सत्कर्म है या जिन्हें हम देवता कहते हैं, वन्दनीय मानते हैं, पूजा करते हैं, उस पूजा के साथ-साथ जो दोष पुण्य के साथ बने रहते हैं, उनसे भी हम सावधान रहें। रामायण में ऐसा ही हुआ है।

विभिन्न देवताओं ने अपने विभिन्न अंशों से अलग-अलग बन्दरों के रूप में जन्म लिया। हनुमानजी के विषय में आपने पढ़ा होगा कि वे शंकरावतार हैं। उन्होंने स्वयं निर्णय किया कि प्रभु की सेवा और सान्निध्य का यह बड़ा सुअवसर है। शंकरजी ने सोचा कि यदि मैं किसी पक्षी के रूप में अयोध्या जाता हूँ तो निश्चित रूप से कोई न कोई पिंजरे में बंद कर लेगा। पर बंदर बनने में यह समस्या नहीं आयेगी और उन्होंने भी बंदर का स्वरूप धारण कर हनुमान रूप में सामने आये। लंका को जलाने के बाद हनुमानजी जब लौटकर प्रभु के पास आए, तो प्रभु उनकी प्रशंसा करने लगे। तब हनुमानजी ने क्या किया? वे प्रभु के मुख की ओर देखने लगे, बारम्बार देखने लगे–

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत। ५/३२

प्रभु हँसकर बोले कि हनुमान! तुम्हारी दृष्टि तो सदा मेरे चरणों पर ही रहा करती है, आज उसे छोड़कर मुख को इतने ध्यान से क्यों देख रहे हो? हनुमानजी ने कहा कि प्रभो! आप प्रशंसा तो मुख से

कर रहे हैं, इसलिए मुख को देख रहा हूँ। कैसी प्रशंसा? बोले कि जैसी प्रशंसा नारदजी की हुई, कहीं वैसी ही प्रशंसा मेरी भी तो नहीं हो रही है? इसलिए जरा देख लिया कि मुख पर भाव क्या है? प्रभु ने पूछा, तब तो तुम्हें प्रशंसा से डर लगता होगा? बोले कि नहीं महाराज, डर एक अर्थ में तो है और दूसरे अर्थ में नहीं भी है। क्यों? आपने नारदजी की व्यंग्य भरी प्रशंसा कर दी थी और उनको अभिमान हो गया था। तब आपने उन्हें बन्दर बना दिया था, पर मैं तो पहले से ही बन्दर बन गया हूँ, अब कोई चिन्ता नहीं है। वे सुन्दर थे तो अभिमान के कारण बन्दर बन गए, अब आप बन्दर को सुन्दर बनाएँगे, इसलिए मैं पहले से ही बन्दर बन गया हूँ। अभिमान व्यक्ति को नीचे ले जाता है, इसलिए मैं पहले से ही ऐसे रूप में आपके सामने आ गया, जिससे नीचे गिरने के भय से मुक्त हो सकूँ। इसलिए शंकरजी अवतरित होते हैं, हनुमानजी के रूप में, ब्रह्मा स्वयं जाम्बवानजी के रूप में और देवराज इन्द्र के अंश से बालि का जन्म होता है। सुग्रीव का जन्म सूर्य के अंश से होता है।

'मानस' तथा अन्य ग्रन्थों में भी सुग्रीव का परिचय सांकेतिक रूप से दिया गया है। यहाँ हम उस पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे। ब्रह्मा ने देवताओं को यह आदेश दिया था कि आप लोग वानर के रूप में जन्म लें और सेवा-भक्ति का व्रत लेकर भगवान के आगमन की प्रतीक्षा करें। यहाँ गोस्वामीजी ने यह बात स्पष्ट रूप से जोड़ दी है। उनके शब्द हैं—

हरि मारग चितवहिं मति धीरा। १/१८७/४

सभी देवता बन्दर के रूप में जन्म लेकर भगवान के आने का मार्ग देख रहे हैं। अब यहाँ साधना का दूसरा तत्व आता है। साधना और सत्कर्म तो ठीक है, पर रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए या आध्यात्मिक भाषा में कहिए तो मोह तथा अभिमान को जीतने के लिए क्या केवल सत्कर्म और सद्गुण ही यथेष्ट हैं या कुछ और चाहिए? इसका सूत्रात्मक उत्तर यह दिया गया कि हममें चाहें जितने सत्कर्म तथा पवित्र गुण हों, उन गुणों तथा सत्कर्मों को भगवान से जोड़ना आवश्यक है। अभिप्राय यह कि व्यक्ति के जीवन में साधना या पुरुषार्थ

और भगवत्कृपा का सामंजस्य होना चाहिए। भगवत्कृपा के नाम पर यदि व्यक्ति साधना तथा पुरुषार्थ की ओर से निष्क्रिय हो जाए, तो उसने कृपा का दुरुपयोग किया और यदि साधना और पुरुषार्थ के अभिमान में उसने भगवान को भुला दिया, तो उसने भक्ति की अवहेलना की। इसलिए जीवन में दोनों का सामंजस्य होना चाहिए।

यही सूत्र यहाँ पर भी है। ब्रह्मा ने देवताओं को आदेश दिया कि आप लोग वानर के रूप में जन्म लेकर भक्तिपूर्वक भगवान की प्रतीक्षा करें और जब वे आकर लंका पर चढ़ाई करें, तो उनके पीछे चलते हुए युद्ध करें। लंका में भगवान की विजय होगी। साधना का भी यही क्रम है। सत्कर्म में जो अभाव है, उसे दूर करने के लिए हम भगवान से प्रार्थना करें। उनकी कृपा पाने के लिए हम साधना करते हुए निरन्तर भगवान की प्रतीक्षा करते रहें।

सबसे अनोखे तो हनुमानजी निकले। उन्होंने स्वयं रावण या कुम्भकर्ण से युद्ध नहीं किया। उनकी शक्ति व सामर्थ्य का वर्णन पढ़कर तो लगता है कि हनुमानजी के जैसा बलवान तो कोई था ही नहीं। पर उनके चरित्र का तत्त्व क्या है? वे अपने बल का उपयोग तभी करते हैं, जब प्रभु मिल जाते हैं और जब वे उन्हें यह काम सौंपते हैं। अभिप्राय यह कि हनुमानजी भगवत्प्राप्ति के बाद भगवान के यन्त्र के रूप में, भगवान जैसी प्रेरणा देते हैं, उसी रूप में महान कार्य सम्पन्न करते हैं।

इन बन्दरों में बालि ही एक ऐसा था, जिसका व्यवहार इससे भिन्न हुआ। वह भगवान के आने की प्रतीक्षा न करके, पहले से ही शक्ति-प्रदर्शन करने लगा। वह बड़े-बड़े वीरतापूर्ण कार्य करने लगा और सचमुच ही उसने अपने जीवन में बड़े अनोखे कार्य कर दिखाए। आप पढ़ते हैं कि रावण और बालि में संघर्ष हुआ और बालि ने रावण को हरा दिया। मायावी राक्षस ने बालि को चुनौती दी और बालि ने उसे उसके साथियों सहित मार डाला। इसका अर्थ यह है कि बालि एक ऐसे योद्धा के रूप में आता है, जो दुर्गुण-दुर्विचारों को हराने में समर्थ है। लेकिन हम इस विजय को किस अर्थ में लें? कुछ लोग कहते हैं कि हम जीवन में सत्कर्म करें, ईश्वर की क्या आवश्यकता है? कई लोगों

की मान्यता है कि सत्कर्म ही सब कुछ है, ईश्वर की अपेक्षा नहीं है, पर मानस का दृष्टिकोण ऐसा नहीं है। कहीं ऐसा न हो जाए कि हम ईश्वर की अवहेलना करके मात्र अपने पुरुषार्थ के द्वारा दुर्गुणों के खिलाफ युद्ध करने लग जाएँ। इससे हम दुर्गुणों को दबा भले ही लें, पर उन्हें मिटा नहीं सकते। इन दोनों में अन्तर है। दवा के द्वारा रोग दबाया गया या रोग मिटाया गया? कुछ दवाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें आप खा लेते हैं और थोड़ी देर के लिए पीड़ा की अनुभूति मिट जाती है। सिरदर्द की गोली आपने खा ली और सिरदर्द की अनुभूति कुछ क्षणों के लिए दब गई।

तात्पर्य यह कि दो शैलियाँ हैं—एक तो बुराइयों को दबाने की और दूसरी बुराइयों को मिटाने की। सही पद्धति तो केवल रोग को दबाना नहीं, बल्कि उसे मिटाना है। यहाँ बालि के चरित्र में जो संकेत आता है कि उसने रावण को हरा तो दिया, पर उसे मिटाया नहीं। बड़ी सांकेतिक भाषा है। उसने रावण को हराकर उसे बगल में दबा लिया। यह 'दबा लेना' शब्द बड़े महत्त्व का है। इसका अर्थ यह है कि एक समय उसने जीवन में बुराई को दबा लिया। याद रखिए रोग या बुराई के दब जाने से निश्चिन्त होने की बात नहीं हैं, बल्कि वह और खतरनाक है, क्योंकि रोग की अनुभूति होती रहे तो रोगी पथ्य करता है, सावधान रहता है; पर यदि वह कोई ऐसी दवा ले ले, जिससे कुछ काल के लिए पीड़ा की अनुभूति बिल्कुल ही गायब हो जाए, तब तो मनुष्य के मन में निश्चिन्तता आ जाएगी। कई लोग लाचारीवश ऐसा करते ही रहते हैं। पीड़ा हुई तो गोली खा ली, किसी तरह उसे दबाने की चेष्टा करो।

बालि की पद्धति में सबसे दोषपूर्ण बात यह है कि वह पाप को मिटाने की नहीं, बल्कि दबाने की चेष्टा करता है। रोग को दबाने की यह पद्धति बड़ी घातक है। जब तक पाप नहीं मिट जाता, व्यक्ति के मन में पाप की वृत्ति बनी हुई है, तब तक उसे पाप से सतत सावधान रहना होगा। पर यदि वह बालि के समान पाप और मोह को दबा लेगा, तो उसका वही परिणाम होगा, जो आगे चलकर बालि के जीवन में दीख पड़ता है।

मोह को दबा लेना बड़ा कठिन भी है और सरल भी। इसी कारण रावण के सन्दर्भ में भी बड़ी अनोखी बात कही गई है। एक ओर तो यह कहा गया है कि रावण ने सारे संसार को जीत लिया है और दूसरी यह भी बात आती है कि रावण को तो बालि ने हरा दिया, सहस्रार्जुन ने हरा दिया। अंगद जब रावण की सभा में जाते हैं, तो सारी पुरानी कथाएँ दुहरा देते हैं। वे पूछते हैं कि तुम कौन से रावण हो—

बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला।।
खेलहिं बालक मारहिं जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई।।
एक बहोरि सहसभुज देखा। धाई धरा जिमि जन्तु बिसेषा।।
कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा।।
६/२३/१३-१६

और अन्त में व्यंग्य करते हुए बोले—

एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख।
इन्ह महुँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माख।। ६/२४

यहाँ विरोधाभास है। रावण विश्वविजेता है। इतने लोगों से हारकर तो उसे विजेता की उपाधि नहीं मिलनी चाहिए थी, पर जीवन का सत्य यही है। यह केवल बालि, सहस्रार्जुन या पाताललोक के बालकों का ही नहीं, बल्कि हमारे आपके जीवन का सत्य भी है। क्या हमारे आपके जीवन में भी तो कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जब हम थोड़े समय के लिए लोभ छोड़ देते हैं, काम से मुक्त हो जाते हैं, क्रोध पर नियन्त्रण कर लेते हैं, मोह की वृत्ति को दबा लेते हैं। यह बात तो हर व्यक्ति के जीवन में होती है। क्या क्रोधी निरन्तर क्रोध ही करता रहता है? क्या कोई ऐसा कामी है, जो निरन्तर काम में लिप्त रह सके? इसका सीधा तात्पर्य यह है कि भले ही हम क्षणभर के लिए काम को हरा दें, कुछ देर के लिए लोभ पर विजय पा लें और उस क्षण को हम इतना महत्वपूर्ण समझें तथा उतने से ही मान लें कि हमने तो शाश्वत विजय पा ली। नारदजी के मन में गर्व हुआ कि मैंने काम-क्रोध-लोभ को जीत लिया। पर काम जब उनके चरणों में प्रणाम करके चला गया, तो आगे चलकर हम देखते हैं कि भगवान ने नारदजी के जीवन में काम को भी ला दिया, क्रोध को भी ला दिया, लोभ को भी ला दिया और मद,

मोह तथा ईर्ष्या भी ला दी। मानो वे बताना चाहते थे कि नारद कभी किसी पवित्र काल में, पवित्र स्थान में बुराइयों को तुमने एक क्षण के लिए जीत लिया है, तो यह मत समझ बैठो कि बुराइयाँ सदा के लिए मिट गईं? बल्कि नारदजी ने उल्टा ही तर्क दिया था। किसी ने उनसे कहा कि महाराज! केवल आप ही नहीं, शंकरजी भी तो कामजयी हैं। नारदजी ने कहा कि होंगे, पर उनमें और मुझमें बड़ा अन्तर है। क्या? बोले कि शंकरजी ने तो क्रोधपूर्वक काम को जला दिया, पर मैंने उसे क्षमा कर दिया। अब बोलो, क्रोध से जला देनेवाला महान है या क्षमा कर देनेवाला? बुराई को क्षमा कर देना! जब हम सहिष्णु होकर जीवन में बुराई को क्षमा करने के लिए तैयार रहते हैं, तो चाहे व्यवहारिक जगत में हो या पारमार्थिक जगत में, चाहे समाज के सन्दर्भ में हो या व्यक्ति के, इस सहिष्णुता का परिणाम तो बड़ा उल्टा होगा। शंकरजी की कला बड़ी सुन्दर है। वे बोले कि नहीं, नहीं, इसे तो जलाना ही चाहिए, मिटाना ही चाहिए।

रामायण में जो कहा गया कि सारे संसार में रावण का राज्य था, तो इसका अभिप्राय क्या है? यह कि जीवनभर हम मोह के शासन में रहें और घण्टे भर के लिए मोह से मुक्त हों, उसे मोह का राज्य ही तो कहा जाएगा। अब आप कथा में आए हुए हैं, तो यही मानना होगा कि इस समय आप मोह से मुक्त हैं, पर प्रश्न है कि मोह मिट चुका है या दबा हुआ है? ज्योंही हम यहाँ से उठकर जाते हैं, वह फिर हम पर सवार हो जाता है, भले ही वह बगल में दबा हुआ चला जाए।

बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। ७/६१

सत्संग में मोह भागता तो है, पर मरता नहीं। इसीलिए 'मानस' में 'बहुकाल' शब्द भी जोड़ दिया गया। सत्संग से कुछ समय के लिए तो मोह भागेगा, पर वह न जाने कब लौट आए। दीर्घकाल तक सत्संग करने से ही मोह भंग होगा—

तबहिं होइ सब संसय भंगा।
जब बहुकाल करिय सत्संगा।। ७/६०/४

मोह का भागना और मोह का भंग होना, दोनों में पार्थक्य

है। बालि के हाथों रावण की पराजय को लोगों ने बड़ा महत्त्व दिया। स्वाभाविक भी है, क्योंकि रावण सबको हरा देता था। पर इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि एक क्षण ऐसा भी आया जब मोह सत्कर्म के सामने पराजित हो गया। पर इसमें व्यंग्य क्या है? बालि ने रावण को हरा तो दिया, पर मारा नहीं, अपितु उसे अपनी बगल में दबा लिया। कब तक? छह महीने तक उसे अपने बगल में दबाए संसार की परिक्रमा करता रहा। उसका क्या उद्देश्य था? पुण्यात्माओं में पायी जानेवाली वही दुर्बलता! बालि ने मोह को परास्त करने में सफलता तो पा ली, पर उसे लगा कि मेरे इस महान विजय को तो किसी ने देखा नहीं। यदि मैं लोगों से कहूँ कि मैंने रावण को हरा दिया, तो पता नहीं लोग विश्वास करेंगे या नहीं, इसलिए बगल में प्रमाण-पत्र दबाए घूम-घूमकर दिखा रहा था कि देख लो, मैं कितना बड़ा पुण्यात्मा हूँ, मैंने बुराई को परास्त कर दिया है। उसने रावण रूपी बुराई को मिटाया नहीं, बगल में दबा लिया है और साथ ही उसका प्रदर्शन भी चल रहा है।

इसके बाद बालि ने रावण को मित्र बना लिया और वह जाकर लंका में शासन करने लगा। कैसा अनोखा व्यंग्य है? रावण जहाँ का तहाँ! शासन तो बालि नहीं, रावण ही करता है। ऐसी स्थिति में रावण को हराकर बालि को अभिमान भले ही हो गया हो, आत्मसन्तोष भले ही मिल गया हो, पर रावण का कुछ नहीं बिगड़ा। रावण तो अपने स्थान पर यथावत है। तात्पर्य यह है कि मोह को मिटाना बड़ा कठिन कार्य है।

इन्द्र के जितने रूप हैं, उन सबमें यह दुर्बलता पग-पग पर दिखाई देती है। यह दुर्बलता है, इन्द्र के चरित्र में अभिमान तथा ईर्ष्या की वृत्ति। जहाँ पर सत्कर्म है, वहाँ अभिमान की आशंका बनी रहती है और ईर्ष्या की वृत्ति! आप अपने सत्कर्म के द्वारा किसी उच्च पद को पा लें, तो इसके साथ यह भय भी बना रहेगा कि कहीं आपको इस पद से हटना न पड़े। दूसरा भय यह कि हमारे पद पर कोई दूसरा न बैठ जाए। बेचारे इन्द्र इस भय से मुक्त नहीं हो पाते। ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, जिनमें इन्द्र की यह दुर्बलता प्रकट होती है। यह मानो

भोग, सत्ता और पद के सहज-स्वाभाविक दोष हैं, जो इन्द्र के चरित्र में दिखाई देते हैं। और इसी का प्रतिबिम्ब बालि के चरित्र में है। आगे चलकर हम यही पाते हैं कि बालि अपने सिंहासन पर सुग्रीव को बैठा हुआ देखकर आग-बबूला हो जाता है। इसका तात्त्विक अभिप्राय यही है कि इन्द्र के रूप में भी यदि वह किसी अन्य को पुण्य करते हुए देखता है, तो ईर्ष्या से जल उठता है। पुराणों में ऐसी कई कथाएँ आती हैं। कोई यज्ञ करने चला, तो इन्द्र ने घोड़ा चुरा लिया या यज्ञ में बाधा डाल दी। यह ईर्ष्या-वृत्ति भी इन्द्र में दिखाई देती है।

श्रीमद्भागवत और रामायण दोनों में इन्द्र और देवताओं के इस पक्ष को रखा गया है। भागवत की कथा आपने सुनी होगी—ब्रजवासी इन्द्र की पूजा किया करते थे। एक बार भगवान श्रीकृष्ण ने पूछा कि यह इतनी बड़ी तैयारी किसलिए हो रही है। लोग बोले कि हम लोग इन्द्र की पूजा करते हैं, उसी की हो रही है। भगवान ने ऐसा भाषण दिया कि उन लोगों के मन में यह बात आ गई कि अब हम इन्द्र की पूजा छोड़कर गिरिराज गोवर्धन की पूजा करेंगे। श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा बन्द करा दी। भगवान का उद्देश्य क्या किसी की पूजा बन्द कराना था? यदि इन्द्र की पूजा हो रही थी, तो होने देते। परन्तु यह तो इन्द्र पर भगवान की महती कृपा है।

एक तो ईर्ष्या के कारण पूजा बन्द कराई जाती है कि भगवान को इन्द्र से ईर्ष्या हो जाए कि उनकी पूजा क्यों हो रही है? पर भगवान क्या चाहते हैं? यह प्रसंग साधारण दृष्टि से देखने पर तो द्वेषपरक लगता है, पर यह भगवान की इन्द्र पर सबसे बड़ी कृपा है। इससे इन्द्र के स्वभाव का वह दोष प्रकट हो गया। ज्योंही इन्द्र को पता चला कि ब्रजवासी मेरी पूजा बन्द करके पर्वत की पूजा कर रहे हैं, तो वे क्रोध में उन्मत्त हो गए, अच्छा! यह छोटा-सा बालक कृष्ण इतना ढीठ हो गया है? भगवान पर भरोसा होना इतना आसान नहीं है। इन्द्र जैसे बड़े बड़े लोग भी उनकी महिमा भूलकर भ्रम में पड़ जाते हैं।

रामायण में भी इन्द्र के सन्दर्भ में यही बात आती है। इन्द्र ने भगवान राम के लिए रथ कब भेजा? जब कुम्भकर्ण मारा गया, मेघनाद मारा गया, बड़े-बड़े योद्धा मारे गए और रावण से भगवान की पहले

दिन की लड़ाई समाप्त हो गई, तब कहीं जाकर इन्द्र ने रथ भेजा। इतना विलम्ब करने के पीछे इन्द्र का मनोविज्ञान क्या है? वही अभिमान और संशय। इन दोनों से मुक्ति पाना बड़ा कठिन है। ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास हो जाए, रंचमात्र संशय न रह जाए, अभिमान न रह जाए। इसी अभिमान और संशय के कारण इन्द्र रथ भेजने में विलम्ब करते हैं। संशय क्या है? इन्द्र स्वर्ग में बैठे निरन्तर युद्ध को देख रहे हैं। राम और रावण का युद्ध चल रहा है, पर अभी तक इन्द्र को राम की महिमा पर पूरी आस्था नहीं है। युद्ध में तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते देखकर इन्द्र को लगता है कि कहीं रावण ही तो नहीं जीत जाएगा? ऐसा न हो कि हम रथ भेज दें और रावण बाद में हमारी खबर ले कि अच्छा, तुमने भी रथ भेजा था? इसलिए उन्होंने रथ नहीं भेजा, पर जब देख लिया कि अब तो निश्चित रूप से श्रीराम की विजय हो रही है और वे ऐसे भी जीत ही जाएँगे, तब सोचने लगे कि अब यदि रथ नहीं भेजेंगे तो कहने को हो जाएगा कि इस महान युद्ध में इन्द्र ने भगवान को कोई सहयोग नहीं दिया।

रामायण में दिखाई देता है कि इन्द्र का चरित्र कितना संशयात्मा है। इसके साथ ही वे अभिमानी भी कम नहीं हैं। यदि कोई कहता भी कि आप श्रीराम के लिए रथ क्यों नहीं भेजते? तो उनका उत्तर होता कि श्रीराम को यदि रथ की जरूरत हो, तो उन्हें मुझसे माँगना चाहिए था, मेरे पास सन्देश भेजना था। कहा गया है कि राम बड़े संकोची हैं, तो इन्द्र ने तर्क दिया कि जब वे केवट जैसे छोटे-से व्यक्ति से नाव माँगने में संकोच नहीं करते, तो मुझसे रथ माँगने में कैसा संकोच? क्या मैं केवट से भी गया-बीता हूँ? यह है इन्द्र की वृत्ति।

फिर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा पूजा बन्द करा देने पर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया, अच्छा, तो यह बालक मेरी पूजा बन्द कराकर एक पहाड़ की पूजा करा रहा है? वेदों में तो गोवर्धनपूजा के नहीं, मेरी ही पूजा के मन्त्र हैं।' इन्द्र क्रोध से उबल रहे हैं, पर भगवान तो उन पर कृपा करके उनका अभिमान दूर कर रहे थे। इन्द्र यदि भावुक होते, तो समझ जाते कि सचमुच व्यक्ति बड़ा नहीं है। भगवान पर्वत की पूजा क्यों करा रहे हैं? वस्तुतः पूज्य तो ईश्वर हैं और वे अपने संकल्प से चाहे

जिसे पूज्य बना देते हैं। व्यक्ति में अपनी पूज्यता कुछ भी नहीं होती। यदि इन्द्र में यह वृत्ति आती, तो वे धन्य हो जाते।

शंकरजी के मन में तो यही वृत्ति आई। भगवान राम ने जब रामेश्वर में उनकी मूर्ति स्थापित करके पूजा की, तो पार्वती ने पूछा कि महाराज, रावण की पूजा लेने तो आप लंका चले जाते हैं, लेकिन भगवान राम ने पूजा की, तो आप पूजा लेने नहीं गए और उन्हें मूर्ति बनाकर पूजा करनी पड़ी। रावण चैतन्य की पूजा करता है और श्रीराम को जड़ मूर्ति की पूजा करनी पड़ी। यह क्या बात है? शंकरजी ने हँसकर कहा कि पार्वती तुम समझी नहीं। रावण तो मुझ चैतन्य को देखकर भी चैतन्य रूप में नहीं देख पाता, लेकिन हमारे प्रभु तो इतने बड़े हैं कि वे जिस पत्थर को छू दें, वही शंकर बन जाता है। उन्हें मेरी जरूरत नहीं है, वे तो जिस कण को स्पर्श कर देंगे, वही शंकर हो जायेगा।

इन्द्र भी भगवान शंकर की तरह यह अर्थ ले सकते थे कि भगवान जिसकी पूजा करना चाहें, वह पूज्य हो जाता है, परन्तु अभिमान के कारण वे क्रोध में भरकर सारे ब्रज को नष्ट करने पर तुल गए। उन्होंने सारे मेघों को आज्ञा दी कि घोर वर्षा करके ब्रज को डुबा दो। तब भगवान श्रीकृष्ण ने गोवर्धन धारण कर ब्रज की रक्षा की। यह भक्तों की रक्षा तो थी ही, पर वहाँ साधना का एक क्रम है। भगवान ने अपनी कनिष्ठिका अँगुली पर गोवर्धन को उठाया, पर ग्वाल-बालों से कहा कि तुम लोग भी अपनी लठिया और अपने-अपने हाथ लगा दो। यह साधन और कृपा का सामंजस्य है। भगवान के ऊपर विश्वास के साथ-साथ भगवान के आदेश से स्वयं भी सेवा कार्य करना। यह अभिमान ही तो इन्द्र का दोष था। जब वर्षा से ब्रजवासियों का कुछ भी नहीं बिगड़ा, तब वे अपना अभिमान छोड़कर भगवान के चरणों में गिर पड़ते हैं। इन्द्र की समस्या यही है। उन्होंने रथ भेजा, तो स्वयं भेजा, प्रभु ने नहीं मँगाया। उन्हें रथ की क्या जरूरत? पर जब इन्द्र ने भेजा, तो प्रभु ने उसे स्वीकार किया। यही है उनकी महानता और साधना का भी यही सत्य है।

आपके लिए यदि कोई समय पर सवारी न भेजकर बाद में भेजे, तो आप बिगड़कर कहेंगे कि ले जाओ अपनी गाड़ी, हमें नहीं चाहिए।

हजार में से नौ सौ निन्यानवे लोग यही जवाब देंगे। लेकिन जब इन्द्र का रथ आया, तो आवश्यकता न होते हुए भी भगवान ने उसे स्वीकार किया। यह नहीं कहा कि ले जाओ अपना रथ, हमें नहीं चाहिए। भगवान तो प्रसन्न होकर बोले कि यह रथ क्या इन्द्र ने भेजा है? स्वागत है। और वे उस रथ पर बैठ गए। भगवान का अभिप्राय मानो यह था कि भाई, सत्कर्म में कुछ-न-कुछ कमियाँ तो रहती ही हैं, पर उसका यह अर्थ नहीं कि उस पुण्य या सत्कर्म का, उस सेवा का हम तिरस्कार करें। केवल अभिमान ही तो बाधक था, यदि वह हट गया, तो ये जितने सत्कर्म तथा सद्गुण हैं, उन्हें जीवन में स्वीकार करना चाहिए। भगवान राम ने इन्द्र के रथ को स्वीकार किया और उस रथ पर बैठकर रावण से युद्ध किया। दोनों का सन्तुलन बना हुआ है। सत्कर्म में अभिमान का मिटना भी जरूरी है और अभिमानरहित सेवा को स्वीकार कर उसका सदुपयोग करना भी अपेक्षित है। बाद में तो बेचारे इन्द्र बड़े लज्जित हुए। वे तो ग्लानि में डूबते जा रहे थे कि इतने दिनों तक मैंने रथ नहीं भेजा, केवल युद्ध के अन्तिम दिन के लिए ही रथ भेजा। पता नहीं भगवान मेरे बारे में क्या सोच रहे होंगे? पर प्रभु तो बड़े उदार हैं न! युद्ध समाप्त हो जाने पर इन्द्र ने बड़े लजाते हुए आकर प्रभु को प्रणाम किया। बोले कि महाराज! कोई सेवा हो तो बताइए। प्रभु ने तत्काल सेवा बता दी। कहा कि इन्द्र, तुम तो बड़े सुजान हो। इन बन्दरों ने मेरे लिए प्राण त्यागे हैं। इन्हें जीवित कर दो—

मम हित लागि तजे इन्ह प्राना।
सकल जिआउ सुरेस सुजाना।। ६/११३/२

सुजान! इन्द्र की उपाधि में बड़ा परिवर्तन आता रहता है, कोई ठिकाना नहीं कि कब उन्हें सुजान बना दिया जाएगा और कब अजान। इसके पहले उनके लिए कहा गया है कि जैसे मूर्ख कुत्ता अपनी सूखी हड्डी को लेकर भागता है—

सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज। १/१२५

और अब यह उपाधि दी जा रही है। कभी-कभी श्रीराम की ओर से गोस्वामीजी इन्द्र की आलोचना भी करते हैं। भगवान राम जब दुल्हे के वेश में आए और इन्द्र उनका दर्शन करने आए, तो गोस्वामीजी ने

प्रसन्न होकर वही उपाधि दे दी–

रामहि चितव सुरेस सुजाना। १/३१६/६

सुजान इन्द्र! इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जब इन्द्र अपने सत्कर्म और पुण्य का उपयोग भोगों में करते हैं, ईर्ष्या तथा अभिमान में करते हैं, तब वे अयाने हैं और जब भक्ति में करते हैं, भगवान की सेवा में करते हैं, तब इससे बढ़कर सयानापन और क्या होगा? भगवान बोले कि इन्द्र, तुम तो बड़े सुजान हो; इन बन्दरों को जीवित कर दो। पार्वतीजी ने बड़े विस्मय के साथ शंकरजी से पूछा कि महाराज, भगवान राम ने इन्द्र से क्यों कहा? क्या वे बन्दरों को स्वयं जीवित नहीं कर सकते थे? भगवान शंकर हँसते हुए बोले कि इन बन्दरों की क्या? वे तो तीनों लोकों को मार और जिला सकते हैं, लेकिन वे इन्द्र को बड़प्पन देना चाहते हैं–

प्रभु सक त्रिभुअन मारि जिआई।
केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई।। ६/११३/४

यह एक नई बात, बड़प्पन छीनना नहीं, अभिमान छीनना। भगवान कहते हैं कि इन्द्र अभिमानरहित होकर ऐसी सेवावृत्ति से अमृत की वर्षा करे, जिससे ये जितने साधन मरे पड़े हैं, वे सब जीवित हो उठें। गोस्वामीजी के शब्दों में ये वानर साधन हैं। इससे बड़ा इन्द्र के अमृत का सदुपयोग नहीं हो सकता।

जिन तत्वों के कारण देवताओं की निन्दा और प्रशंसा की गई है, वे ही तत्त्व इन्द्र के अंश से जन्मे बालि में भी हैं। अभिमान तथा प्रदर्शन की वृत्ति के कारण ही वह रावण से युद्ध कर उसे पराजित करता है और उसे बगल में दबाए हुए सारे संसार में घूमता रहता है। क्या उसे ब्रह्मा की बात याद नहीं थी कि भगवान अवतार लेंगे? बिल्कुल याद थी। रामायण में आप पढ़ते हैं कि तारा के रोकने पर बालि ने कहा था कि राम साक्षात् भगवान हैं। इसका अर्थ है कि बालि को पता था कि भगवान अवतार लेंगे। लेकिन भगवान के अवतार के पहले ही रावण को हराने में भी उसकी वही अभिमान की वृत्ति थी कि ब्रह्माजी ने कहा है कि श्रीराम के साथ जाकर रावण को हराना, पर यदि मैं श्रीराम के साथ जाकर रावण को हरा भी दूँगा, तो कीर्ति तो

राम की ही होगी, हमें तो कोई विजेता मानेगा नहीं। दूसरी ओर भगवान अपनी कीर्ति को बाँटने के लिए इतने व्यग्र हैं कि युद्ध समाप्त होते ही वे बन्दरों से कहते हैं कि तुम्हारे बल से ही मैं रावण को मार सका–

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्यो। ६६/११८/४

इन्द्र तो बेचारे लज्जा में गड़ गए। सोचने लगे कि मैं तो समझ रहा था कि सारा यश-कीर्ति वे स्वयं ले लेंगे। इस तरह इन्द्र का अंश होने के नाते बालि के जीवन में वे सारे दोष विद्यमान थे, जो पुण्य तथा सत्कर्म के साथ जुड़े हुए हैं। लेकिन बालि ने उन दोषों को मिटाकर अपने जीवन में ज्ञान और भक्ति का चरम फल पाया; ज्ञान के द्वारा मुक्ति का और अंगद के समर्पण के माध्यम से जो महानतम कार्य बालि के द्वारा हुआ, वह भक्ति का फल पाया।

भगवान बालि से बोले कि तुम जीवित रहो और सेवा करो। बालि ने कहा कि महाराज, मैं इस अभिमानी शरीर से सेवा नहीं करूँगा। इस देह से मुझे अब मुक्ति दें। तब? यह मेरा पुत्र मेरा ही रूप है, मेरे ही समान बली है, इसे रख लीजिए। और इसके साथ बालि ने एक शब्द और जोड़ दिया कि मेरा पुत्र मेरे ही समान बलवान तो है, पर एक अन्तर है, मुझमें बल के साथ अभिमान था और इसमें बल के साथ विनय है–

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ। ४/६/छ.

अंगद बालि के अंश से जन्म लेता है, इसका अभिप्राय यह है कि वह पुण्य और सत्कर्म का प्रतीक तो है ही, पर इस सद्गुण और सत्कर्म जो अभिमान था, जिस अभिमान से बालि बड़ी कठिनाई से मुक्त हो पाया, जिससे मुक्त करने के लिए भगवान को प्रयास करना पड़ा, उस अभिमान के दोष से अंगद पहले से ही मुक्त है। यह अभिमानरहित पुण्य और सत्कर्म का चरित्र है, बालि के द्वारा समर्पित चरित्र है, पर इसके बावजूद अंगद के चरित्र में कुछ दुर्बलताएँ हैं, पर धीरे-धीरे अंगद का चरित्र निखरता है, बड़ा ऊपर उठता है।

⇔

।। श्री रामः शरणं मम।।

द्वितीय

निज उरमाल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ।। ७/१८ (ख)

उपरोक्त दोहे में अंगद का परिचय 'बालितनय' के रूप में दिया गया। 'मानस' में अंगद के सन्दर्भ में जितनी भी पंक्तियाँ आई हैं, उन सबमें यह बात आपको स्पष्ट दिखेगी कि अंगद के लिए जिस शब्द का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है, वह है **'बालितनय'**। यह बात अपने आप में कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है, क्योंकि परम्परा यह है कि जब हम किसी व्यक्ति का स्मरण किसी प्रसंग में करते हैं, तो यदि उसकी निन्दा या आलोचना करनी हो तो उसका सम्बन्ध हम ऐसे व्यक्ति से जोड़ते हैं, जो बुरा हो और जब किसी व्यक्ति की प्रशंसा करना चाहते हैं, तो उसका सम्बन्ध किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से जोड़ते हैं। 'मानस' में भी इसी पद्धति का प्रयोग किया गया है। सतीजी के प्रसंग में भी और कैकेयी के प्रसंग में भी आपको इसी शैली का प्रयोग मिलेगा। जब सतीजी की प्रशंसा करनी होती तो गोस्वामीजी याद दिलाते हैं कि भगवान शंकर की प्रिया हैं, शिव जी की पत्नी हैं, परन्तु जब उनकी निन्दा करनी होती है, या उनके किसी दोष के कारण कवि रुष्ट होता है, तब उनका स्मरण शिव की पत्नी के रूप में नहीं, बल्कि दक्ष की पुत्री के रूप में किया जाता है। आप कई प्रसंगों में, कई जगह यही बात पाएँगे। जब वे भगवान शंकर के साथ कथा सुनने के लिए चलीं, तो गोस्वामीजी ने कहा कि भवानी। 'भव' शंकरजी का नाम है–

संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।। १/४७/२

पर वहाँ जाकर भी अभिमान के कारण कथा नहीं सुन पाई, तो गोस्वामीजी ने उपेक्षा भरे स्वर में कहा कि ये भवानी नहीं हैं तो कौन हैं? बोले कि दक्षकुमारी हैं–

मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी।
चले भवन सँग दच्छकुमारी।। १/४७/६

आगे भी शंकरजी द्वारा बारम्बार समझाने की चेष्टा के बावजूद जब वे नहीं समझ पातीं, उनकी बात को अस्वीकार करके भगवान की परीक्षा लेने के चल पड़ती हैं। तब शंकरजी के मन में यह नहीं आता कि मेरी पत्नी का कल्याण नहीं होगा, बल्कि आता है 'दक्षपुत्री' का भला नहीं होगा–

इहाँ संभु अस मन अनुमाना।
दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना।। १/५१/५

श्रीमद्भागवत में भी इसी ओर संकेत किया गया है और 'मानस' में भी। जिस समय सतीजी अत्यन्त दुखी है, उस समय उन्हें दक्ष के साथ जोड़ा गया है–

एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी।
अकथनीय दारुन दुखु भारी।। १/५६/१

दक्षकन्या दुःख में डूबी हुई हैं। बड़ा स्वाभाविक प्रयोग है। अभिप्राय यह है कि शिव जी की पत्नी दुःख में डूबें, यह तो सम्भव ही नहीं है। वस्तुतः वे दक्षपुत्री के रूप में ही दुःख में डूबी हुई हैं। यहाँ पर गोस्वामीजी ने **'प्रजेसकुमारी'** शब्द का प्रयोग किया। दक्ष को 'प्रजेस' कहा। प्रजेस अर्थात् प्रजा का स्वामी। तात्पर्य यह कि सारी प्रजा का दुःख इतना अधिक है कि वह निरन्तर दुःख का ही अनुभव करता रहता है। इसलिए जो प्रजेश है, उसकी कन्या भी उसी मनःस्थिति में है। सती दक्ष के यज्ञ में जाना चाहती हैं, शंकर जी रोकते हैं, पर सती नहीं मानतीं। वहाँ पर गोस्वामी जी यही दुहराते हैं–

कहि देखा हर जतन बहु रहइ न दच्छकुमारि।। १/६२

शंकरजी ने बड़ा समझाया, पर दक्षकुमारी मानने को राजी नहीं हुई। इस प्रकार जब उन्हें दक्ष से जोड़कर दक्षपुत्री के रूप में उनका उल्लेख होता है, तब उनकी निन्दा ही लक्ष्य है। इसी तरह कैकेयी के

प्रसंग से आप परिचित हैं। जब उनकी प्रशंसा करनी होती है, तब उनके लिए सम्बोधन है–**'भरतमातु'** (२/१४) 'भरत की माता' और जब निन्दा करनी होती तो कहते हैं-**'कैकयनंदिनि'** (२/६१) 'कैकय राजा की पुत्री'। आप जानते हैं कि रावण विश्रवा मुनि का पुत्र था, पर 'मानस' में रावण का परिचय उनके पिता के नाम से कभी नहीं दिया गया। गोस्वामीजी को लगता है कि एक महामुनि के पुत्र के रूप में रावण का उल्लेख तो स्वयं महामुनि का अनादर होगा। यह शैली आपको 'मानस' में सर्वत्र दिखाई देगी।

ऐसी स्थिति में **बालितनय** के रूप में अंगद का परिचय दिया जाना, एक प्रश्न उपस्थित करता है कि **बालितनय** कहना अंगद की प्रशंसा है या निन्दा? इसका उत्तर जानने के लिए हमें बालि के चरित्र पर विचार करना होगा। 'मानस' का यह पात्र निन्दनीय है या वन्दनीय? वह अच्छा पात्र है या बुरा? सामान्यतः हमारे मन में यही धारणा आती है कि बालि बुरा पात्र है और इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि भगवान ने बालि पर बाण से प्रहार किया। केवल प्रहार ही नहीं, बल्कि कठोर-से-कठोर शब्दों में उसकी भर्त्सना भी की, उस पर अनेक आरोप लगाए। उन आरोपों से तो यही लगता है कि बालि निन्दनीय पात्र है। लेकिन अंगद का परिचय जब भी दिया गया, बालितनय के रूप में ही दिया गया, पर एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है, जहाँ उन्हें **बालितनय** कहकर उन पर कटाक्ष किया गया हो या उसके निन्दनीय पक्ष की ओर संकेत किया गया हो। बालितनय कहकर सदा उनकी प्रशंसा की गई और यह शब्द प्रभु को इतना प्रिय था कि जब वे अंगद को कुछ कहना चाहते थे, तो वे उन्हें अंगद की जगह बड़े स्नेह से बालितनय ही कहते थे। राजदूत के रूप में लंका भेजते समय भगवान ने अंगद को पास बुलाकर कहा–हे बालि के पुत्र! मेरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए तुम लंका जाओ–

बालितनय बुधि बल गुन धामा।
लंका जाहु तात मम कामा।। ६/१६/६

इस शब्द से तो ऐसा लगता है कि भगवान राम उन्हें बहुत सम्मान देते हैं। ऐसा बार-बार होता है। अंगद ने लंका में जाकर रावण

की सभा से उसके चार मुकुट छीनकर भगवान के पास भेजे। उन मुकुटों को देखकर बन्दरों को ऐसा लगा कि रावण ने लंका से कोई भीषण अस्त्र चलाकर हम लोगों को नष्ट करने के लिए प्रहार किया है, क्योंकि वे मुकुट सूर्य के समान बड़े देदीप्यमान थे। तब भगवान राम ने बन्दरों का डर दूर करने के लिए कहा–

ए किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालितनय के प्रेरे।। ६/३१/१०

ये बालि के पुत्र के द्वारा भेजे गए हैं। यहाँ पर अंगद की महान सफलता की प्रशंसा में भगवान उन्हें बालितनय कहते हैं। इसके बाद जब अंगद लंका से लौटकर आते हैं, तो भगवान उन्हें बड़े प्रेम से अपने पास बिठा लेते हैं और पूछते हैं, पर वहाँ भी वे सम्बोधन अंगद कहकर नहीं करते। भगवान कहते हैं कि हे बालि के पुत्र! मेरे मन में बड़ा कौतुक है, मैं तुमसे पूछता हूँ, उसका सही-सही उत्तर दो–

बालितनय कौतुक अति मोही।
तात सत्य कहु पूछउँ तोही।। ६/३७/५

प्रारम्भ में जो दोहा उद्धृत किया गया, उसमें भगवान श्री राघवेन्द्र बड़े स्नेह से, हृदय से लगाकर अंगद को अयोध्या से विदा करते हैं। अंगद के गले में माला डालते हैं। उस समय भी उसी नाम का स्मरण दिलाया गया था।

अब बालि यदि निन्दनीय पात्र है, तो फिर इन प्रसंगों में उनका बालिपुत्र के रूप में परिचय नहीं दिया जाना चाहिए था। परन्तु अंगद की प्रशंसा के हर प्रसंग में जब उनका स्मरण बालि के पुत्र के रूप में किया गया, तो इसमें आध्यात्मिक साधना का बड़ा ही सार्थक संकेत है।

ऐसा लगता है कि बालि और सुग्रीव में से प्रभु ने सुग्रीव को अधिक महत्त्व दिया। भगवान राम ने उन्हें मित्र के रूप में स्वीकार किया और बालि के ऊपर बाण का प्रहार किया। पर यदि आध्यात्मिक सत्य की दृष्टि से विचार करके देखें, तो दोनों के चरित्र में आपको एक अनोखा अन्तर दिखाई देगा। उस अनोखे अन्तर के लिए मैं एक शब्द का प्रयोग करना चाहूँगा कि एक मार्ग तो वह है, जिसमें सीढ़ियाँ

होती हैं, यह साधना के क्रमिक विकास का मार्ग है। जैसे आप ऊपर की ओर चढ़ना चाहते हैं, तो पहले सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं और उन सीढ़ियों के माध्यम से एक के बाद दूसरी सीढ़ी पर पैर रखते हुए व्यक्ति ऊपर जाता है। इसी प्रकार से साधना में धीरे-धीरे आगे बढ़ने के लिए सोपान बनाए' जाते हैं, किन्तु यह सीढ़ी वाला मार्ग कोई बहुत सरल मार्ग नहीं होता। इसमें थोड़ी-सी असावधानी से नीचे गिरने का डर बना रहता है। जो इन सीढ़ियों पर चढ़ता है, वह बड़ी सावधानी से पैर रखता है और अन्त में इन सीढ़ियों के माध्यम से वह ऊपर पहुँच जाता है, लेकिन कुछ पात्रों के जीवन में सीढ़ी का मार्ग नहीं दिखाई देता। किन्हीं पात्रों के जीवन में हमें ऐसा दिखाई देता है, जिसे हम छलाँग का मार्ग कह सकते हैं। छलाँग का मार्ग कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ लोग ऐसे विलक्षण होते हैं, जो सीढ़ी की क्रमिक साधना से न चलकर, ऐसी छलाँग लगाते हैं कि एक छलाँग में ही वे ऊपर दिखाई देने लगते हैं। यदि हम बालि और सुग्रीव के चरित्र की तुलना करें, तो हम यही कहेंगे कि सुग्रीव के चरित्र में तो क्रमिक विकास है, वे सीढ़ी के मार्ग से ऊपर चढ़ते हैं, पर बालि के चरित्र में विशेषता यह है कि प्रारम्भ में तो वह एकदम नीचे दिखाई देता है, पर जब उसने छलाँग लगायीं, तो एक बार में ही वह इतना ऊपर पहुँच जाता हैं जहाँ तक पहुँचने में सुग्रीव को काफी समय लग जाता, परन्तु ध्यान रहे, यह छलाँग वाला मार्ग कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जिसके लिए किसी को उत्साहित करना उचित हो। वस्तुतः मार्ग का जब वर्णन किया जाएगा, तो सोपानवाले मार्ग का ही वर्णन होगा। परन्तु आप इतिहास को उठाकर पढ़िए, पुराणों को पढ़िए, 'मानस' के पात्रों को देखिए, तो पाएँगे कि कुछ ऐसे भी पात्र अवश्य हैं, जिनके जीवन में छलाँग है।

इसका सांकेतिक परिचय सेतुबन्ध और हनुमानजी महाराज के द्वारा लगायी जाने वाली छलाँग के सन्दर्भ में है। समुद्र को पार करने के लिए भगवान जब बन्दरों की सेना लेकर आते हैं, तब वहाँ पर सेतु-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इसके पूर्व कहा गया है कि ये ही बन्दर जब हनुमानजी के साथ आए, तो समुद्र-तट पर रुक गए थे, क्योंकि तब सेतु नहीं बना था। एक हनुमानजी ही ऐसे

हैं, जो समुद्र पार करते हैं। पर हनुमानजी जब समुद्र पार करते हैं, तो छलाँग के मार्ग से पार करते हैं। उनमें ऐसी क्षमता है कि एक ही छलाँग में वे समुद्र के उस पार जा सकते हैं। लेकिन इतना होते हुए भी जब भगवान राम बन्दरों को लेकर आते हैं और समुद्र के संकेत पर निर्णय किया जाता है कि समुद्र पर सेतु बनाया जाए, तो उसका अर्थ क्या है? उस प्रसंग में भी छलाँग लगानेवाले पात्र थे। क्योंकि उस दोहे में आप पढ़ते हैं–

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं।। ६/४

सेतुबन्ध पर इतनी भीड़ हुई कि कुछ बन्दर आकाश-मार्ग से और कुछ जलचरों की पीठ पर चढ़कर जाने लगे।

उस समय भी कुछ बन्दर ऐसे थे, जिन्होंने छलाँग लगाकर आकाश-मार्ग से ही समुद्र को पार किया, पर जीवन का व्यवहार तथा परमार्थ का सत्य यही है कि ऐसी छलांग लगाने की क्षमता कुछ गिने-चुने लोगों में ही होती है। हनुमानजी की महिमा यह है कि यद्यपि उन्होंने एक ही छलाँग में देहाभिमान के समुद्र को पार कर लिया; भक्तिरूपा, शान्तिरूपा सीताजी को तथा उनका आशीर्वाद पा लिया, मोह-वाटिका को ध्वस्त कर दिया, दुर्गुण-दुर्विचारों को मिटा दिया और इन महान कार्यो को पूरा करके एक ही छलांग में लौट भी आए, परन्तु हनुमानजी की विशेषता यह है कि वे बन्दरों को यह कहकर लज्जित नहीं करते, अरे! तुम लोग कैसे हो, तुम भी छलाँग लगाओ! ऐसा बिल्कुल नहीं कहा।

हनुमानजी लंका से लौटकर आते हैं और प्रभु के चरणों में प्रणाम करके कहते हैं कि प्रभो, आप तत्काल चलिए। इसके पीछे हनुमानजी का अभिप्राय यह था कि जब प्रभु के सामने सीताजी के दुःखों का वर्णन करने लगे तो उन्होंने बड़ी सावधानी के साथ कहा कि सीताजी इतने दुःख में हैं कि उनका एक-एक क्षण कल्प की तरह बीत रहा है–

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भलि दीनदयाला।। ५/३०/६
निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।। ५/३१

परन्तु वे सावधान क्यों हैं? इसलिए कि कहीं इसे सुनकर भगवान राम को अपने ईश्वरत्व की और स्वरूप की स्मृति न आ जाय। क्योंकि आगे जो कार्य होना है उसमें तो भगवान को नररूप में ही सारी समस्याओं का समाधान देना है। क्योंकि भगवान के संकल्प में तो अद्‍भुत शक्ति है ही, उन्हें रावण का नाश करने में कितना समय लगेगा? धनुष-बाण की दृष्टि से भी यदि विचार करें, तो उनके पास ऐसे चमत्कारी बाण हैं कि जब उन्होंने एक बाण जयन्त के पीछे लगा दिया, तो तीनों लोकों में कहीं भी उसकी रक्षा नहीं हो पाई। भगवान यदि चाहते, तो वहीं किष्किन्धापुरी में बैठे हुए ही लंकाधिपति रावण का संहार कर सकते थे। वे चाहते तो बाण के द्वारा ही जनकनन्दिनी सीताजी को वापस ला सकते थे। यह क्षमता प्रभु में है। भरतजी के बाण की क्षमता आप पढ़ते ही हैं। वे हनुमानजी से अनुरोध करते हैं कि आप हमारे बाण पर बैठ जाइए, मैं आपको प्रभु के पास पहुँचा दूँ–

चढ़ु मम सायक सैल समेता।
पठवउ तोहि जहँ कृपानिकेता।। ६/५६/६

हनुमानजी यह सब जानते हैं, इसीलिए सावधान हैं। वे कहते हैं कि प्रभु चलिए और शीघ्र चलिए। इसका अभिप्राय यह है कि यदि आप ईश्वरीय पद्धति से रावण का विनाश कर देंगे, तो आपके अवतार का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। तात्पर्य यह कि वस्तुतः आप जब ईश्वर से मनुष्य बने हैं, तो आप मानव-जीवन में साधना के जिस सत्य के अवतरण की जरूरत है, आप उसी को प्रगट कीजिए। हनुमानजी के शब्दों पर आप ध्यान दीजिए, वे कहते हैं कि जल्दी चलिए–

बेगि चलिय प्रभु आनिय भुज बल खल दल जीति।। ५/३१

जल्दी चलिए और मनुष्य की तरह पैदल चलिए। रावण को जीतकर सीताजी को वापस लाइए। एक सूत्र देते हैं, कैसे जीतिए? कहते हैं कि अपने बाहुबल से दुष्टों को जीतकर ले आइए। हनुमानजी का अभिप्राय मानो यह है कि आपके साथ और भी अगणित लोग चल रहे हैं।

भगवान के अवतार का उद्देश्य क्या है? अकेले व्यक्ति की साधना का सत्य तो ऐसा हो सकता है कि वह ऐसी अतुलनीय सामर्थ्य रखता

हो कि एक ही छलाँग में परमार्थ को प्राप्त कर ले, पर यदि उसे हजारों लोगों को साथ लेकर चलना हो, तो यदि वह व्यक्ति छलांग मार्ग से अपने पराक्रम का प्रदर्शन करे तो इसमें उसकी महिमा तो दिखाई देगी, पर बेचारे अन्य चलने वाले लोग उस गति से साथ चलने में असमर्थ हो जाएँगे। इसलिए महापुरुष जब चलते हैं, तो अपनी चाल से नहीं चलते! जिन लोगों को लेकर चलना है, उनकी जितनी क्षमता है, उसके अनुकूल चलते हैं। जीवन का वह पक्ष भी प्रकट हो जाता है कि हनुमानजी के समान ऐसे भी पात्र हो सकते हैं, जिन्हें धीरे-धीरे चलने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्वयं भगवान राम का जो मार्ग है, वह पैदल मार्ग है और सारे बन्दरों को साथ लेकर चलने का मार्ग है।

समुद्र तट पर भगवान के समक्ष पार जाने को लेकर दो मत सामने आते हैं। समस्या यह थी कि समुद्र को कैसे पार किया जाय? उसे पार करने का एक उपाय तो विभीषण बताते हैं। वे कहते हैं कि समुद्र से प्रार्थना कीजिए। और दूसरा उपाय श्रीराम के अनुज लक्ष्मणजी सुझाते हैं कि प्रभु! आपके बाण में अपार शक्ति है, धनुष और बाण चढ़ाइये और समुद्र को सुखा दीजिए। पर अन्त में जब समुद्र सामने आता है, तो वह भगवान से अनुरोध करता है कि प्रभो, यदि आप सुखाकर चले जाएँगे, तो उससे आपका चमत्कार तो प्रकट हो जाएगा, पर आपके अवतार का उद्देश्य केवल महिमा प्रगट करना तो है नहीं, आपका उद्देश्य हर व्यक्ति को ऐसा प्रशस्त पथ देना है, साधना की ऐसी क्रमिक पद्धति देनी है, जिससे हर व्यक्ति उस सत्य तक पहुँच सके, जिस तक कोई बिरले ही महापुरुष छलाँग लगाकर पहुँच पाते हैं। अतः अनगिनत बन्दरों को साथ लेकर चलने का मार्ग तो सेतु का ही मार्ग हो सकता है। तात्पर्य यह कि यदि कोई नदी हो और घोषणा कर दी जाए कि अमुक योगी नदी को आकाशमार्ग से पार करेंगे, तो लाखों आदमी उसे देखने को उमड़ पड़ेंगे और बड़ी श्रद्धा से उनकी पूजा-वन्दना करने लगेंगे।

लेकिन इससे हमारी समस्या का समाधान तो नहीं हुआ। दूसरे दिन जब हमें नदी पार करनी होगी, तो हमारे सामने फिर वही समस्या आएगी। योगियों का दर्शन तो हो गया, पर हम स्वयं नदी कैसे पार

करें? इसलिए सरल पद्धति तो यही है कि जिनमें क्षमता है, वे यदि सेतु का निर्माण कर दें, तो फिर छोटे-से-छोटा व्यक्ति और इतना ही नहीं, पशुओं को भी पार जाने की सुविधा हो जाती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि बेचारी चींटी तो कभी नदी को पार कर पाने की कल्पना ही नहीं कर सकती, पर पुल बन जाने पर इतनी सुविधा हो गई कि चींटी भी बड़ी सरलता से इस पार से उस पार चली गई–

अति अपार जो सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।। १/१३

अतः साधना का ऐसा रूप होना चाहिए कि जिसमें बड़े-से-बड़े व्यक्ति से लेकर छोटे-से-छोटे व्यक्ति भी उसी सत्य का साक्षात्कार कर सकें। यही सेतु का वास्तविक तात्पर्य है।

साधना की दृष्टि से सेतुबन्ध का बड़ा गहरा तात्त्विक अर्थ है। इसमें भी आप साधना के क्रमिक विकास का क्रम पाएँगे। सेतु दो तरह से बनाया गया। कुछ भाग तो पत्थरों से बनाया गया और कुछ भाग जलचरों से भी। इसे सांकेतिक रूप में कहें तो पत्थर सद्‌गुण है और जलचर दुर्गुण। समुद्र पर सेतु-निर्माण का अर्थ है कि मनुष्य जीवन में सद्‌गुणों का सदुपयोग कैसे करें? पर सेतुबन्ध में इससे भी अधिक कठिन भूमिका प्रस्तुत की गई कि क्या दुर्गुणों का भी सदुपयोग हो सकता है? उसमें सांकेतिक क्रम यह है कि पहले पत्थर का पुल बनाया। यह सद्‌गुणों के द्वारा बनाया जानेवाला पुल है। यहाँ सद्‌गुणों के साथ जो समस्या है, वह सेतुबन्ध के सामने भी आई। पत्थर में दृढ़ता तो खूब है, पर वे उतने ही अधिक भारी भी हैं। जल में डालते ही डूब जाते हैं और केवल स्वयं ही नहीं बल्कि अपने साथ बँधने वाले को भी डुबा देते हैं। पत्थर बाँधकर पानी में कूदनेवाला तो अवश्य डूबेगा–

बूड़हिं आनहि बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई।। ६/२/८

सद्‌गुण के साथ दो समस्याएँ थी। एक तो ये हल्के कैसे हों और दूसरी की ये जुड़ें कैसे? नल-नील ने छू दिया तो हल्के हो गए, पर जब उन्हें जल में डाला गया तो वे तरंगों के कारण एक-दूसरे से अलग हो गए। अब जब जोड़ने की बात आई तो हनुमानजी आगे आए। वे बोले कि एक पत्थर पर **रा** लिखो और दूसरे पर **म**, बस पत्थर

जुड़ जाएँगे। ऐसा ही किया गया, पत्थर जुड़ गए और इस प्रकार निर्मित पुल से होकर बन्दरों ने समुद्र पार किया।

कभी-कभी तो लोग बड़ी विचित्र पद्धति से रामकथा पढ़ते हैं। सेतुबन्ध का प्रसंग चल रहा था। एक श्रोता ने लिखकर मेरे पास भेजा, 'विनय-पत्रिका' में संकेत मिलता है कि–

सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो।। २२६/४

उन्होंने लिखा था कि गोस्वामीजी की इस युक्ति को पढ़कर हमें बड़ी चोट लगी, क्योंकि जब पत्थरों पर बन्दरों ने राम-नाम लिखा होगा और पुल पर चढ़ते समय उस रामनाम पर पैर रखकर गये, यह तो रामनाम का बड़ा अपमान है। यह उसी प्रकार का प्रश्न है, जैसे एक श्रोता को चिन्ता हो गई कि हनुमानजी ने सीताजी को अँगूठी दी, तो धोकर दी या बिना धोये। क्योंकि वे मुद्रिका को मुँह में लेकर गए थे-**प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं**। अशोक वाटिका में तो मुद्रिका को धोने लायक कोई तालाब आदि दिखाई नहीं दे रहा है। तो क्या मुँह से निकालकर जूठी मुद्रिका ही दे दी? इस तरह के स्थूल अर्थ में उलझ जाने से तो कहने का उद्देश्य ही समाप्त हो गया। इस दृष्टि से मान-अपमान का विचार करना हो, तो अपने धर्मग्रन्थों का ध्यान से पाठ कीजिए। बहुत-से लोग 'रामरक्षा-स्तोत्र' का पाठ करते हैं। उसमें हर अंग में भगवान का ध्यान किया जाता है, प्रारम्भ सिर से किया जाता है कि मेरे सिर की राघवेन्द्र रक्षा करें, कपाल की दशरथपुत्र, नेत्रों की कौशल्यानन्दन, कानों की विश्वामित्र के प्रिय रक्षा करें–

शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः
कौसल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः।। ४-८

इसी प्रकार हर अंग में उनका ध्यान किया जाता है, पर इसकी समाप्ति कहाँ जाकर होती है? अन्त में कहते हैं कि विभीषण को राजतिलक करनेवाले मेरे पाँवों की रक्षा करें और इसप्रकार श्रीराम मेरे पूरे शरीर की रक्षा करें–

पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः।। ९

तो इससे क्या भगवान का बड़ा अनादर होता है? क्या यही उनका

बड़ा समादर है कि वे सिर में तो हैं, पर पाँव में नहीं? यदि वे सर्वव्यापी हैं तो सिर से पैर तक सर्वत्र विद्यमान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर रोम-रोम में, कण-कण में परिव्याप्त हैं। हम केवल उसकी अनुभूति से वंचित हैं। प्रारम्भ में हमारे संस्कार चूँकि ऐसे बने हुए हैं कि हम किसी विशेष या ऊँचे स्थान पर ही उनकी कल्पना करके सन्तोष करते हैं, परन्तु यदि विचार करके देखें तो वस्तुतः नख से शिख तक सर्वत्र एक ईश्वर तत्त्व ही विद्यमान है। वही चरणों में है, वही नेत्रों में है, और वही भुजाओं में है। वह कहाँ नहीं है?

इसी प्रकार जब हनुमानजी मुद्रिका को मुँह में डाल लेते हैं, तो गोस्वामीजी इसके माध्यम से बहुत बड़ी बात कहना चाहते हैं और वह यह है कि यद्यपि जो वस्तु मुँह में चली जाए वह जूठी हो जाती है, परन्तु एक राम-नाम ऐसा है, जो कभी जूठा नहीं होता, अपितु वह मुँह को भी पवित्र कर देता है। इसका अर्थ यह है कि जब कोई व्यक्ति मुँह से निकालकर कोई वस्तु आपको दे तो आप उसको अस्वीकार कर देंगे, पर जब भगवान की कथा, भगवान का नाम मुख से निकलता है, तो क्या आप कान बन्द कर लेते हैं कि अरे, यह तो वक्ता का जूठा है, भला हम इसे कैसे लें! ऐसा आप नहीं कहते, बल्कि उसे सुनकरके तो आप और भी आनन्द लेते हैं। कथा के द्वारा रस की वृद्धि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु का नाम अशुद्ध को भी शुद्ध करनेवाला है। यही है नाम की महिमा। इसलिए समुद्र पर सेतुबन्ध के लिए पत्थरों पर राम-नाम लिखने को इस अर्थ में न लें कि उन पर पैर रख दिया।

जैसा कि बताया गया सद्गुणों के सन्दर्भ में हमारे जीवन में दो समस्याएँ आती हैं, जिनमें एक तो है अभिमान की। बालि के सन्दर्भ में भी इसी की चर्चा चल रही थी और दूसरी समस्या आती है, न जुड़ पाने की। सद्गुण है तो अभिमान अवश्य दिखाई देता है और फिर एक सद्गुण आता है, तो दूसरा सद्गुण दूर भागता है। ऐसी स्थिति में उपाय क्या है? नल और नील को उपाय प्राप्त था कि उनके स्पर्श से पत्थर हल्के हो जाएँगे। सद्गुणों से अभिमान मिटाना हो तो सन्तों की कृपा प्राप्त कीजिए, सन्तों का आशीर्वाद प्राप्त कीजिए। सत्संग में

जाएँगे, अभिमान की निन्दा सुनेंगे तो सद्गुणों में जो 'मैं' जुड़ा हुआ है, वह 'मैं' दूर होगा।

परन्तु हल्के होने के बाद भी एक गुण दूसरे गुण के समीप कैसे आएँगे, आपस में जुड़ेंगे कैसे? इसके लिए कहा गया कि सन्तों की कृपा के साथ-साथ, जब तक भगवन्नाम का आश्रय न लिया जाए, तब तक ये जुड़ेंगे नहीं। भगवन्नाम ही सद्गुणों को जोड़ता है। सत्संग के द्वारा गुणों का अभिमान मिटाया जा सकता है और भगवन्नाम के द्वारा गुणों को जोड़ा जा सकता है। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि यदि हम देहाभिमान के समुद्र को पार करना चाहते हैं, तो सत्संग के साथ-ही-साथ भगवन्नाम का जप करें। इन दोनों के माध्यम से साधना का एक ऐसा सेतु बनेगा, जिसके द्वारा हम देहाभिमान को पार करके भक्तिरूपा सीताजी का साक्षात्कार कर सकते हैं।

दूसरी ओर जलचरों के साथ समस्या यह है कि ये मनुष्य को खा जानेवाले हैं। जीवन के दुर्गुण-विचार ही ये जलचर हैं। लक्ष्मण जी ने कहा था, प्रभो, आप समुद्र को सुखा दीजिए। यदि समुद्र सूख जाता तो उसके सारे जलचर भी मर जाते, पर समुद्र ने भगवान से कहा कि प्रभो! इसमें कोई सन्देह नहीं कि लक्ष्मणजी जैसे महापुरुष दुर्गुणों को क्षणभर में जलाकर नष्ट कर सकते हैं, परन्तु आप तो सब पर कृपा करने हेतु आये हुए हैं; तो क्या इन दुर्गुणों का भी सदुपयोग नहीं करेंगे? और सचमुच भगवान इन दुर्गुणों का भी कितना सार्थक उपयोग करते हैं। सूत्र यह है कि सद्गुणों को जोड़िए।

अन्त में जब भगवान उस सेतुबन्ध पर खड़े हुए, तो समुद्र से निकले हुए जलचर भगवान् का सौन्दर्य देखने लगे। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि सद्गुणों को जोड़िये और दुर्गुणों को ईश्वर की ओर मोड़िए। हमारे जीवन में राग हैं। ये राग मानो जलचर हैं। इन्हें प्रभु की ओर मोड़ देना चाहिए। एक उपाय तो यह भी है कि राग को मिटा दिया जाय। यह पद्धति भी ठीक है कि जो लोग राग को मिटा सकते हैं, मिटा दें; पर जो राग को मिटाने का मार्ग न स्वीकार कर सकें, वे राग को मिटाने के स्थान पर इस राग को ईश्वर की ओर मोड़ दें। इसमें भी बड़ा सुन्दर सांकेतिक क्रम है। यह जो पत्थरों का

पुल है, इसे बन्दरों ने बनाया। इसका अभिप्राय यह है कि हम लोगों को तो सद्‌गुणों को जोड़कर ही पुल बनाना है; दुर्गुणों को मोड़ना तो हमारे-आपके नहीं, बल्कि भगवान के ही वश की बात है। जब हम पहले अपने सद्‌गुणों का सदुपयोग कर लें और तब भगवान से कहें कि प्रभो! दुर्गुणों को अपने सौन्दर्य के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर लीजिए, क्योंकि यह जीव के प्रयत्न या पुरुषार्थ से नहीं, आपकी कृपा से ही सम्भव है।

इस सेतुबन्ध के माध्यम से साधना के इन विविध पक्षों को प्रकट किया गया है। अधिकांश बन्दर तो पत्थरों के सेतु के द्वारा और जलचरों के पुल से समुद्र को पार करके अपने जीवन के चरम लक्ष्य को पाने में समर्थ हो जाते हैं। पर ऐसा नहीं कि छलाँग लगानेवाले पात्र न हों। गोस्वामीजी कहते हैं कि कुछ बन्दर आकाश से भी छलाँग लगाकर जाने लगे—

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं। ६/४

इसका सीधा तात्पर्य यह है कि साधना का क्रमिक विकास ही वह सेतु है और सीधा छलाँग लगाकर जाना क्रम-विकास न होकर, ईश्वर की कृपा द्वारा ही सम्पन्न होता है। भगवान ने बन्दरों से पूछा, पिछली बार तो केवल हनुमान ही छलाँग लगाकर पार गये थे, पर इस बार तो छलाँग लगानेवाले बन्दरों की संख्या काफी अधिक दिखाई दे रही है। यह अन्तर क्यों पड़ा? बन्दर बोले कि महाराज, इसमें न तो हनुमानजी की विशेषता है न हम लोगों की कमी है, बन्दर तो आकाश में उड़ता नहीं। उसे पक्षी की तरह उड़ने की शक्ति नहीं मिली है। बन्दर तो तभी उड़ेगा, जब उसे पंख मिल जाएँगे। जब आपने हनुमानजी का पक्ष ले लिया; उनसे कहा कि सीताजी के पास जाओ, तो उन्हें आपकी कृपा का पक्ष मिल गया और वे उड़कर पार हो गये। आज आपकी कृपा का वह पक्ष हम लोगों को भी मिला है, तो हम भी छलाँग लगा रहे हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा।। ५/३४/३

रामकृपा का बल पाकर लगा, मानो उन्हें पंख मिल गये हों। ईश्वर जब पक्ष लेकर कृपापक्ष प्रदान करते हैं, तो व्यक्ति में ऐसी क्षमता भी

आ जाती है कि वह क्षणभर में ही चरम सत्य का साक्षात्कार कर अभिमान की सीमा को पार कर लेता है।

बालि और सुग्रीव के चरित्र में ये दोनों क्रम आपको दिखाई देंगे। सुग्रीव-चरित में साधना का क्रम-विकास दिखाई देगा और बालि-चरित में छलाँग दिखाई देगी। इतनी ऊँची छलाँग रामायण में शायद ही किसी पात्र ने लगाई हो। हनुमानजी की छलाँग की विशेषता तो इस दृष्टि से नहीं है, क्योंकि वे आदि से अन्त तक महान हैं, पर बालि की छलाँग इसलिए बड़ी अद्‌भुत है कि उस छलाँग में बालि कहाँ से कहाँ पहुँच गया?

सुग्रीव के चरित्र में जो साधना का क्रम है, वह आपके सामने प्रत्यक्ष है। सुग्रीव सीधे भगवान के प्रेमी नहीं बन गए, क्रम से बने। उसके जीवन में भगवान को देखकर एक संशय है, जिज्ञासा है कि ये कौन हैं? उन्हें हनुमानजी जैसे सन्त का आश्रय प्राप्त है। वे हनुमानजी से पूछते हैं, आप बताइए कि ये कौन हैं? हनुमानजी जैसे सन्त के द्वारा उन्हें भगवान के निकट ला देना, यही साधना का क्रम है। जीव के हृदय में ईश्वर के प्रति संशय है, जिज्ञासा है। उस संशय और जिज्ञासा के समाधान के लिए किसी सन्त का आश्रय लेना चाहिए। हनुमानजी सन्त हैं। सन्त की विशेषता यह है कि वे भगवान को हमारे जीवन के निकट ला देते हैं, पर उसके बाद भी समस्या का पूरा समाधान नहीं हो जाता। भगवान ने जीव को हृदय से लगाकर मित्र बनाया और सुग्रीव से पूछा कि सुग्रीव तुम्हारी समस्या क्या है?—

कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव। ४/५

सुग्रीव ने पूरी कथा सुनाई। प्रभु उन्हें आश्वस्त करते हैं कि चिन्ता न करो, मैं एक बाण में ही बालि का वध कर दूँगा—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान। ४/६

जीव की समस्या का भार ईश्वर ने अपने ऊपर ले लिया। प्रभु स्वयं अपनी ओर से पूछते हैं कि बताओ, तुम्हारी समस्या क्या है? मैं उसका समाधान करूँगा। पर जीव की समस्या बड़ी जटिल है। भगवान ने तो कह दिया कि मैं बालि को एक ही बाण से मारूँगा, पर उनके इस वाक्य को सुनकर सुग्रीव क्या निश्चिन्त हो

सके? नहीं, जीव का संशय इतना प्रवल है कि सुग्रीव ने तत्काल कहा कि महाराज, आपने सोच-समझकर यह प्रतिज्ञा की है या बिना सोचे-समझे? क्यों? बोले कि पहले सुन लीजिए कि बालि कौन है? बालि तो महाशक्तिशाली हैं, बहुत बड़ा योद्धा है—

बालि महाबल अति रनधीरा। ४/६/११

आपने तो जरा जल्दी में कह दिया कि मैं उसे मारूँगा और एक ही बाण से मारूँगा। ऐसा भला कैसे हो सकता है? प्रभु बोले कि अच्छा, तो तुम्हें विश्वास कैसे होगा? इसका अर्थ है कि ईश्वर के मिल जाने के बाद भी, ईश्वर पर विश्वास होना कठिन है। न जाने कितने लोग ईश्वर को देखकर भी उन पर विश्वास नहीं कर पाते। ईश्वर भले ही पहले मिल जाएँ, पर क्या विश्वास मिलता है?

भगवान ने पूछा कि विश्वास कैसे होगा? सुग्रीव ने कहा कि परीक्षा देनी होगी। सुग्रीव ने भगवान की परीक्षा ले ली। वहाँ पर दुन्दुभी राक्षस की हड्डियाँ पड़ी हुई थीं और सात ताड़ के वृक्ष लगे हुए थे। सुग्रीव ने कहा कि महाराज! मैंने सुना है कि इन सातों ताड़ के वृक्षों को जो एक ही बाण से वेध देगा और दुन्दुभी राक्षस की इस हड्डी को अपने पैर के अँगूठे से सौ योजन दूर फेंक देगा, वही बालि को मार सकेगा। प्रभु की यह इतनी उदारता है कि जीव को विश्वास दिलाने के लिए वे कितना विचित्र कार्य करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। प्रभु से राक्षस की हड्डी फेंकने का कार्य कराया गया, इससे भी अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है? पर भगवान कहते हैं कि यदि तुम्हें इसी से विश्वास हो जाए तो चलो हम यह भी करने को तैयार हैं, तुम परीक्षा लेकर देख लो। गोस्वामीजी ने कहा—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

७/८८/६-८

भगवान की कृपा के बिना उनकी महिमा नहीं जानी जाती। जब तक जानते नहीं, तब तक विश्वास नहीं होता, जब तक विश्वास नहीं होता, तब तक प्रीति नहीं होती और जब तक प्रीति नहीं होती,

तब तक भक्ति में दृढ़ता नहीं आती। उत्तरकाण्ड में यह भक्ति के क्रमिक विकास का क्रम है। सुग्रीव के चरित में यही हुआ। उसने भगवान को दुन्दुभी राक्षस की हड्डियाँ और ताड़ के वृक्ष दिखाए। श्री रघुनाथ ने अनायास ही उन्हें ढहा दिया। उनका यह असीम बल देखकर जब सुग्रीव जान गया, तब उसे विश्वास हुआ और विश्वास हुआ तो प्रीति बढ़ी। विश्वास भी हो गया, प्रीति भी हो गई—

दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए।।
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती।।

४/६/१२-१३

सुग्रीव बोले, हाँ महाराज! मैं समझ गया कि आप बालि का वध कर देंगे। पर जीव का विश्वास कैसा होता है? क्या इसके बाद सुग्रीव के जीवन में समस्याएँ नहीं आईं? वे तो पग-पग पर आती हुई दिखाई देती हैं। गोस्वामीजी ने एक बहुत बढ़िया बात कही। उनसे पूछा गया कि आप रामायण कैसे लिख रहे हैं? बोले कि भगवान की प्रेरणा से। पर उसके साथ उन्होंने एक विचित्र बात जोड़ दी। क्या? मुझमें जितना बुद्धि-बल है, प्रभु की प्रेरणा से उतना ही लिखूँगा—

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें।।

१/३०/३

इसका अर्थ क्या है? जब भगवान की प्रेरणा से लिखना है, तो अपने बुद्धि-बल-विवेक की बात क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी के पास दूध का अगाध सागर है और आप सुन लें कि वे बड़े उदार हैं, बड़ी उदारता से दूध बाँट रहे हैं, तो यह सुनकर आप दूध लेने जाएँगे, वे तो सचमुच बड़ी उदारतापूर्वक दूध बाँट रहे हैं, पर आप तो उतना ही दूध लेकर लौटेंगे जितना बड़ा आपका पात्र है। इसी प्रकार से भगवान की महिमा के साथ-साथ जीव के विश्वास का बर्तन जितना बड़ा होगा, ईश्वर की महिमा उसमें उतनी ही समायेगी, वहाँ पर उतनी ही दिखेगी। इसीलिए—

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा।। ७/११६/१२

विश्वास को पात्र कहा गया। इसका अभिप्राय क्या है? यह कि

ईश्वर में अनन्त सामर्थ्य है, लेकिन जीव में उसे ग्रहण करने की जितनी क्षमता होगी, उसी क्षमता की सीमा तक वह उसे ग्रहण कर सकता है। सुग्रीव के चरित में भी यही सत्य दिखाई पड़ता है। भगवान तो महान हैं, पर पात्र छोटा निकला। भगवान श्रीराम ने सुग्रीव से कहा—अच्छा, अब तो तुम्हें विश्वास हो गया कि मैं बालि को मारूँगा? हाँ, महाराज, हो गया—तो अब तुम एक काम करो, किष्किन्धापुरी जाकर बालि के महल के सामने जरा गर्जना तो करो, बालि को चुनौती दो। सुग्रीव प्रभु का मुँह देखने लगे, बोले—प्रभो, आपने तो कहा था कि बालि को मैं मारूँगा। अब उसे चुनौती मैं दूँगा कि आप? भगवान बोले—मारूँगा मैं, पर चुनौती तुम दोगे, तुम लड़ोगे। यह बड़ा अनोखा तत्त्वज्ञान है। गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं कि कर्म तुम करोगे और उसका फल मैं दूँगा। भगवान कहते हैं—कर्म से हम तुमको भागने नहीं देंगे, लड़ना तो तुम्हें ही पड़ेगा, पर उसके परिणाम का अधिकार तुम्हारे पास नहीं, मेरे पास है।

बेचारे सुग्रीव अब किसी प्रकार चले। पर बड़ी विचित्र बात हुई। सुग्रीव की गर्जना सुनकर जब बालि निकला और सुग्रीव से उसका युद्ध हुआ तो सुग्रीव हार गये। भगवान की प्रेरणा से युद्ध करने गये तो भी हार गये। इतना ही नहीं, बालि ने उन्हें इतने जोर से मुक्का मारा कि वह वज्र-सा लगा—

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा।
मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।। ४/७/३

बेचारे सुग्रीव फिर भागे। वे तो स्वभाव से ही भगोड़े थे, परन्तु अच्छा ही हुआ कि पहले संसार की ओर भागा करते थे, पर अब भागकर भगवान के पास आ गये और उलाहना दिया कि प्रभो! आपने तो कहा था बालि का वध करूँगा, पर आपने बिल्कुल नहीं किया। भगवान ने मुस्कुराकर कहा कि तुम दोनों भाई इतने एक-से दीखते हो, अतः मैं पहचान नहीं सका कि बालि कौन-सा है और तुम कौन-से? इसीलिए नहीं मारा—

एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ।
तेहि भ्रम तें नहिं मारेऊँ सोऊ।। ४/७/५

भगवान ने थोड़ा टटोलने के लिए कहा कि अच्छा सुग्रीव तुम्हारे शरीर में बड़ी पीड़ा है न! मैं तुम्हारे शरीर को छूकर पीड़ा दूर कर दूँगा और अपना बल तुम्हें देकर भेजूँगा, तब तो तुम लड़ने जाओगे न! सुग्रीव सोचने लगे कि ठीक ही तो है, जब पीड़ा दूर हो जाएगी और भगवान का बल मिल जाएगा, तब तो बड़ी अच्छी बात है, शायद मैं ही जीत जाऊँ! और जीत गया, तो इतिहास में यही लिखा जाएगा कि भले ही सुग्रीव पहली बार हार गया, पर अन्त में उसने बालि को हरा दिया। उसने हामी भर दी और प्रभु के स्पर्श से उसकी पीड़ा दूर हो गई और शरीर वज्र का हो गया। इस प्रकार भगवान ने विशाल बल देकर उसे लड़ने के लिए भेजा—

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा।।
मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला।।
४/७/६-७

लेकिन जब युद्ध हुआ, तो सुग्रीव फिर हार गया। बालि और सुग्रीव में एक अनोखा अन्तर है। ध्यान रहे, सुग्रीव जिस बात को बहुत कठिनाई से समझ पाए थे, बालि उसे न जाने कब से जानता था। श्रीराम के ईश्वरत्व को पहचानने में सुग्रीव को समय लगा। जहाँ तक सुग्रीव की आँखों का सम्बन्ध था, वह तो यही समझ रहा था कि ये बालि के भेजे हुए मुझे मारने आ रहे हैं। यदि उन्होंने अपनी आँखों पर भरोसा किया होता तो भाग खड़े हुए होते। भगवान से मिलने के बाद भी संशय दूर नहीं हुआ, परीक्षा करके देख लिया तो भी यह स्थिति है। परन्तु लगता है कि बालि भगवान से भलीभाँति परिचित है। यही बालि के जीवन का एक उज्जवल पक्ष है, पर इसके साथ ही उसके जीवन में दुर्बलता भी है और वह सामने आई। बालि का भगवान राम से कभी प्रत्यक्ष मिलन या परिचय नहीं हुआ, मगर बालि भगवान के बारे में इतना निश्चिंत है, उनकी भगवत्ता से वह इतना सुपरिचित है कि जब वह सुग्रीव से लड़ने चला तो तारा ने उसके पैर पकड़ लिए और कहा कि नाथ, क्या आपने सुग्रीव की गर्जना नहीं सुनी? यह गर्जना बता

रही है कि उसके पीछे किसी का बल है। मैं आपको इसकी सूचना दे दूँ। शायद आपको पता न हो कि सुग्रीव से जिनकी मित्रता हो गई है, वे महान बलशाली हैं–

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा।।
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा।।
४/६/२८-२६

तारा ने सोचा था कि इस सूचना से बालि डर जाएगा, पर बालि का उत्तर क्या बताता है? बताता है कि उसे ईश्वर का ज्ञान है। तारा की बात पर बालि हँसा। हँस क्यों रहे हो? वह हँसते हुए बोला कि तुम उन्हें मनुष्य कह रही हो, बलवान व्यक्ति कह रही हो, मुझे तो तुम्हारी बुद्धि पर तरस आ रहा है। अरे, वे मनुष्य नहीं, बलवान राजकुमार नहीं, वे तो साक्षात् ईश्वर हैं। जानने की यह पद्धति सुग्रीव के चरित्र में लम्बी है, परन्तु बालि के जीवन में यह ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट है कि वे भगवान हैं। बालि भावुक भी बहुत है। ज्ञान और भावना दोनों ही उसके अन्तःकरण में है। सुग्रीव को भगवान की भगवत्ता पर जितना विश्वास है, बालि को उससे कहीं अधिक है। इसे यों कह सकते हैं कि बालि का ग्रहणपात्र बड़ा है, सुग्रीव का उसकी तुलना में छोटा है। पर जिसे हम बालि का दुर्बल पक्ष कहते हैं, वह उसके द्वारा तारा को कहे गए दो वाक्यों से प्रकट होता है। उनमें से एक विचारमूलक है और दूसरा भावनामूलक, लेकिन दोनों का जो निष्कर्ष निकला, वह सही नहीं था। ब्रह्म तो वस्तुतः सम है। श्रीराम ब्रह्म हैं, वे सम हैं। तुम चिन्ता मत करो कि वे सुग्रीव का पक्ष लेंगे और मेरा विरोध करेंगे–

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ। ४/७

'ईश्वर सम है' यहाँ तक उसका कहना बिल्कुल ठीक है, पर इसका यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है कि वे सुग्रीव का पक्ष नहीं लेंगे। उसके वाक्य में एक गुण है, तो एक दोष भी है। दूसरी ओर वह तारा से भावुकता के स्वर में यह भी कहता है, यदि तुम्हें लगता है कि वे मुझे मार देंगे, तो भी तुम्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। बालि मृत्यु से इतना निर्भय है। सुग्रीव तो इतने भयभीत दिखाई देते हैं, पर बालि के जीवन में आदि से अन्त तक मृत्युभय था ही

नहीं। वह कहता है कि यदि ईश्वर मुझ पर बाण चलाकर मुझे मार भी देगा, तो मैं तो धन्य हो जाऊँगा–

जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ। ४/७

इस प्रकार एक तो ईश्वर सम है और यदि नहीं भी है तो उसके प्रहार में कृपा हो सकती है, इन दोनों बातों का ज्ञान बालि के जीवन में है। इस अर्थ में वह सुग्रीव की अपेक्षा ईश्वर से अधिक निकट है। पर कमी उसमें इस अर्थ में है? ईश्वर सम है, इस ज्ञान का यदि हम यह अर्थ लें कि ईश्वर पाप और पुण्य में सम है, अतः मनमाने पाप करो, चिन्ता की कोई बात नहीं, तब तो ईश्वर का समत्व समाज के लिए बड़ा घातक सिद्ध होगा। समत्व यदि हमें पाप की दिशा में, अन्याय की दिशा में प्रेरित करे, तब तो हमने उस समत्व का दुरुपयोग ही किया। इसी प्रकार भगवान के बाण के प्रहार में भी कृपा दिखे, तो इस सिद्धान्त का यह अर्थ तो नहीं होता कि हम यही चेष्टा करें कि हम अनुचित कार्यों में लगे रहें और यह मानें कि भगवान हमें मारेंगे भी तो भी कृपा ही होगी। भगवान तो रावण पर भी कृपा करते हैं, तो क्या हम रावण ही बनना चाहिए। कृपा की यह व्याख्या उचित नहीं है। कथा सुनने के पश्चात यदि किसी को यही प्रेरणा मिलती है तो उसने कथा के अर्थ को अपने अनुचित कार्यों के समर्थन में मोड़ लिया। अतः गोस्वामीजी बालि के संदर्भ में यही व्यंग्य करते हैं और लिखा, जब वह सुग्रीव की गर्जना सुन उसको मारने चला तो गोस्वामीजी यह नहीं लिखते हैं कि ज्ञानी बालि या भावुक बालि चला, अपितु वे लिखते हैं कि अभिमानी बालि चला–

अस कहि चला महा अभिमानी।
तृन समान सुग्रीवहि जानी।। ४/७/१

उसके व्यवहार से पता चल गया कि उसे कितना अभिमान है। अभिप्राय है कि हमारे ज्ञान और भावना की कसौटी तो हमारा व्यवहार है। यदि बालि की समझ में आ गया है कि श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं, तब तो उसे यही अनुभव करना चाहिए कि भगवान की कृपा मेरे ऊपर है, तो सुग्रीव के ऊपर भी है। परन्तु बालि के मन में अब भी यह बात बनी हुई है कि यह सुग्रीव मुझसे क्या

लड़ेगा? वह तो तिनके के समान है।

बालि के जीवन में ज्ञान भी सुग्रीव से अधिक है, ईश्वर के प्रति भावना भी अधिक है, मगर उसके जीवन में जो परिणाम निकलना चाहिए था, वह नहीं निकल रहा है। सुग्रीव पर प्रहार करके, उसे हराकर वह बड़ी प्रसन्नता का बोध कर रहा है।

दूसरी ओर सुग्रीव भी प्रभु का बल लेकर गये, तो बेचारे हार क्यों गये? यदि आप दूध लेने को फूटा लोटा लेकर किसी के पास जाएँ और वह उसे दूध से भर दे, पर घर आते तक सारा दूध बह जाए, तो देनेवाले का क्या दोष? सुग्रीव जब लड़ने चला तो वह भी सोचने लगा कि बालि इतना बलशाली है, क्या केवल भगवान के बल से हम उसे हरा पायेंगे? उसे भगवान के बल पर भी सन्देह हुआ और उसने एक चतुराई की। उसने सोचा कि ठीक है, भगवान का बल तो है ही, उसमें थोड़ा-सा अपना छल भी मिला दें, यह छल ही सबसे बड़ा छेद है, भगवान ने स्पष्ट कहा है कि–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। ५/४३/५

बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि। ४/८

अपना छल पहले, ईश्वर का बल बाद में, मानो सुग्रीव का विश्वास स्थिर नहीं है, उसमें छल-छिद्र है और उस छिद्रवाले बरतन में इतना बल दिया, इतनी कृपा दी, फिर भी उसने सब खो दिया, बालि से हार गया। इस संघर्ष में बालि विजयी हुआ, तब सुग्रीव के मन में निराशा हुई और भगवान के प्रति अनन्य शरणागति का भाव उदय हुआ। लगा कि प्रभो, अब तो आप ही मुझे बचा सकते हैं, आप ही मेरी रक्षा कीजिए। भगवान ने बाण चलाया और सुग्रीव की रक्षा हो गई।

इस तरह से सुग्रीव के चरित्र में साधना की दृष्टि से एक क्रमिक विकास है। इसके बाद भी सुग्रीव के चरित्र में समस्याएँ आती हैं। बालि का वध करने के बाद भगवान ने सुग्रीव को किष्कंधा का राज्य दे दिया, पर राज्य देते समय उन्होंने सुग्रीव को सावधान कर दिया। बोले, एक बात याद रखना, सीताजी का पता भी लगाना है, इस बात

को मत भूलना और भगवान ने ये सुग्रीव से ही नहीं हम सब लोगों से भी कहा है कि राज-काज, स्त्री, परिवार तो सब मिल गया, पर यह मत भूलना कि लक्ष्य जो है वह ये सब नहीं है, लक्ष्य है भक्तिरूपा सीताजी का पता लगाना–

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू।
संतत हृदयँ धरेहु मम काजू।। ४/११/६

लेकिन राज्य पाकर सुग्रीव एक बार फिर भूल गये। तब हनुमानजी और लक्ष्मणजी द्वारा भय दिखाकर उन्हें लौटाना पड़ा। इस तरह सुग्रीव के जीवन में मिठाई और कड़वी दवाई, दोनों का प्रयोग किया गया। बच्चों को मिठाई बड़ी पसन्द होती है। उनकी पढ़ाई का श्रीगणेश मिठाई से करना पड़ता है, स्कूल जाओगे तो मिठाई मिलेगी। पर मिठाई मिलने से यदि अजीर्ण हो जाए, तो दवाई भी देनी पड़ती है। सुग्रीव को भी राज्य मिला, पत्नी मिली, यह सब मिठाई थी, पर भोगों में पड़कर जब वे रोगग्रस्त हो गये, तो भगवान ने लक्ष्मणजी को भेजा कि अब तो दवाई देनी ही पड़ेगी और भगवान को उस समय बालि की ही याद आ गयी। उन्होंने कहा, जिस बाण से मैंने बालि को मारा, उसी से कल मैं सुग्रीव को भी मारूँगा–

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।। ४/१७/५

लक्ष्मणजी बोले, यह कार्य आप मुझे सौंप दें, मैं अभी जाकर उसे मार देता हूँ। प्रभु ने कहा, क्या तुम सोचते हो कि मैं सचमुच उसे मारने की योजना बना रहा हूँ? लक्ष्मणजी बोले कि प्रभो! अभी तो आप यही कह रहे थे। भगवान बोले, मैं इसलिए कह रहा था कि यह सुनकर डर के मारे शायद वह रास्ते पर आ जाए। जैसे कोई रोगी हो जाए और जिस दवा का प्रयोग करके वैद्य उसका अच्छा फल देख चुका हो, वही दवा उसे याद आती है कि यह दवा अमुक रोगी पर बहुत बढ़िया काम आई थी। यह उसी तरह का रोग दिखाई दे रहा है, इसलिए मैंने कहा कि वह बालि-वाली दवा ही ठीक है। लक्ष्मण, यह मेरा बाण ही तो दवा है। बालि के हृदय में जो रोग हो गया था, वह एक ही बाण से दूर हो गया, इसलिए यह बहुत बढ़िया दवा है। सुग्रीव को

मिठाई तो बहुत मिल गई, अब इस बाण की कड़वी दवा से उसके हृदय में, उसके जीवन में परिवर्तन हो, इसलिए मैंने ऐसा कहा। लक्ष्मणजी ने पूछा, प्रभो! अब करना क्या है? भगवान बोले कि भय के कारण ही तो सुग्रीव भक्त बना था। बालि को मिटा दिया तो उसका भय दूर हो गया और इसका परिणाम यह हुआ कि अब मुझे ही भूल गया, पर उसका स्वभाव अब भी वैसा ही है। जाओ, थोड़ा-सा डर उसमें फिर पैदा कर दो, वह फिर भक्त बन जाएगा। लक्ष्मणजी प्रसन्न होकर चलने लगे, तो सुग्रीव के डरपोक और भगोड़े स्वभाव को ध्यान में रखकर भगवान बोले, लक्ष्मण! जरा ध्यान रहे, वह जितना डरपोक है, उतना ही भगोड़ा भी है। ऐसा न डराना कि वह दूसरी ओर भाग खड़ा हो, बल्कि ऐसा डराना कि इधर ही आए—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।। ४/१८

इसी में भय का सदुपयोग है। भगवान कहते हैं—भय भय के लिए नहीं है, भय का उपयोग प्रेम के लिए है—

बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति। ५/५७

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके जीवन में बिना भय के प्रीति नहीं होती है। ऐसे लोगों के जीवन में प्रेम लाने के लिए भय का उपयोग करना चाहिए। भय करना बुरा है, भय नहीं करना चाहिए, ऐसा कहकर भय से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। जिनकी प्रकृति ही ऐसी बनी हुई है, उनके लिए भय से मुक्ति का कोई उपाय नहीं है, पर इसका भी सदुपयोग है। सुग्रीव के चरित्र में भय का यह रूप भी दिखाई देता है।

इसी तरह से बीच-बीच में उसके जीवन में एक-एक कमी दिखाई देती है और वह क्रमशः दूर होती जाती है, पर बालि के चरित्र में मानो एक क्षण में सब कुछ हो गया। उसकी छाती पर जब भगवान का बाण लगा, तो क्षणभर में कितना बड़ा परिवर्तन हो गया। उसने एक ऐसी लम्बी छलाँग लगाई कि सुग्रीव को जो जीवन भर में नहीं मिला, वह उसे क्षणभर में मिल गया। इसका सूत्र यह है कि **अहंता** और **ममता** यानी 'मैं' तथा 'मेरा' का भाव जीवन में दो ही चीजों का

त्याग सबसे कठिन है,—जो व्यक्ति **अहम्** एवं **मम** से मलिन है, उसके लिए ब्रह्मसुख अगम है—

कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु। २/२२५

आप बालि और भगवान के संवाद पर विचार करके देखें। क्या पता चलता है? भगवान ने बालि को खूब फटकारा। खूब आरोप लगाए। कहा कि तुम बड़े अभिमानी हो, लेकिन जिसने एक ही क्षण में **अहम्** और **मम** दोनों का इतना सुन्दर उपयोग किया, जो इतनी सरलता से **अहम्** और **मम** से ऊपर उठ गया, उस बालि की याद भगवान को आती है।

भगवान जब भी अंगद को याद करते हैं, उन्हें बालि की याद आ जाती है और इसलिए वे अंगद को बालिपुत्र कहकर ही सम्बोधित करते हैं। बालि जीवनभर विजेता रहा और अन्त में भी वह सुग्रीव से बाजी मार ले गया। कैसे? जब बालि ने भगवान से पूछा कि मेरा अपराध क्या है? भगवान ने कहा कि तुम बड़े अभिमानी हो। तब बालि ने बड़े कोमल शब्दों में भगवान से केवल यही निवेदन किया कि प्रभो, मैं अभिमानी तो अवश्य था, पर आपके सामने आने के बाद भी, आपका बाण लगने के बाद भी क्या मैं अभिमानी बना हुआ हूँ? और यदि बना हुआ हूँ तो इसका अर्थ यह हुआ कि अभिमान आपसे बड़ा है। आपकी विलक्षणता तो यही है न कि आपके सम्मुख होते ही अभिमान नष्ट हो जाता है? तो फिर बताइए कि क्या मैं अभिमानी हूँ? भगवान बालि की बात सुनकर तत्काल समझ गए और उन्होंने बालि के मस्तक पर हाथ रखकर कहा कि नहीं, नहीं, मैं अपनी योजना वापस लेता हूँ, अब मेरी इच्छा तुम्हें मारने की नहीं है, मैं चाहता हूँ कि तुम शरीर से अचल हो जाओ, शरीर की रक्षा करो—

अचल करौं तनु राखहु प्राना। ४/६/२

कितना बड़ा प्रलोभन है? व्यक्ति में मृत्यु से बचने का प्रलोभन कितना बड़ा होता है? और जब साक्षात् भगवान बालि से जीवित रहने के लिए कह रहे हैं। परन्तु बालि के विचार तथा भावुकता दोनों इतने अद्भुत रूप से सामने आईं कि उन्होंने **मना** कर दिया। उन्होंने दो कारणों से भगवान का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। एक तो उनको लगा

कि मैं जीवित रहकर प्रभु के लिए समस्या पैदा करूँगा। क्या? बोले कि वे सुग्रीव को कह चुके हैं कि बालि को मैं एक ही बाण से मारूँगा और वह बेचारा न जाने कब से सिंहासन पर बैठने की कल्पना कर रहा होगा। मैं जीवित रहा, तो प्रभु का वचन पूरा नहीं होगा। उनका वचन पूरा होना चाहिए। दूसरी बात यह कि बालि ने प्रभु से कहा, प्रभो, आप मुझसे जीवित रहने के लिए कह रहे हैं, तो समझ गया कि आप मुझसे पूरी तरह से प्रसन्न नहीं हैं। भगवान बोले कि बालि, यह तुम क्या कह रहे हो? ईश्वर कह रहा है कि तुम जीवित रहो और तुम कह रहे हो कि ईश्वर प्रसन्न नहीं हैं। बालि ने कहा कि नहीं, महाराज! शायद आपको लगता होगा कि मैं अहम् के केन्द्र बने हुए इस देह को ही सब कुछ मानता हूँ। क्योंकि व्यक्ति जब वह **मैं** कहता है, तो वह **मैं** को शरीर के रूप में देखता है। तो प्रभो, भले ही मैं कभी देहाभिमानी रहा होऊँ, पर मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि अब ऐसी बात नहीं है–

मोहि जानि अति अभिमानबस प्रभु कहेउ राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही।
अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ।।
(४/६/छं. १-२)

बालि ने भगवान से यहाँ तक कह दिया कि आप मुझे मुक्ति भी मत दीजिए। सुग्रीव तो राज्य पाकर प्रसन्न हो गये, परन्तु बालि ने कहा कि महाराज, यदि आपको लगता है कि अब भी मेरे पाप बचे हुए हैं, तो मैं चाहता हूँ कि मेरा जन्म हो, परन्तु एक वरदान आप मुझे अवश्य दीजिए, जन्म-जन्मान्तर में आपके चरणों में मेरा प्रेम बना रहे–

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ। ४/६/छं.

भगवान भाव-विभोर हो जाते हैं। पहले बालि से सुग्रीव हारा, फिर भगवान से बालि हारा, पर अन्त में अब बालि से भगवान हार जाते हैं। इस देहाभिमान से मुक्ति, अहम् का ऐसा त्याग कि जीवन में रंचमात्र भी ममता न हो। बालि ने अपनी अहंता और ममता का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया। अहम् था शरीर में और ममता थी अपने बेटे में। उसने दोनों को दो स्थानों में लगा दिया। अपनी अहंता को तो–

रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।। ४/१०

बालि ने देहाभिमान से मुक्त होकर अपने प्राणों की माला भगवान के चरणों में चढ़ा दी। तब हमारे प्रभु बालि के प्रेम में ऐसे बँधे कि आगे चलकर आप देखेंगे कि उसने अंगद को अपने पास बुला लिया और बोले, प्रभो, मेरी अहंता आपके चरणों में रहे। और अंगद का हाथ प्रभु के हाथ में देकर बोले, यह मेरी ममता रहे आपके कर-कमलों में। बालि ने कितनी सुन्दर बात कही–

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए। ४/१०/छं.

मरते समय वह कह सकता था, अच्छा, महाराज! इतना ध्यान रखिएगा कि मेरे सिंहासन पर मेरे बेटे को ही बैठाइएगा। लेकिन बालि ने यह बिल्कुल नहीं कहा। उसने कहा कि महाराज! इसको मैं इसलिए नहीं दे रहा हूँ कि आप इसे राज्य दें। तब क्यों दे रहे हो? इसे आप अपना दास बना लीजिए, यही मेरी सबसे बड़ी कामना है–

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए।।
(४/६/छं.)

इस प्रकार बालि ने क्षण भर में ही **अहंता** और **ममता** को त्यागकर ऐसी ऊँची छलाँग लगाई कि ज्ञान और भक्ति की दृष्टि से वह तत्काल बड़ी ऊँचाई पर पहुँच गया। अतः प्रभु जब सुवैल शैल पर विश्राम करने लगे, तो दो लोगों को अपने सिरहाने बैठाया और दो को चरणों में। सुग्रीव की गोद में प्रभु का सिर है, विभीषण कान के पास बैठे हैं, प्रभु का एक चरण अंगद की गोद में है और दूसरा हनुमानजी की गोद में–

बड़ भागी अंगद हनुमाना।
चरन कमल चापत बिधि नाना।। ६/१०/७

किसी ने पूछा, प्रभो! यह जो बैठने का क्रम है, इसमें भी तो कोई उद्देश्य होगा? भगवान बोले, मैंने पदों का बँटवारा कर दिया है। कैसे? बोले, एक जो लंका का राजपद था, वह विभीषण को दे दिया। दूसरा जो किष्किन्धा का राज्य था, वह सुग्रीव को दे दिया, पर ये अंगद

और हनुमान तो मेरा ही पद चाहते हैं, अतः इन्हें अपना ही पद दे दिया है, क्योंकि उन्हें अन्य किसी पद की अभिलाषा नहीं है। इस प्रकार बालि का चरित्र अहंता और ममता से मुक्त है, वह अंगद को समर्पित कर चुका है, जिसकी बाँह भगवान ने पकड़ ली है, भगवान उस बालि को कभी नहीं भूल पाते हैं और जब भी अंगद को सम्बोधित करते हैं, तो 'बालितनय' कहकर करते हैं। और बालि के पुत्र होने के नाते वे भी अहंता व ममता से मुक्त हैं।

⇔

।। श्री रामः शरणं मम।।

तृतीय

पिछले दो दिनों से आपके समक्ष अंगद चरित्र के माध्यम से गोस्वामीजी की दृष्टि और उसमें साधक के जीवन में क्या प्रेरक सूत्र हैं, उनको सुस्पष्ट करने की चेष्टा की जा रही थी। अंगद बालि का पुत्र है, पर बालि की अपेक्षा अंगद में एक विशेषता है। बालि जीवनभर स्वयं को अभिमान से मुक्त नहीं कर सका। बल्कि यों कह सकते हैं कि बालि जैसे सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति का सबसे बड़ा दोष उसका अभिमान था। बालि अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उस अभिमान का परित्याग करने में समर्थ होता है। वह अपने अहंकार को भगवान के चरणों में अर्पित कर देता है और ममता के केन्द्र अपने पुत्र को भगवान के सामने उपस्थित करता है। अंगद की प्रशंसा करते हुए बालि ने सबसे पहले यही कहा, प्रभो! मेरा यह पुत्र बड़ा 'विनयी' तथा 'बलवान' है–

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए। ४/१०

'विनयी' तथा 'बलवान' इन दोनों शब्दों के प्रयोग करने में बालि का तात्पर्य यह था कि कई लोग बड़े विनम्र तो होते हैं, पर वे स्वयं निर्बल होते हैं। अतः संसार में प्रायः निर्बलों में ही विनम्रता देखी जाती है और दूसरी ओर जो बलवान होते हैं उनमें बहुधा अपने बल का गर्व है। बल और विनय का सामंजस्य बड़ा ही दुर्लभ है। पर बालि ने अंगद की जो समीक्षा प्रस्तुत की, उसमें यही कहा कि महाराज! यह विनयी भी है और बलवान भी।

अंगद के चरित्र में जो विनम्रता है, इसका क्या अभिप्राय है? बालि सर्वश्रेष्ठ पुण्य का प्रतीक है, क्योंकि इन्द्र का पद सर्वश्रेष्ठ पुण्यात्मा

को प्राप्त होता है। पर उस पुण्य के साथ अभिमान जुड़ा हुआ है। बालि के पुत्र होने के नाते अंगद में बालि का वह पुण्य का अंश तो है, पर उसका पुण्याभिमान पूरी तौर से मिट चुका है। ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि अंगद बालि के पुण्य का परिशुद्ध रूप है, क्योंकि उसमें अभिमान का मैल नहीं है और पुण्य के परिणामस्वरूप विनम्रता का गुण भी अंगद में विद्यमान है। इसीलिए बालि के देहत्याग के बाद भगवान श्रीराम लक्ष्मणजी को आदेश देते हैं कि वे किष्किन्धा जाकर सुग्रीव का राजतिलक करें और अंगद को युवराज का पद दें—

राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ युवराज। ४/११

और इतना ही नहीं, बाद में जब वे सुग्रीव को आदेश देते हैं कि तुम किष्किन्धा का राज्य चलाओ, तो वे यह कहना नहीं भूलते कि ध्यान रहे कि किष्किन्धा का राज्य तुम्हें अकेले नहीं, अंगद को साथ लेकर उसकी सहमति से चलाना है—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। ४/११/६

अब यदि साधारण परम्परा की दृष्टि से देखें, तो भगवान श्री राघवेन्द्र द्वारा सुग्रीव को राज्य देना और अंगद को युवराज बनाना उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि प्राचीन परम्परा के अनुसार तो राज्य आनुवांशिक परम्परा से प्राप्त होता था। ऐसी परिस्थिति में जब कोई सिंहासन पर बैठता था, तो उसका पुत्र ही युवराज के पद पर अभिषिक्त किया जाता था। यहाँ पर भगवान उसे एक दूसरे ही रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे राज्य पद तो सुग्रीव को देते हैं, पर राज्य की परम्परा को सुग्रीव के वंश से न जोड़कर बालि के पुत्र अंगद को युवराज बनाने की आज्ञा देते हैं।

भगवान श्रीराम का यह कार्य कई सन्दर्भों में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें, तो भगवान का अभिप्राय यह है कि सुग्रीव सूर्य के पुत्र हैं। सूर्य प्रकाश है, विचार है, ज्ञान है और बालि इन्द्र का अंश है, वह पुण्य तथा सत्कर्म का प्रतीक है। बालि में अभिमान था, परन्तु अंगद ऐसे सत्कर्म और पुण्य के प्रतीक हैं, जिनमें अभिमान की वृत्ति नहीं है। भगवान जो इन दोनों के साथ रहना चाहिए, इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि ज्ञान एवं सत्कर्म एक-दूसरे के

विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं बहुधा समाज में एक बड़ा विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है, जो व्यक्ति अधिक कर्मपरायण होते हैं, वे प्रायः विचार को अनुपयोगी मानकर उससे भागते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विचार बहुत करते हैं, उनको कर्म के प्रति उनकी हेय दृष्टि होती है या कर्म में उनकी वृत्ति नहीं होती।

परन्तु विचार के द्वारा यदि कर्म की उपेक्षा हो या कर्म का परिणाम विचार की उपेक्षा हो, तो ये दोनों ही व्यक्ति और समाज के जीवन में अधूरे सत्य के परिचायक हैं। इसके पीछे एक रहस्य है और रामायण तथा महाभारत में भी इस सत्य की ओर ध्यान दिलाया गया है। महाभारत में कर्ण और अर्जुन दोनों सगे भाई हैं, पर वहाँ रामायण से ठीक उल्टा है। महाभारत में कर्ण सूर्य के पुत्र हैं और अर्जुन इन्द्र के। वहाँ दोनों भाइयों का जन्म एक ही माता के गर्भ से हुआ। दोनों सगे भाई थे, अतः दोनों में घनिष्ठ प्रेम होना चाहिए था। रामायण में भी बालि और सुग्रीव दोनों सगे भाई हैं, अतः उनमें परस्पर प्रेम होना चाहिए था, परन्तु महाभारत में समस्या यह आती है कि अर्जुन और कर्ण में टकराहट है और रामायण में भी यद्यपि बालि और सुग्रीव प्रारम्भ में तो जुड़े हुए थे, परन्तु आगे चलकर उनमें भी भेद उत्पन्न हो गया, शत्रुता पैदा हो गई। रामायण और महाभारत दोनों में ये जो दृष्टात हैं, ये जीवन के इसी सत्य को प्रकट करते हैं और यह समस्या बड़ी जटिल है कि कर्म और विचार कैसे एक दूसरे के पूरक हों। कर्म और विचार तो सगे भाई के समान हैं, परन्तु जब वे प्रेम के साथ एक-दूसरे के पूरक होकर रहें, तभी व्यक्ति के जीवन को सच्चे अर्थों में पूर्ण कहा जा सकता है।

समुद्र-मन्थन के सन्दर्भ में जो रूपक आया है, उसमें भी इसी बात की ओर विशेष संकेत है। वहाँ समुद्र-मन्थन के रूप में एक सामंजस्य का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। अमृत की आवश्यकता देवता और दैत्यों दोनों के अन्तःकरण में विद्यमान है और दोनों ही पक्ष अमृतत्व प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करते दिखाई देते हैं। पर अन्तर यही है कि देवता जिस अमृत को भगवान की सहायता और सत्कर्म के मार्ग से पाने चाहते हैं, वहीं पर राक्षसों के समक्ष मार्ग की समस्या को लेकर

कोई द्वन्द्व नहीं है। उन्हें तो अमृत चाहिए। चाहे जिस मार्ग से और जैसे भी। भगवान ने प्रयास यह किया कि सद्गुणों के रूप में जा देवता हैं, वे तो अमर हो जाय। और दुर्गुण रूप राक्षसों का विनाश हो जाय। बड़ी सांकेतिक भाषा है। जब आप खेत में बीज डालते हैं और वर्षा होती है तो बीज अंकुरित होते हैं, पर जो बीज आपने खेत में नहीं डाला, जो पहले से खेत में पड़े हुए घास-फूस के बीज हैं, वे भी अंकुरित होते हैं और वर्षा के जल से उन्हें भी जीवन मिलता है, शक्ति मिलती है। अब आप चाहें या न चाहें, धान के पौधे के साथ वे घास-फूस के पौधे भी वर्षा के जल से हरे-भरे होकर बढ़ेंगे ही। यह तो स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रयत्न करना पड़ता है कि वर्षा के जल का लाभ खेत में धान के पौधों को तो मिले, पर घास-फूस को न मिलने पाए। इसको उलट कर यों कहें कि जीवन में प्रयत्न यह करना है कि हमारे जीवन में सद्गुण तो अमर हों जाएँ, पर दुर्गुण न अमर हो सकें। दुर्गुणों के भी अमर हो जाने की बहुत बड़ी आशंका है। जिन्हें हम सद्गुण कहते हैं, जैसे निर्भयता, यदि यह निर्भयता देवता की वृत्ति में उदित हो, तो वह समाज के लिए बड़ा हितकर होगा, परन्तु देववृत्ति वाले निर्भय हों या न हों, परन्तु दैत्य वृत्तिवाले तो प्रारम्भ से ही निर्भय दिखाई देते हैं। इसलिए बड़ी विचित्र स्थिति पैदा हो जाती है। कहीं किसी गाँव में डाका पड़ता है, तो दस-बीस डाकू आकर अपनी निर्भयता के कारण पूरे गाँव को लूटकर ले जाते हैं; परन्तु गाँववाले बेचारे भले आदमी हैं, उनमें डाकुओं जितनी निर्भयता की वृत्ति नहीं है, इसलिए लूट लिए जाते हैं। अतः समस्या यह है कि गुण कहीं किसी ऐसे व्यक्ति को प्राप्त न हो जाए, जो उसका दुरुपयोग करे और यह आशंका तो बनी ही रहेगी।

पुराणों में जिनका राक्षसों या दैत्यों के रूप में वर्णन किया गया है और जिन्हें हम खलनायक या दुर्गुण-दुर्विचारों के रूप में देखते हैं, उनके जीवन में भी अमृत या सद्गुण पक्ष दिखाई देते हैं। उनके विषय में कभी-कभी बड़े जोर-शोर के साथ इस पक्ष पर बल दिया जाता है। किसी ने तो गोस्वामीजी पर ऐसा भी आक्षेप किया कि वे श्रीराम के इतने पक्षपाती थे कि उन्होंने रावण के महान गुणों का वर्णन ही नहीं

किया, उनकी महानता का उल्लेख ही नहीं किया। ठीक है, परन्तु गोस्वामीजी ही क्यों, यह पक्षपात तो भगवान विष्णु से शुरू हो गया। वे यह तो कह देते हैं कि देवता और दैत्य मिलकर अमृत मन्थन करें, पर प्रयत्न यही करते हैं कि अमर देवता ही हों, दैत्य अमर न हो सकें। अब यह भगवान का पक्षपात है या नहीं? लोकहित के लिए इस प्रकार का पक्षपात आवश्यक है या नहीं? यों तो नारद जब रुष्ट हुए, तो उन्होंने भगवान पर यही आक्षेप किया कि तुम्हारे जैसा विचित्र बँटवारा करनेवाला दूसरा कोई नहीं होगा। जब परिश्रम देवता और दैत्य ने समान रूप से मिलकर किया है, तो पुरस्कार का बँटवारा भी तो बराबरी का ही होना चाहिए या नहीं? फिर तुमने ऐसा पक्षपात कैसे कर दिया?

वैसे यदि साधारण दृष्टि से देखें तो नारद की बात ठीक लगती है, पर वस्तुतः नारद बड़ी विचित्र-सी बात कहते हैं—

असुर सुरा बिष संकरहिं आपु रमा मनि चारु। १/१३६

सबसे पहले तो उन्होंने असुरों का पक्ष लिया और यह कह दिया, "बेचारे दैत्यों ने अमृत के लिए कितना प्रयत्न किया था, समुद्र-मन्थन के लिए कितना परिश्रम किया था, पर तुमने उनको शराब पिला दी।" भगवान ने नारद की यह बात सुनी तो उनके होठों पर मुस्कुराहट आ गई, बोले, "चलो, अब तुम भी असुरों का समर्थन करने लगे, तुम्हें लगा कि मैंने असुरों के साथ अन्याय किया। चलो भाई, तुम्हारी दृष्टि आज बदली हुई है।" नारद ने कहा, "असुरों के साथ ही नहीं, अपने प्रियजनों के साथ भी तुमने इतना बड़ा अन्याय किया है, क्योंकि समुद्र से जब विष निकला तो उसे तुमने शंकरजी को पिला दिया, पर जब लक्ष्मीजी प्रकट हुई और कौस्तुभमणि निकली।" फिर यह भी कह दिया और तुम स्वयं भी कोई निःस्वार्थी नहीं हो, क्योंकि लक्ष्मी जी आईं, तो उनको तुमने स्वयं अपने लिए स्वीकार कर लिया; कौस्तुभमणि निकला, तो उसे अपने गले में पहन लिया। इससे सिद्ध होता है कि तुम घोर स्वार्थी तथा पक्षपाती हो और अपने प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति के भी हितैषी नहीं हो।'

अब इस दृष्टि से तो लगता है कि बात बिल्कुल ठीक है, पर इसके अन्तरंग तत्त्व पर विचार करें, तो लगेगा कि इसका तात्पर्य

बिल्कुल ही भिन्न है और वही जीवन का सत्य भी है। क्या जीवन में समान परिश्रम करने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को एक ही स्थिति प्राप्त होती है? मनःस्थिति की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति एक ही जैसा कर्म करे; तो क्या उन्हें एक जैसा ही फल मिलता है? एक विद्यालय में अनेक विद्यार्थी पढ़ते हैं। वे नित्य नियमित रूप से हर कक्षा में उपस्थित रहते हैं, तो क्या कक्षा में पढ़ाई के आधार पर प्रत्येक विद्यार्थी की स्थिति एक जैसी होगी? नहीं होगी। एक ही कक्षा में पढ़नेवाले विद्यार्थी विद्या का परिणाम भिन्न-भिन्न रूपों में प्राप्त करेंगे। कोई उतनी ही शिक्षा पाकर उच्च-से-उच्च पद पर पहुँच जाता है और कोई व्यक्ति बिल्कुल नीचे ही रह जाता है। अभिप्राय यह कि केवल समान श्रम का नहीं, बल्कि वस्तुतः पात्रता का महत्त्व है। श्रम के साथ-साथ पात्रता का भी सन्दर्भ जुड़ा हुआ है।

भगवान का तात्पर्य यह था कि जिसे अमृत प्राप्त नहीं होना चाहिए उसको यदि अमरता मिल जाय तो यह न तो समाज के लिए हितकर होगा और न उसके लिए ही। तब क्या किया जाय? यह बात बड़ी ध्यान देने योग्य है। यदि दैत्य अमर हो जाए, तो क्या इससे उसका कल्याण होगा? रामायण में तो रावण के बारे में आपको यही सूत्र मिलेगा। विभीषण ने आकर भगवान राम को सूचना दी कि महाराज! रावण एक यज्ञ कर रहा है। भगवान बोले–यह तो बड़ी शुभ सूचना है। यज्ञ को ध्वंस करनेवाला यज्ञ कर रहा है, तो इससे अच्छी बात और क्या होगी? विभीषण ने कहा–पर महाराज! इस यज्ञ का फल क्या होगा? क्या होगा? बोले कि रावण अमर हो जाएगा। अब यह अमर हो जाना अच्छी बात है या बुरी? भगवान राम ने पूछा कि तुम्हें क्या लगता है? तो विभीषण द्वारा रावण के लिए प्रयोग किया गया शब्द बड़ा ही सार्थक था। उन्होंने कहा कि इस यज्ञ के सिद्ध हो जाने पर वह अभागा मरेगा नहीं–

नाथ करइ रावन एक जागा।
सिद्ध भएँ नहिं मरिहि अभागा।। ६/८४/२

यदि वह अमर हो जाता है तब तो उसे भाग्यशाली कहना चाहिए, पर वे कहते हैं कि महाराज, वह अभागा नहीं मरेगा। इसका अर्थ क्या

हुआ कि अमर होकर वह सबको मारेगा। एक व्यक्ति यदि अमर होकर लाखों लोगों को कष्ट दे, उन्हें मारे, तो इस अमरता में किसका कल्याण है? किसी का नहीं। उसमें संकेत यह था कि रावण के मरने में उसके स्वयं का भी कल्याण है और समाज का भी। क्यों? इसलिए कि रावण मरेगा, तो मैं जानता हूँ आप उसे मुक्ति अवश्य देंगे। इसमें रावण का भी कल्याण है और रावण जैसे व्यक्ति मर जाए, तो लोग भी संकट से मुक्त हो जाएँगे। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनकी अमरता समाज के लिए और स्वयं उसके लिए बड़ी दुःखदायी होती है। उनकी मृत्यु स्वयं उनके और समाज के लिए भी कल्याणकारी है।

वस्तुतः भगवान द्वारा अमृत-वितरण करते समय जो पक्षपात दिखाई देता है, वह केवल बहिरंग दृष्टि से दिखाई देनेवाली विषमता है। समान रूप से वितरण कर दिया जाए, यह सूत्र तो बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है, परन्तु बिना परिणाम का विचार किये, यदि समान वितरण किया जाए, तो वह समान वितरण कल्याणकारी नहीं होगा। अतः भगवान विष्णु के वितरण में जो पक्षपात दिखाई देता है, वह केवल स्थूल दृष्टि से दिखाई देता है, अन्तरंग दृष्टि से नहीं। उसमें संकेत क्या था? भगवान नारदजी पर हँसते हुए बोले, "नारद, तुम कहते हो कि मैंने शंकरजी को जहर पिला दिया, लेकिन जिनको मैंने जहर पिलाया, उन्होंने तो मुझे कभी उलाहना नहीं दी और तुम उनका पक्ष लेकर उलाहना दे रहे हो। विचार करके देखो, असुरों का और समाज का भी कल्याण तो उनकी मृत्यु में ही है। इसेलिए असुरों को अमृत नहीं मिलना चाहिए और शंकरजी को विष इसलिए मिलना चाहिए कि विष को विष तब कहते हैं, जब वह व्यक्ति को मार दे, पर इस विषपान के द्वारा तो शंकरजी की महिमा और भी प्रकट हो गई कि संसार के अन्य देवता तो अमृत पीकर अमर हुए मगर शंकरजी ने तो विष को भी अमृत बना लिया, वे तो विष पीकर अमर हो गये। इस प्रकार से शंकरजी ने तो अपनी ऐसी महिमा, ऐसा दिव्यरूप प्रकट किया कि अमृत में ही अमृतत्व नहीं है, विष में भी अमृतत्व छिपा हुआ है–

कालकूट फल दीन्ह अमी को। १/१८/८

यह एक बड़ा विलक्षण सत्य है और यह सर्वोत्कृष्ट दृष्टि भगवान

शिव की है। यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि विष घातक है और अमृत कल्याणकारी, पर विष भी अमृत के रूप में परिणत हो सकता है, इस सत्य को अद्वैततत्त्व के परमाचार्य भगवान शिव ने अपने चरित्र के द्वारा प्रकट करके दिखाया।

ऐसी स्थिति में समुद्र-मन्थन की प्रक्रिया केवल इतिहास का ही नहीं, बल्कि समाज का भी शाश्वत सत्य है। समाज में जब निरन्तर इस प्रकार से मन्थन और वितरण होगा, तभी समाज का कल्याण होगा। इस प्रकार समाज में कुछ लोग विष पीने वाले रहेंगे और कुछ अमृत पीने वाले।

वाह्य दृष्टि से देखने पर लक्ष्मी के सन्दर्भ में भगवान बड़े स्वार्थी दिखाई दे रहे हैं, क्योंकि उन्होंने लक्ष्मी को स्वयं ले लिया, पर आप श्रीमद्भागवत पढ़िए, जब लक्ष्मीजी निकलीं तो सारे देवता उन्हीं की ओर देखने लगे। लक्ष्मीजी की सखियों ने कहा कि आप जिन्हें चाहें, वरमाला पहनाकर उनका वरण करें। लक्ष्मीजी ने देखा कि प्रत्येक देवता में कुछ गुण हैं तो कुछ दोष भी हैं, पर जब उन्होंने भगवान नारायण को देखा कि वे तो सर्वगुणसम्पन्न हैं। उनमें कोई दोष है ही नहीं। सखियों ने पूछा कि क्या इनमें भी कोई दोष है? बोलीं, नहीं, पर इनके प्रति मेरे मन में एक उलाहना अवश्य है। क्या? बोलीं, "सारे देवता मेरी ओर देख रहे हैं, मुझे पाने को लालायित हैं, पर ये ही अकेले ऐसे हैं, जिनकी दृष्टि मेरी ओर नहीं है। मैं तो सोचती हूँ कि इन्हीं के गले में वरमाला डाल दूँ।" बड़ी सांकेतिक भाषा है। यहाँ अभिप्राय यह है कि जो लक्ष्मीजी को चाहनेवाले हैं, उन्हें यदि वे मिलेंगी, तब तो वे उसे संचित करके रखने की ही चेष्टा करेंगे, पर जिनके जीवन में लक्ष्मी के प्रति आसक्ति नहीं है, उन्हें जब वे मिलेंगी, तो उससे लोक-कल्याण होगा।

संसार में महानतम विष के तुल्य घटनाएँ होती हैं, समस्याएँ आती हैं, उनको पचा लेनेवाले, उसको आत्मसात् कर लेनेवाले भगवान शिव के समान महान तत्वज्ञ और दूसरी ओर भगवान विष्णु जैसे महान निरपेक्ष चरित्र भी होते हैं।

भगवान विष्णु के साथ कौस्तुभमणि की भी कथा जुड़ी हुई है।

उसका भी रहस्य समझ लेने योग्य है। अन्य किसी मणि को धागे में पिरोने के बाद ही उसे धारण किया जाता है। और यह कौस्तुभमणि, जिसे भगवान अपने गले में धारण किए हुए हैं, वह किस धागे में पिरोई हुई है, सोने के धागे में कि चाँदी के धागे में कि सूत के धागे में? पुराणों में उसका बड़ा अनोखा वर्णन किया गया है। वहाँ संकेत यह है कि कौस्तुभमणि बिना किसी धागे के, बिना किसी सूत्र के, भगवान के गले से लग जाती है। यह बड़ा सार्थक संकेत है। जब हम किसी मणि को धागे में पिरोकर धारण करते हैं, तो उसमें छिद्र करना पड़ता है, पर कौस्तुभमणि निश्छिद्र है और बिना किसी प्रयत्न के इसका भगवान के हृदय की ओर आकर्षण है। जब परशुरामजी की भगवान श्रीराम से वार्ता हुई और उन्हें सन्देह हुआ कि राम ईश्वर हैं या मनुष्य। उन्होंने श्रीराम से एक प्रस्ताव किया। उनके कन्धे पर धनुष था। उसे कन्धे से उतारकर वे बोले कि राम! यदि तुम इस धनुष को खींचकर चढ़ा दोगे, तो मैं समझ लूँगा कि भगवान का अवतार हो गया और मेरे कार्यकाल की सीमा अब समाप्त हो गई—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैचहु मिटै मोर संदेहू।। १/२८३/७

बड़ी सांकेतिक भाषा है। परशुरामजी को आशा थी कि श्रीराम धनुष लेंगे और खींचकर डोरी चढ़ाएँगे। अन्य रामायणों में यह कथा भिन्न रूपों में भी है। कहीं यह कथा इस रूप में भी आयी है कि श्रीराम ने परशुराम जी से धनुष ले लिया और उसकी डोरी चढ़ाकर, उस पर बाण चढ़ाकर उनसे पूछा कि अब बताइए, इस बाण का उपयोग कहाँ करूँ? तो वहाँ वर्णन आता है कि परशुरामजी ने कहा कि मेरी जो लोकान्तर की गति है, उसी को इस बाण से अवरुद्ध कर दीजिए।

इस प्रकार भगवान राम और परशुराम जी के संवाद का वर्णन किया गया है, पर 'मानस' में जो वर्णन है, वह तो बड़ा अनूठा है। उसमें जो समग्रता है, वह अन्य संवादों में नहीं है। परशुरामजी भगवान से धनुष लेने को कहते हैं, पर भगवान अपना हाथ नहीं बढ़ाते। फिर परशुरामजी ने बड़े आश्चर्य से देखा कि धनुष स्वयं उनके हाथ से निकल कर भगवान के हाथ में चला गया। परशुराम जी को लगा कि यह क्या बात हुई? उनके मन में दोनों के प्रति उलाहना आया, धनुष

के प्रति भी और श्रीराम के प्रति भी। धनुष के प्रति यह उलाहना आया कि इतने दिनों तक मेरे पास रहे और मुझे छोड़कर भागने के लिए इतने बेचैन थे? और श्रीराम के प्रति उलाहना यह कि जब मैंने खींचने के लिए कहा तो इन्होंने खींचा क्यों नहीं? ये हाथ बढ़ाकर खींचते तो ठीक होता।

जब परशुरामजी ने धनुष से पूछा—तुम इतने उतावले होकर भाग क्यों खड़े हुए? धनुष ने कहा कि महाराज! आपने तो मुझे इतने दिनों तक कन्धे पर ढोया, अब भागकर मैं आपका बोझ ही तो हल्का कर रहा हूँ। अब मुझे ढोने का भार आप पर नहीं रह गया। आपके इस भार को उतारनेवाले राम आ गए हैं। भार उतारने के लिए श्रीराम का अवतार हुआ है। आपको प्रसन्न होना चाहिए कि अब आपको मेरा भार उठाने की आवश्यकता नहीं है। आप तो इनका परिचय भी जानना चाहते थे। इसके साथ-साथ मेरा स्वार्थ भी था। क्या? "आप वह सामने पड़ा हुआ धनुष देख रहे हैं न, चढ़ाने-बढ़ाने के झंझट में वह टूटा पड़ा है। क्या आप समझते हैं कि मैं भी टूटकर ही मानता? पहले से ही समर्पित हो जाने में कल्याण है। अभिमान से तनने में निरन्तर टूटने की सम्भावना बनी रहती है।" परन्तु जब परशुरामजी ने भगवान श्रीराम से पूछा कि तुमने धनुष को खींचा क्यों नहीं? तो भगवान बोले कि महाराज, संशयी व्यक्ति के चित्त को प्रयत्नपूर्वक खींचना पड़ता है, परन्तु आपके समान पवित्र अन्तःकरण वाले सन्त को बलपूर्वक खींचने की आवश्यकता थोड़े ही है, वह तो स्वयं ही खींचा चला जाता है। ऐसा भी होता है कि कुछ लोगों का चित्त अपनी ओर खींचने के लिए भगवान को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह स्वयं भगवान की ओर खिंचकर चला आता है। कौस्तुभमणि के सन्दर्भ में भी यही संकेत है कि प्रभु को न तो लक्ष्मी की आवश्यकता है और न कौस्तुभमणि की, पर यह कौस्तुभमणि भी बिना किसी छिद्र के, बिना किसी सूत्र के भगवान के हृदय में पहुँचकर अपने को धन्य मानती हैं। भगवान का सौन्दर्य तो अपने आप में परिपूर्ण है; परन्तु 'भगवान के पास पहुँचे बिना हम अपूर्ण हैं'। इस बोध के कारण यह कौस्तुभमणि और लक्ष्मी भगवान के पास हैं।

इसी प्रकार भगवान की प्रेरणा से सारे असुरों की मृत्यु हो गयी तो एक ओर तो वे मुक्त हो गये और दूसरी ओर समाज भी असुरों के अभिशाप से मुक्त हो गया, पर इसके अन्तरंग रूप पर विचार करें तो समुद्र-मन्थन का रूपक गोस्वामीजी को अत्यन्त प्रिय है, वे कई प्रसंगों में इसका उल्लेख करते हैं और भगवान राम के वन-गमन को भी उन्होंने समुद्र-मन्थन के रूप में प्रस्तुत किया है। वेद के अध्ययन को भी वे समुद्र-मन्थन के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के विविध क्षेत्रों में यह अमृत-मन्थन की प्रक्रिया चलनी चाहिए और उस प्रक्रिया में भी वही सूत्र है। पहला सूत्र तो यह है कि भगवान ने कहा—समुद्र में रत्न है, उसे प्रकट करना है। सब कुछ होते हुए भी जब तक उसे प्रगट न किया जाए, तब तक उसका लाभ क्या है? जैसे पृथ्वी में सोना भी छिपा हुआ है, लोहा भी और कोयला भी, पर जब तक उसे पृथ्वी के अन्तराल से बाहर प्रकट न किया जाए, तब तक उसके होने भर से क्या लाभ? भगवान कहते हैं कि समुद्र में सारी वस्तुएँ छिपी हुई हैं, तुम सब मिलकर मन्थन करके उसे प्रकट करो।

यह मन्थन क्या है? यही कर्म है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति अगर संसार में प्रयत्न नहीं करेगा, पुरुषार्थ नहीं करेगा, कर्म नहीं करेगा और बिना प्रयत्न किये ही वह कल्पना करे कि हम जीवन में अमृतत्व प्राप्त कर लेंगे, तो वह सम्भव नहीं है। इसलिए भगवान संकेत करते हैं कि उस अमृतत्व को पाने के लिए पुरुषार्थ करो, पर अगला संकेत और भी महत्व का है।

समुद्र-मन्थन के लिए तीन वस्तुओं के संयोग की आवश्यकता है। देवताओं ने कहा कि महाराज, मन्थन तो हम लोग करेंगे, पर इसके लिए मथानी किसकी बनेगी और मथानी को चलाने के लिए रस्सी कौन-सी होगी? तो भगवान ने संकेत दिया कि मन्दराचल पर्वत को मथानी बनाओ। यह सूत्र बड़े महत्त्व का है। यह मन्दराचल शब्द बना कैसे है? मन्दर और अचल, इन दो शब्दों को मिलाकर यह मन्दराचल शब्द बना है। अचल का अर्थ है, जो चलता नहीं है, जो डिगता नहीं है। मन्दराचल पर्वत है, वह अचल है, अडिग है। पर्वत अचल और

अडिग होता है, इसलिए पर्वत का एक नाम अचल भी है। भगवान बड़ी अनोखी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि मन्दराचल पर्वत को मथानी बनाओ, इसके अर्थ पर ध्यान दीजिए। जब उस पर्वत को मथानी बनाया जाएगा तो वह अचल रहेगा या चलेगा? अब यदि मथानी चलेगी नहीं तो मन्थन कैसे होगा? दही के बर्तन में मथानी डालकर आप यदि बैठ जाएँ, तो भले ही आप दस दिन बैठे रहें, पर कुछ भी नहीं मिलने वाला है। उस मथानी को चलाना होगा। भगवान बड़ी अनोखी बात कहते हैं। मन्दर तो है अचल, अब इस अचल मन्दर को किस तरह चल बनाना है? यह मन्दर क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं—विचार ही मन्दराचल पर्वत है—

मुदिताँ मथै बिचार मथानी। ७/११६/१५

विचार के साथ वही समस्या जुड़ी हुई है कि जहाँ विचार आता है, वहाँ पर स्थिरता आ जाती है और विचार जहाँ स्थिरता के रूप में रहे, तो कई लोग यह कहकर प्रशंसा करते हैं कि ये तो अपने विचारों पर अडिग हैं, स्थिर हैं। पर याद रखिए, विचारों का अडिग और स्थिर रहना ही गुण नहीं है, उसे जरा गतिशील भी बनाइए। यह जो विचार है, उसको हम कर्म के साथ जोड़कर गतिशील करें। अचल को चल कैसे बनाएँ? इसकी पद्धति भगवान ने बता दी है। भगवान का अभिप्राय यह था कि आप कर्म कीजिए, केवल विचार के कारण कहीं आपके जीवन में जड़ता न आ जाए। स्थिरता कभी-कभी जड़ता का रूप ग्रहण कर लेती है। मनुष्य जब विचारक बन जाता है, तो कभी-कभी उसमें जड़ता आ जाती है। विचार जड़ न हो जाए, इसलिए हमारी सारी पौराणिक कथाएँ हमें सावधान करती हैं।

पार्वतीजी भगवान शंकर की प्रिया हैं। ये पार्वतीजी किसकी पुत्री हैं? किसी राजा का नाम लिया जा सकता था, पर नहीं, पुराणों में यह कहा गया कि वे हिमालय की पुत्री हैं। इसका तात्पर्य क्या हुआ? पर्वत को, पत्थर को तो संसार में जड़ माना जाता है, पर जब यह कहा गया कि हिमालय से पुत्री का जन्म हुआ तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि जड़ता में भी गुण है, उसकी अचलता और अडिगता उसका गुण है। पर यह ध्यान रखें, यह जड़ताजन्य अडिगता नहीं है,

क्योंकि यहाँ पर परम चैतन्यमयी का जन्म हो रहा है, इसलिए इसमें मूल तत्त्व यही है कि यह हिमालय चैतन्य है। पार्वती मूर्तिमती श्रद्धा हैं। श्रद्धा का जन्म कब होगा? जब उसमें अडिग आस्था के साथ ही चैतन्यता भी हो। हिमालय यदि जड़ है, तो पत्थर की बेटी का अर्थ अलग है। उस अर्थ में भी उसे श्रद्धा से जोड़ दिया गया। जब सप्तर्षि पार्वती पर व्यंग्य करने लगे, बोले—आप किससे विवाह करना चाहती हैं? पार्वती ने कहा—शंकरजी को पति के रूप में वरण करना चाहती हूँ—

चाहिअ सदा सिवहि भरतारा। १/७७/७

तो सातों ऋषि एक साथ में हँस पड़े—

सुनत बचन बिहसे रिषय गिरिसंभव तव देह। १/७८

ठीक है, पत्थर की बेटी, तुम अपनी जड़ता का ही तो परिचय दोगी।

पार्वतीजी ने जड़ता को दो अर्थों में लिया। उन्होंने कहा कि यदि आप पत्थर का जड़ता के रूप में अर्थ लेते हैं तो भूल मैंने नहीं की है, अपितु आप कर रहे हैं। मैं यह अर्थ नहीं लेती, मेरा अर्थ दूसरा है। ऋषियों ने कहा कि क्या पत्थर जड़ नहीं है? बोलीं कि पत्थर यदि जड़ है, तो पत्थर की बेटी को जो समझाने की चेष्टा करे, उसे जड़ कहें या चेतन? पत्थर भला क्या समझेगा? पत्थर के सामने खड़े होकर रोज भाषण दिया करें, पत्थर तो ज्यों का त्यों रहेगा। आप यदि मुझे जड़ मानते हैं तो समझाने की चेष्टा न करें, पर यदि मेरी दृष्टि से देखें तो, सोना भी पत्थर से ही निकलता है। लेकिन उस सोने की विशेषता यही है कि अग्नि में जलने पर भी वह अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता—

कनकउ पुनि पषान तें होई।
जारेहुँ सहजु न परिहर सोई।। १/७९/६

अभिप्राय यह है कि अडिग आस्था से ही श्रद्धा का जन्म होता है। कठिन-से-कठिन और प्रतिकूल समय में भी उसमें विकृति नहीं आती और उस अडिग श्रद्धा की सचलता यही है कि वह आन्तरिक रूप से तो श्रद्धा है ही, पर बाह्य रूप से भी वह शिव को पाकर धन्य होना चाहे। श्रद्धा का यही वास्तविक स्वरूप है। भगवान शिव भी यदि गरल

को कंठ में धारण कर सके तो उसी विश्वास के कारण कर सके जो भगवान विष्णु के प्रति अडिग है। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि हमारे जीवन में विचार केवल अडिग आस्था में न रहकर गतियुक्त बने, अचल से सचल बने और तीसरी बड़ी आवश्यक वस्तु और जुड़ गयी। कौन-सी?

जब मन्थन करेंगे, तो कर्म होगा। जब मन्दराचल को चलाया जाएगा, तो वह विचार का प्रयोग हुआ। अब ईश्वर की आवश्यकता है या नहीं? बड़ी मधुर बात आयी। प्रश्न उठा, प्रभो, आपने मथानी इतनी बड़ी बना दी, परन्तु मथानी के साथ यह समस्या है कि वह इतनी भारी न हो कि बर्तन ही टूट जाए। यदि आप कहीं मटके में उससे भी अधिक वजन की मथानी डाल दें तो घड़ा ही टूट जाएगा। तो जब इतना बड़ा पहाड़ मन्दराचल समुद्र में डाला जाएगा, तो वह टिकेगा कहाँ? तो भगवान ने कहा, यह कार्य मुझ पर छोड़ दो। तब भगवान कछुआ बन गये और उस मथानी को अपनी पीठ पर ले लिया। कितना सांकेतिक अभिप्राय है। क्या? यह कि ईश्वर जो हमारे समस्त कर्म और विचार का आधार है, वह प्रत्यक्ष भले ही न हो, पर अन्तराल में आधार वही है, कर्म और विचार का आधार ईश्वर होना चाहिए। विचार गतियुक्त हो और उसके साथ-साथ प्रयत्न और कर्म भी हो, तो इस प्रक्रिया से अमृतत्व की प्राप्ति होगी।

यह है समुद्र-मन्थन का तात्पर्य। रामायण और महाभारत में, या फिर आप गीता के उपदेशों को पढ़ें, चेष्टा सर्वत्र यही की गयी है कि कहीं विचार व्यक्ति को निष्क्रिय न बना दे या कर्म की आसक्ति कहीं व्यक्ति को विचारशून्य न बना दे।

अर्जुन के सामने यही समस्या है। अर्जुन जब बहुत विचार करते हैं, उनके मन में जब विचार उमड़ा तो उसका एक परिणाम आया, उनके मन में आया कि हम युद्ध नहीं करेंगे। एक विचारक के रूप में युद्ध के क्या-क्या दुष्परिणाम होंगे, वह अर्जुन के मन में आया और इससे अर्जुन के मन में युद्ध से विरक्ति हो गयी। भगवान अर्जुन को कर्म के लिए प्रेरित करते हैं, पर इस कर्म में विशेषता यही है कि उस कर्म के साथ भगवान विचार को भी जोड़ देते हैं और साथ ही शरणागति

का उपदेश देकर कर्म, भक्ति और ज्ञान का सामंजस्य करते हैं। गीता का तत्त्व भी यही है और 'मानस' में भी इसी ओर संकेत किया गया है। दोनों में यही समस्या है। भगवान श्रीकृष्ण चाहते हैं कि कर्ण और अर्जुन साथ रहें, एक-दूसरे के पूरक बनें। इसीलिए आप महाभारत में पढ़ते हैं कि भगवान जब सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गये और लौटते समय जब वे बाहर निकले तो कर्ण भी उन्हें पहुँचाने के लिए बाहर तक आया। तब भगवान ने कर्ण से प्रस्ताव किया कि कर्ण, तुम मेरे रथ में आकर बैठ जाओ। यह सांकेतिक भाषा है। भगवान जो बात कहना चाहते थे, वह तो अकेले में भी बुलाकर कह सकते थे, लेकिन भगवान ने कर्ण को अपने रथ पर बैठाया। यह मानो भविष्य की सांकेतिक तुलना है। भगवान का तात्पर्य यह है कि तुम्हारा भाई मुझे अपने रथ पर बैठाएगा, पर तुम तो मुझे अपने रथ पर बैठानेवाले नहीं हो, तो कम-से-कम मेरे ही रथ पर तुम बैठ जाओ। अर्जुन तो अपनी बागडोर मुझे सौंपने के लिए प्रस्तुत हैं, पर तुममें वह धारणा नहीं है, मुझ पर तुम्हें वैसा विश्वास नहीं है। इसलिए मैं तुमसे प्रस्ताव करता हूँ कि तुम आओ, अपने आपको पहचानो कि तुम कौन हो? तुम अर्जुन के बड़े भाई हो, युधिष्ठिर के भी बड़े भाई हो, अपने स्वरूप को पहचानो, अपने कर्तव्य को पहचानो, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि सिंहासन पर तुम बैठोगे, राज्य तुम करोगे और युधिष्ठिर, अर्जुन आदि सभी भाई तुम्हारी सेवा करेंगे। व्यवहार के अर्थ में तो लोग कहेंगे कि यह भगवान की कूटनीति है या छल-कपटपूर्वक कर्ण को दुर्योधन से अलग करने की चेष्टा है, पर आन्तरिक दृष्टि से तो भगवान कर्ण को वही बता रहे हैं, जो जीवन का सत्य है। भगवान का तात्पर्य है कि सूर्य का पुत्र ज्ञान सिंहासन पर बैठे, ज्ञान राज्य करे और धर्म उसकी सेवा करे, राजा युधिष्ठिर नहीं, कर्ण हो। सूर्य से उत्पन्न होने के कारण कर्ण ज्ञान का प्रतीक है एवं महाराज युधिष्ठिर धर्म के प्रतीक हैं। भगवान की मान्यता यह है कि धर्म भी वन्दनीय है और ज्ञान भी, पर दोनों में अधिक वन्दनीयता की दृष्टि से विचार करके देखा जाए तो ज्ञान अधिक वन्दनीय है। ज्ञान सिंहासन पर बैठे और धर्म उसकी सेवा करे। भगवान इसकी ओर कर्ण का ध्यान आकृष्ट करते हैं, पर

कर्ण की समस्या वही है जो बहुत बुद्धिमानों की होती है। कर्ण ने कहा, महाराज! जो आप कह रहे हैं, मैं सब समझता हूँ। महाभारत में तो आता है कि कर्ण भगवान को न जाने कितने सपने सुना गया। कहा, आजकल मैं यह सपना देखता हूँ, वह सपना देखता हूँ और कर्ण ने जितने सपने सुनाये, वे अपशकुन वाले थे, विनाश और मृत्यु का संकेत देनेवाले थे। भगवान ने कहा कि तुमने इन सपनों का क्या अर्थ लिया? बोले, अर्थ यही लिया कि दुर्योधन का विनाश होगा। परन्तु सपना तो मनुष्य को सावधान करने के लिए आता है, पर तुमने इसका क्या निष्कर्ष निकाला? बोले कि महाराज, अब चाहे जो भी हो, पर मैं दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ सकूँगा। तो ऐसा ज्ञान किस काम का जो सब जानने-समझने के बाद भी यही कहे कि हम तो मोह के साथ ही रहेंगे, सेवा तो अन्धे के पुत्र की ही करेंगे, आप चाहे जितना भी समझाइए, हम उसका साथ नहीं छोड़ सकते। तब भगवान यही कहते हैं, तो फिर मुझे तुम्हारा विनाश ही करना पड़ेगा और भगवान ने अन्त में यही किया भी।

भगवान का अभिप्राय यह है कि जो विचार अभिमानी होकर मोह की सेवा करे, उसको मिटा ही देना चाहिए। रामायण में मोह को अन्धत्व का प्रतीक माना गया है—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। ७/६६/७

महाभारत में अन्धे धृतराष्ट्र का बेटा दुर्योधन है और कर्ण दुर्योधन की सेवा में है। इसलिए भगवान कर्ण का विनाश कर देते हैं, उस ज्ञान और विचार को मिटा देते हैं, जो धर्म का विरोधी है और अन्त में धर्म को ही सिंहासन पर अभिषिक्त करते हैं।

यहाँ पर रामायण में भगवान श्रीराघवेन्द्र ने सिंहासन पर सुग्रीव को बिठाया और अंगद को युवराज बनाया। यही तो पूर्ण सामंजस्य है। भगवान कहते हैं कि सही पद्धति यह होगी कि सिंहासन पर सुग्रीव बैठें और अंगद युवराज के रूप में उनके उत्तराधिकारी बने रहें। यही ज्ञान और कर्म का सामंजस्य है। अहंकारी बालि निरहंकारी हो गया और अन्त में भगवान में लीन हो गया। परन्तु अंगद, वे तो अभिमानरहित सत्कर्म के स्वरूप हैं। अंगदजी के चरित्र में पुरुषार्थ तो इतना है कि

हनुमानजी के बल के आस-पास यदि किसी का बल दिखाई देता है, तो वह अंगदजी का ही है। इसके बावजूद पूरे रामायण में आपको एक भी ऐसा प्रसंग नहीं मिलेगा, जहाँ अंगद की वाणी में कहीं अभिमान दिखाई दे। उनकी विनम्रता इतनी विलक्षण है कि आदि से अन्त तक निरन्तर वे विजयी बने रहे, पर इस बात का अभिमान उन्हें कभी नहीं हुआ। वे निरन्तर विनम्र ही रहे। भगवान श्रीराम किष्किन्धा में जो राज्य स्थापित करते हैं, उसका स्वरूप यही है कि सुग्रीव और अंगद के बीच सामंजस्य स्थापित हो। इन दोनों का सामंजस्य बहुत सरल नहीं है। अंगद और सुग्रीव में कुछ दूरी बनी हुई है। यह एक बड़ी विचित्र-सी बात है। क्यों? समस्या मनोवैज्ञानिक रूप से यही थी कि भगवान के आदेश से एक तो सिंहासन पर बैठ गया और एक युवराज बन गया, पर दोनों के मन में कहीं-न-कहीं संस्कारजन्य दूरी विद्यमान थी। अंगद के मन में एक विचित्र प्रकार का विरोधाभास है। उनका एक पक्ष तो इतना उज्ज्वल है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है, पर दूसरा पक्ष यह है कि वे अपने मन की एक ग्रन्थि से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाते। वह ग्रन्थि क्या है? सुग्रीव को तो विचित्र-सा प्रतीत होता है कि प्रभु ने अंगद को युवराज बनाना आवश्यक समझा और अंगद की मनःस्थिति यह है कि श्रीराम के प्रति अंगद को इतना अधिक विश्वास है कि कठिन-से-कठिन एवं विपरीत परिस्थिति में भी उनका विश्वास न डिगा। इस रूप में तो अंगद की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है। अब कल्पना कीजिए, बालि की मृत्यु अंगद के समक्ष हुई। अंगद ने अपने पिता की मृत्यु को देखा और श्रीराम ने उसके पिता का वध किया। ऐसी स्थिति में अंगद के मन में तो श्रीराम के प्रति सर्वाधिक विद्वेष या विरोध आ सकता था। वे यह सोच सकते थे कि जिन्होंने मेरे पिता का वध किया, उनसे बढ़कर मेरा विरोधी कौन हो सकता है? लेकिन अंगद सचमुच श्रीराम के ईश्वरत्व के प्रति पूर्ण आस्थावान थे। यदि वे श्रीराम को केवल एक राजकुमार मानते होते, तो शायद श्रीराम ही उनके सबसे अधिक विद्वेष के पात्र होते और वे उनसे लड़कर बदला लेने की चेष्टा करते। साहस न होता तो भले ही चुप रह जाते, पर मन-ही-मन घृणा तो करते ही। आपने ध्यान दिया

होगा कि रामायण में अंगद के मन में श्रीराम के प्रति कभी उलाहना भाव नहीं आया कि इन्होंने मेरे पिता को मार दिया। निर्ममता दोनों अर्थों में होती है। किसी की प्रशंसा में भी निर्मम कहा जाता है और निन्दा में भी। समाचार पत्रों में तो आज निर्मम शब्द बड़े कठोर अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अंगद कितने निर्मम हैं, इसका परिचय रावण की सभा में मिला। जब वे राजदूत बनाकर रावण की सभा में भेजे गये, तो रावण ने पूछा, तुम कौन हो? इस पर अंगद ने अपना परिचय देते हुए यही कहा कि—मैं बालि का पुत्र हूँ—

अंगद नाम बालि कर बेटा। ६/२०/३

और इसके साथ ही उन्होंने रावण के ऊपर एक व्यंग्य भी किया, क्या मेरे पिताजी से आपकी कभी भेंट हुई?—

तासों कबहुँ भई ही भेटा। ६/२०/३

रावण भी बोलने की कला में कम निपुण नहीं था। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, लगा कि राम का राजनैतिक ज्ञान ठीक नहीं है। क्योंकि जिसके पिता का वध उन्होंने स्वयं किया हो और जिसका राज्य छीनकर दूसरे को दे दिया हो, ऐसे व्यक्ति को राजदूत बनाकर भेजने में कौन-सी बुद्धिमानी है? इसको तो मैं अभी फोड़ लूँगा। अंगद को फोड़ने के लिए रावण ने कहा कि बालि से मेरी भेंट हुई थी, वे मेरे मित्र थे, पर यह बताओ, हमारे मित्र बालि कुशल से तो हैं, आजकल वे कहाँ हैं?

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। ६/२०/७

रावण को ज्ञात है कि बालि की मृत्यु हो चुकी है, लेकिन अंगद को चोट पहुँचाने के लिए, याद दिलाने के लिए कि तुम उनके दूत बनकर आए हो, जिन्होंने तुम्हारे पिता का वध कर दिया है? रावण की बात सुनकर तो अंगद को उदास हो जाना चाहिए था, पिता की याद आने पर उसे शोक होना चाहिए था, पर उन्हें न तो शोक हुआ, न वे उदास हुए। क्यों नहीं हुए? जो सुहृद व्यक्ति होता है, उसे अपने परिवार के लोगों से स्वाभाविक ही स्नेह होता है, ममता होती है। ऐसी स्थिति में जब किसी की याद आ जाती है, तो उसे दुःख होता है, चोट-सी लगती है। अंगद को चोट ही नहीं, दुःख भी होना चाहिए था, पर अंगद तो रावण की बात सुनकर हँसने लगे—

बिहँसि बचन तब अंगद कहई। ६/२०/७

क्या यह हँसने का अवसर है? रावण विस्मित हो गया, यह हँस किस बात पर रहा है? अंगद बोले, रावण! उनकी कुशलता का समाचार मुझे पता नहीं, क्योंकि काफी दिनों से मेरी उनसे भेंट नहीं हो सकी है, पर अब तो तुम भी वहीं जाने वाले हो, अतः स्वयं उनके गले मिलकर कुशल पूछ लेना—

दिन दस गएँ बालि पहि जाई।
बूझेहु कुसल सखा उर लाई।। ६/२०/८

इस प्रकार का वाक्य तो कोई सिद्ध ही बोल सकता है या अति निर्लज्ज, स्वाभिमानरहित व्यक्ति कह सकता है। इसका अर्थ है कि ऐसे अवसर पर हँसनेवाला व्यक्ति या तो पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित है या उसमें स्वाभिमान और लज्जा का सर्वथा अभाव है। रावण ने तो यही अर्थ लगाया। उसने कहा कि अरे बन्दर! तुझे देखकर तो लगता है कि बालि का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि उसे तुझ जैसा निर्लज्ज और स्वाभिमानरहित पुत्र हुआ। अरे, जिसने तेरे पिता का वध किया, तू उसी का समर्थन कर रहा है, अपने पिता पर व्यंग्य कर रहा है और मेरी हँसी उड़ा रहा है। तू तो केवल आकृति से ही नहीं, स्वभाव से भी सचमुच बन्दर ही है। बन्दर जैसे मदारी के द्वारा नचाया जाता है, वैसे ही तू भी नाच रहा है। मदारी कह दे, सलाम कर लो तो बन्दर सबको सलाम करने लगता है। तू तो पक्का बन्दर है, तुझमें स्वाभिमान जरा भी नहीं, इसलिए ऐसी बात कर रहा है।

अंगद ने रावण को जो उत्तर दिया, वह किस बात का परिचायक है? क्या अंगद के हृदय में अपने पिता के लिए रंचमात्र भी सम्मान नहीं है? अंगद ने इसको स्पष्ट कर दिया। अंगद ने कहा, रावण! तुम जिस दृष्टि से इस घटना को देख रहे हो, उस दृष्टि से मैं नहीं देख रहा हूँ।

यहाँ अंगद ने जो सूत्र दिया, वह बड़े महत्त्व का है। उसका अभिप्राय यह है कि यह ममता व्यावहारिक जगत में तो चलती है, उपयोगी भी है। यह कहा जा सकता है कि अहंता के स्थान पर ममता आ जाने से व्यक्ति समाज में बहुत से कर्म करता है। अपने पुत्र के

प्रति, परिवार के प्रति ममता है तो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है, प्रयत्न करता है। ममता उसे कर्म की दिशा में प्रेरित करती है। लेकिन अन्ततोगत्वा यही ममता समाज में अनेक समस्याओं को जन्म देती है। अब अन्तिम स्थिति क्या है कि व्यक्ति अहंता से शरीर से ऊपर उठकर थोड़ी ममता को स्वीकार कर ले तो व्यावहारिक लाभ है, पर अन्त में ममता से भी ऊपर उठे, यह सबसे कठिन कार्य है। इसी को गोस्वामीजी दोहावली रामायण में कहते हैं–

कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु। ७६

जब हनुमानजी रावण की सभा में गये तो पहले तो रावण ने उन्हें मृत्यु-दण्ड देना चाहा, पर बाद में विभीषण के कहने से कहा, बन्दर को मारो मत, विभीषण कह रहे हैं तो मृत्युदण्ड की जरूरत नहीं, पर इस बन्दर की नाक-कान काटने का आदेश दीजिए; पूँछ जला देने की बात आपके मन में क्यों आयी? रावण ने कहा कि बन्दर की ममता पूँछ पर होती है–

कपि कें ममता पूँछ पर। ५/२४

इसलिए इसे दुःख देने के लिए उसकी ममता को ही जला देना चाहिए। जब पूँछ जल जायेगी तब यह अपने प्रभु को ले आयेगा और तब मैं देखूँगा कि इसका स्वामी कितना महान है। हनुमानजी ने क्या किया? उन्होंने अपनी पूँछ बढ़ायी। कितनी बढ़ायी? लंका के सारे कपड़े और तेल-घी से भी उनकी पूँछ को पूरी तरह लपेटा नहीं जा सका, भिगाया नहीं जा सका। यह बड़े पते की बात है। ममता जहाँ होगी, वहाँ दो चीजें होंगी, कपड़ा और तेल। यह कपड़ा है 'आवरण'। बस, ममता आयी तो ऐसी पट्टी चढ़ी, ऐसा आवरण चढ़ा कि ममता करनेवाले व्यक्ति को फिर कभी सत्य नहीं दिखाई देता और जहाँ पर ममता होगी, वहाँ पर 'चिपकना' अवश्य होगा। जहाँ पर अपनत्व होता है, वहाँ पर ये दो बातें जुड़ जाती हैं। हनुमानजी द्वारा पूँछ को इतना बढ़ा देने का क्या अर्थ है? यदि ममता ससीम होगी, तो कपड़े से लिपटकर ढँक जायेगी और तेल में डूब जायेगी, लेकिन यदि ममता को ममता के रूप में रखना ही हो, तो उसे ईश्वर से जोड़ देना चाहिये। इसका परिणाम क्या होगा? व्यक्ति के प्रति ममता सीमित होती है और ईश्वर के प्रति

ममता? ईश्वर असीम है, अतः उसके प्रति ममता भी असीम ही होगी और ममता यदि असीम हो जाय, तो आवरण इसे ढँकने में समर्थ नहीं है। कोई सांसारिक राग भी इसे भिगोने में समर्थ नहीं है। हनुमानजी ने अपनी पूँछ के द्वारा वस्तुतः रावण को यह दिखा दिया कि रावण, तुम यही तो कह रहे हो कि बन्दर की पूँछ को जलाकर इसे दुखी कर दो, पर मेरी ममता तो किसी सीमा में है ही नहीं, वह तो असीम में है। उसे तुम्हारा कोई कपड़ा, कोई आवरण ढँक नहीं सकता। तुम्हारी लंका का सारा घी-तेल उसे भिगो नहीं सकता। रावण बोला, ठीक है, जितना ढँका है, उतने को ही जला दो, पर जलाने का फल क्या हुआ?–

हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास।। ५/२५

हनुमानजी ने चार सौ कोस की लंका को जला दिया। हनुमानजी का अभिप्राय क्या था? बोले कि रावण! मेरी ममता है असीम में और तुम्हारी ममता है चार सौ कोस की लंका में। मेरी लंका! मेरी लंका!! तुम यही तो रट लगाये रहते हो। यह ममता है। देखो, जो असीम में ममता है, वह तो जलने से बच गयी और जो ससीम में ममता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने एक बड़े ही विचित्र शब्द का प्रयोग किया। लंका में जितने घर हैं, उनको उन्होंने मन्दिर लिखा। वैसे शब्दकोष में मन्दिर घर को भी कहते हैं, पर गोस्वामीजी घर के लिए कहीं-कहीं मन्दिर, कहीं भवन, कहीं घर लिख देते तो दूसरी बात होती, पर उन्होंने लंका के घरों के लिये केवल मन्दिर शब्द का ही प्रयोग किया–

मन्दिर मन्दिर प्रति कर सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।
गयउ दसानन मन्दिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।।
सयन किएँ देखा कपि तेही। मन्दिर महुँ न दीखि बैदेही।।
५/४/५-७

भवन के लिये हर बार मन्दिर शब्द का प्रयोग हुआ है, पर जिसमें विभीषणजी रहते हैं, उसे भवन कहा–

भवन एक पुनि दीख सुहावा। ५/४/८

सारे राक्षस रहते हैं मन्दिर में। मन्दिर शब्द रूढ़ अर्थों में उसे

कहते हैं, जहाँ देवता रहते हैं और जहाँ विभीषण रहते हैं, वह घर कहा गया। पर इतना ही नहीं, जब हनुमानजी लंका जलाने लगे तो गोस्वामीजी को वही शब्द याद रहा। हनुमानजी किसको जला रहे हैं? सारे मन्दिरों को जला रहे हैं, पर विभीषण का घर नहीं जलाया—

मन्दिर तें मन्दिर चढ़ धाई। ५/२५/१
एक बिभीषन कर गृह नाहीं।। ५/२५/६

इसमें एक बहुत बड़ा व्यंग्य है। मन्दिर माने जहाँ किसी देवता की पूजा हो रही हो। वह देवता कौन है? पूजा या तो चैतन्य-तत्त्व की होगी या फिर जिस देवता की पूजा लंका में चलती है, वह यदि हम लोग अपने जीवन की ओर देखें, तो दिखाई दे जायेगी। हम लोगों के मन्दिर का देवता कौन है? लंका के मन्दिरों का देवता तो शरीर है और उस शरीर-देवता की सेवा-पूजा करना लंका का नित्य-निरन्तर का कार्य है। शरीर की पूजा जिस मन्दिर में भोगों के द्वारा होती है, वही पूजा हम लोग अपने जीवन में नित्य-निरन्तर चौबीस घण्टे करते रहते हैं। यह हम लोगों के जीवन में चल रहा है।

दूसरी ओर लक्ष्मणजी भगवान राम की सेवा किस तरह से कर रहे हैं? गोस्वामीजी कहते हैं कि हम लोगों से अधिक सेवा नहीं कर रहे हैं। कैसे? जैसे अज्ञानी व्यक्ति शरीर की पूजा करता है, वैसे ही लक्ष्मण जी श्रीराम की सेवा कर रहे हैं—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि।। २/१४१/२

लंका का हर व्यक्ति रात-दिन देह की ही पूजा में लगा है। अब हनुमानजी ने सारी लंका को जला क्यों दिया? गोस्वामीजी ने जीवन के सत्य को प्रकट कर दिया कि देह-देवता की आप चाहे जीवन भर पूजा कीजिए, पर अन्त में उसको जलाना ही पड़ेगा। जलाने को छोड़कर उस देवता की अन्तिम परिणति और कुछ नहीं है। इस प्रकार हनुमानजी लंका को जलाकर जीवन के उस सत्य को उद्‌घाटित कर देते हैं।

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि या तो देवता राम हैं या शरीर। गोस्वामीजी कहते हैं, या तो ममता का त्याग करो या ममता श्रीराम से करो—

कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु। दोहा. ७८

ऐसी स्थिति में अंगद की विशेषता क्या है? अंगद का हाथ पकड़कर बालि ने श्रीराम से कहा था कि आप अंगद का हाथ पकड़ लीजिए। यहाँ पर हमें अन्तिम क्षणों में बालि की चतुराई का परिचय मिलता है और यह चतुराई पूरे जीवनभर अंगद को उत्तराधिकार के रूप में मिली रही। अंगद को बुलाकर बालि यह भी कह सकता था कि प्रभु के चरणों को कसकर पकड़ लो, पर यह बिल्कुल नहीं कहा, बल्कि भगवान से कहा कि महाराज! आप इसका हाथ पकड़ लीजिए। अंगद से क्यों नहीं कहा कि चरण पकड़ लो? बालि का तात्पर्य यह था, महाराज! यदि जीव पकड़ेगा तो छोड़ भी सकता है, पर आप पकड़ेंगे तो छूटने का डर नहीं है। इसलिए हम अंगद से क्यों कहें कि यह आपको पकड़े, हम तो आपसे कहेंगे कि आप अंगद को पकड़ लीजिए—

गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए। ४/६/छं

यदि अंगद को यह लगता कि बालि मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूँ, मेरा जन्म उनसे हुआ है और मेरे पिता को मारने वाला मेरा शत्रु है, तब तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होती, पर वे सचमुच ही देहाभिमान से ऊपर उठे हुए थे, देह की ममता से मुक्त हो चुके थे। उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ रावण से कहा कि मैं समझ गया, तुम बड़े राजनीतिज्ञ की तरह मुझे राम से अलग करना चाहते हो, लेकिन मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि राम को मैंने एक व्यक्ति की तरह कभी नहीं देखा—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें।
श्री रघुबीर हृदय नहि जाकें।। ६/२०/१०

श्रीराम कोई व्यक्ति नहीं हैं। वे तो अन्तरात्मा के रूप में सभी प्राणियों के अन्तर में निवास करते हैं। बालि तो केवल मेरे शरीर के पिता थे, पर परमपिता श्रीराम तो समस्त प्राणीमात्र की अन्तरात्मा हैं। रावण! श्रीराम के साथ मेरा जो भावनात्मक सम्बन्ध है, उतना तो पिताजी के साथ भी नहीं। तात्पर्य यह कि शरीर का नाता तो एक जन्म का है, पर ईश्वर का नाता तो शाश्वत है। अतः मैं इस दृष्टि से नहीं देखता कि इस राम ने मेरे पिता का वध किया। यदि मेरे पिता का वध हुआ तो दुःख मेरे पिता को होना चाहिये था, पर पिता के सामने यह प्रश्न आया कि वे

जीवित रहना चाहेंगें कि मरना चाहेंगे, तो उन्होंने मृत्यु का वरण किया। अब कल्पना करो कि मृत्यु उनको कितनी सुखदायी लगी होगी? उन्हें श्रीराम के हाथों से मरना जीवन से भी अधिक हितकर लगा। रावण, तुम मुझे राम से अलग नहीं कर सकते।

तात्पर्य यह कि अंगद के मन में श्रीराम के प्रति कभी रंचमात्र भी उलाहना की बात नहीं आयी, श्रीराम के ईश्वरत्व के प्रति उनकी आस्था अगाध थी। पर दूसरी ओर अंगद इस मानसिकता से अपने को ऊपर नहीं उठा सके कि भले ही प्रभु श्रीराम ने उनको अपनी शरणागति दी है, पर वे मूलतः स्वार्थ से प्रेरित हैं, सुग्रीव का व्यक्तित्व अंगद को प्रभावित नहीं कर सका।

यह बात अंगद के मन में गहराई में बैठ गयी थी। भगवान चाहते थे कि उनके मन की यह ग्रन्थि दूर हो, अंगद और सुग्रीव की दूरी मिटे और उनमें सामंजस्य स्थापित हो। बाहर से तो ऐसा लग रहा था कि वह दूरी मिट रही है, पर भीतर से वे मिल नहीं पाते। इसके पीछे अंगद की जो भावना थी, वह प्रकट हुई समुद्र के किनारे। एक महीना बीत गया, सीताजी का कुछ भी पता नहीं चला, तब बन्दरों ने अंगद से कहा, अब तो हम लोगों की मृत्यु निश्चित है। इस पर अंगद ने कहा, आप लोगों की मृत्यु होगी या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मेरी मृत्यु तो अवश्य होगी। क्योंकि अगर सुग्रीव का वश चलता तो वह पिता की मृत्यु के बाद मुझे भी मार देता, पर इसलिए नहीं मार पाया, क्योंकि–

पिता बधे पर मारत मोही।
राखा राम निहोर न ओही।। ४/२५/५

वहाँ पर भी उन्हें श्रीराम में गुण तो दिखाई दे रहा है, पर सुग्रीव में नहीं। बचानेवाले तो श्रीराम हैं, पर सुग्रीव तो मन-ही-मन में मुझसे विद्वेष रखते हैं। वे अवसर की तलाश में रहते हैं कि कब इसे मिटा दें। यह जो एक संस्कार अंगद के मन में सुग्रीव के व्यवहार के कारण बना हुआ है, इससे वे उबर नहीं पाते। उसी कार्य के लिये जहाँ वे श्रीराम में गुण देखते हैं, वहाँ उन्हें सुग्रीव में दोष दिखाई देता है। भगवान राम यह चाहते थे कि इस ग्रन्थि का निवारण हो और अन्ततः

उन्होंने इसका निवारण किया। वह दोहा आपको याद होगा, जो मैंने पिछले दिन की कथा के प्रारम्भ में कहा था–

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ।। ७/१८

भगवान राम जब अंगद को अयोध्या से विदा करने लगे, तब उन्होंने प्रार्थना की कि वे उन्हें अयोध्या में ही अपनी सेवा में रख लें। प्रभु ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और बोले कि तुम किष्किंधा जाओ, अवश्य जाओ, यही उचित है और वहाँ युवराज के रूप में राज्य चलाओ। उस समय अंगद की हिचकिचाहट देखकर भगवान को लगा कि इसकी वह मनोग्रन्थि मिट नहीं रही है कि सुग्रीव मेरे विरोधी हैं और उसे मिटाये बिना इन दोनों को मिलाये बिना समग्रता नहीं आयेगी। अतः भगवान ने अंगद को विदा तो किया, पर उसके पहले उन्होंने अपने गले की माला निकालकर अंगद के गले में पहना दी–

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ। ७/१८ ख

इसका क्या अभिप्राय है? मानो प्रभु ने कहा कि अंगद, घबराओ मत, तुम्हारे मन में यह जो ग्रन्थि है कि सुग्रीव तुम्हें दण्ड देने के लिये मौके की खोज में रहेंगे, पर विश्वास रखो, तुम्हारे गले में यह मेरी माला देखते ही सुग्रीव को सारी बातें याद आ जायेंगी। बालि और सुग्रीव का जब युद्ध हुआ था, तो तुम्हारे पिता को चेतावनी देने के लिये मैंने सुग्रीव को माला पहनाई थी और आज तुम्हें भी पहना रहा हूँ। सुग्रीव से बढ़कर भला इस माला का चमत्कार कौन जानता है? इसलिए तुम विश्वास रखो, यह ऐसा सूत्र है, जिसके आधार पर सुग्रीव भूल नहीं कर सकते। देह के नाते से तुम्हारी दूरी बनी रहेगी, पर मेरे नाते जब जब तुम नाता जोड़ोगे कि तुम मेरे प्रिय भक्त हो और सुग्रीव भी मेरा प्रिय सखा है, इस नाते से तुम्हारा यह चाचा-भतीजे का संस्कार मिटेगा, तुम्हारी आपसी दूरी मिटेगी। इसीलिये भगवान चाहते हैं कि सुग्रीव राज्य करें और अंगद युवराज पद पर रहें। जीवन में ऐसा सामंजस्य स्थापित हो, यही भगवान का उद्देश्य है।

चतुर्थ

अंगद बालि के द्वारा श्रीराम के करकमलों में अर्पित कर दिये जाते हैं। इसके बाद भगवान श्रीराम सुग्रीव को किष्किंधा का राजपद और अंगद को युवराज पद देते हैं। इसके साथ ही वे सुग्रीव से यह भी कह देते हैं कि मित्र! तुम अंगद के साथ एकमत होकर किष्किंधा का राज्य चलाओ और यह बात सदैव स्मरण रखना कि तुम्हें श्री सीताजी का पता लगाना है।

भगवान की इस बात को सुग्रीव ने सही अर्थों में नहीं लिया। उन्होंने राज्य की व्यवस्था तो अंगद के हाथों में सौंप दी और यह सोचकर निश्चिन्त हो गये कि यही भगवान राम का आदेश था और वह मैंने पूरा कर दिया। स्वयं क्या करने लगे? बहुत काल भोगों से वंचित रहे थे, जैसे ही भोग मिले, उन्हीं में डूब गये। बड़ा विचित्र बँटवारा कर लिया। अपने लिए भोग और अंगद के लिए राज-काज। आयु की दृष्टि से अंगद युवक हैं, सुग्रीव की अवस्था उनसे बड़ी है। अतः यह विभाजन उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। लेकिन उन्होंने इसी प्रकार का विभाजन किया। स्वयं भोगों में डूब गये। उन्होंने भगवान के दूसरे वाक्य का जो अर्थ लगाया, उसमें भी स्वयं को धोखा देने की चेष्टा की। भगवान श्रीराम ने उनसे यह कहा था कि तुम्हें श्री सीताजी का पता लगाना है और इतना ही नहीं, उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण शब्द जोड़ दिया—

संतत हृदयँ धरेहू मम काजू। ४/११/६

संतत शब्द का अभिप्राय यह था कि तुम क्षणभर के लिए भी इस बात को मत भूलना कि श्री सीताजी का पता लगाना है, यह परम आवश्यक कार्य है। यह जो सूत्र श्रीराम ने सुग्रीव को दिया, वह सूत्र तो संसार में हर व्यक्ति के लिए है, क्योंकि हमारे आपके जीवन में इस प्रकार के प्रश्न आते हैं, इस प्रकार की समस्याएँ आती हैं। वह यह है कि एक ओर तो सांसारिक कार्य हैं, व्यावहारिक स्वार्थ के कार्य हैं और दूसरी ओर सत्संग में भक्ति और ज्ञान की महिमा और ईश्वर या भक्ति की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बनाया जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कभी-कभी स्वयं को बड़ी उलझन में पाता है कि कैसे इन दोनों का क्रम से निर्वाह किया जाए। या तो इसका एक अर्थ यह लिया जा सकता है कि पहले हम व्यावहारिक जीवन की समस्या को सुलझा लें और उसके बाद परमार्थ की प्राप्ति की चेष्टा करें या दूसरा सूत्र यह है कि व्यावहारिक समस्या में उलझने के बाद तो व्यक्ति परमार्थ की दिशा से विरत हो जाता है, अतः व्यवहार की उपेक्षा करके हमें जीवन के चरम लक्ष्य को पाने की चेष्टा करनी चाहिए। 'मानस' में इसका जो उत्तर दिया गया, वह उत्तर एक ही रूप में नहीं दिया गया। भिन्न-भिन्न प्रसंगों में इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिए गये हैं। तात्पर्य यह है कि अलग-अलग प्रकार के व्यक्ति के लिए उत्तर भी अलग-अलग हैं। साधारण दृष्टि से देखने पर तो सभी एक जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु मन और अन्तःकरण के संस्कार और उसकी बनावट पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि उसमें भिन्नता है। ऐसी स्थिति में इसका गणित के समान कोई निश्चित नियम नहीं है कि जिसमें यह कहा जा सके कि हर व्यक्ति के जीवन में इसी क्रम को स्वीकार करना चाहिए। अपितु इसका उत्तर यही है कि वस्तुतः अधिकारी भेद से व्यक्ति के अन्तःकरण का जैसा निर्माण हुआ है, उसी के अनुरूप साधना-पद्धति स्वीकार करनी चाहिए। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि व्यावहारिक जीवन के प्रति उन्हें कोई आकर्षण नहीं होता अर्थात् ऐसे व्यक्ति के जीवन में पूर्व-पूर्व जन्मों से वैराग्य या उपरामता का उदय हो गया है। 'मानस' में इस ओर संकेत किया गया है—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।। ३/१५/१

ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो व्यावहारिक जीवन से ऊपर उठ जाते

हैं और उनमें वैराग्य व उपरामता की वृत्ति आ जाती है। जिनके जीवन में यह वैराग्य व उपरामता की वृत्ति आ गयी है, उनके लिए यह जरूरी नहीं कि जीवन में व्यवहार को स्वीकार करें, पर ऐसे व्यक्ति बहुत विरले होते हैं। अधिकांश लोग ऐसे होते हैं, जिनके संस्कार सांसारिक होते हैं।

यहाँ पर यदि तुलना के रूप में देखें तो स्पष्ट रूप से तीन पात्र सामने आते हैं-श्री हनुमानजी, सुग्रीव और अंगद। अब इन तीनों में यदि हम हनुमानजी के चरित्र पर दृष्टि डालें तो उनके जीवन में पारिवारिक व्यवहार का कोई चित्र सामने नहीं आता। हनुमानजी बाल-ब्रह्मचारी हैं और सर्वतोभावेन श्रीराम की सेवा में समर्पित हैं। उन्होंने विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार नहीं किया और उनके समक्ष किसी ऐसे परिस्थिति का प्रश्न भी नहीं है। उनके जीवन का तो एकमात्र लक्ष्य भगवान की सर्वतोभावेन सेवा है। दूसरी ओर सुग्रीव जैसे लोग भी हैं, जिनके जीवन में उपरामता नहीं, बल्कि विषयासक्ति है। ऐसी स्थिति में 'मानस' में यह जो समन्वय की पद्धति है, उसका सर्वश्रेष्ठ परिचय हनुमानजी और सुग्रीव के सम्बन्ध में मिलता है। साधारणतया जो व्यक्ति विषयी होता है, उसकी मित्रता भी विषयी लोगों से ही होती है और उसी प्रकार जो व्यक्ति विषयों से उपराम अर्थात् वैराग्यवान हैं, उनकी संगति भी वैराग्यवानों से होती है, पर हनुमानजी और सुग्रीव के चरित्र में एक बड़ी विचित्रता है कि सुग्रीव के चरित्र में वैराग्य व उपरामता तो नहीं है, पर उनके विश्वास-पात्र हनुमानजी जैसे वैराग्यवान हैं। यह सुग्रीव के चरित्र का एक विचित्र पक्ष है कि विषयी होते हुए भी उनकी श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति वैराग्यवान के प्रति है और यही भविष्य में सुग्रीव के कल्याण का कारण बनती है।

दूसरी ओर हैं हनुमानजी। स्वयं परम वैराग्यवान होकर भी सुग्रीव जैसे व्यक्ति को सम्मान या महत्त्व देने में उनको रंचमात्र भी हिचकिचाहट नहीं होती। वे सुग्रीव के पास रहकर निरन्तर प्रसन्न दिखाई देते हैं। यह जो हनुमानजी और सुग्रीव की वृत्ति है, इस दृष्टि से भी बड़ी हितकर है कि भले ही हमारे जीवन में दुर्बलताएँ हों, पर इसके बाद भी यदि हम ऐसे लोगों के पास रहेंगे या उनसे मित्रता जोड़ेंगे, जिनमें

वही दुर्बलताएँ विद्यमान हैं, तो इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप उस दुर्बलता को और भी अधिक बढ़ावा मिलेगा। ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में हमारी दुर्बलताएँ और भी बढ़ेंगी। परन्तु स्वयं में दुर्बलता होते हुए भी जब हमारी श्रद्धा व आदर का केन्द्र कोई वैराग्यवान महापुरुष होता है, तो मन से भले ही वह व्यक्ति रोगी हो, पर बुद्धि से उसके मन में वैराग्य के प्रति श्रद्धा है।

इसके बाद सुग्रीव के जीवन में संकेत आता है कि हनुमानजी के द्वारा सुग्रीव धीरे-धीरे भगवान की दिशा में मोड़े जाते हैं। हनुमानजी के जीवन में यह उदारता का पक्ष है और यह बड़ा व्यावहारिक भी है। इसका अर्थ है कि जैसे आपके परिवार में आपके कई पुत्र हों, कई सदस्य हों, तो क्या आप परिवार के हर सदस्य से एक ही प्रकार की आशा रखते हैं? एक नन्हा बालक है, जो दो-चार साल का है और एक युवक है, दोनों पुत्र हैं। ऐसी स्थिति में हम एक युवक पुत्र से जो आशा रखते हैं, वह एक नन्हें बालक से नहीं रख सकते। हम यह मानकर चलते हैं कि युवक का कर्तव्य यही है, पर नन्हें बालक को तो कुछ-न-कुछ छूट देनी ही पड़ेगी। ऐसी स्थिति में श्री हनुमानजी के चरित्र में उदारता का पक्ष यही है कि वे स्वयं सुग्रीव की कमियों से परिचित होते हुए भी यह जानते हैं कि सुग्रीव जैसे दुर्बल व्यक्ति को आश्रय की जरूरत है, तिरस्कार की नहीं। यदि उनको घृणा की दृष्टि से देखकर दूर भगा दिया जाए, तब तो ऐसे व्यक्ति के कल्याण का कोई मार्ग रह ही नहीं जाएगा।

ये जो तीन पात्र आते हैं, आगे चलकर किष्किंधाकाण्ड में इनकी भूमिका भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। हनुमानजी सुग्रीव को भगवान से मिलाते हैं। वहाँ हम एक बात और देखते हैं कि भगवान जब सुग्रीव से वार्तालाप करते हैं और हनुमानजी जो बातें करते हैं, तो इन दोनों में बड़ी भिन्नता है। जब हनुमानजी से प्रभु का मिलन हुआ, तब भगवान उन्हें अनन्य भक्ति के स्वरूप का उपदेश देते हैं। हनुमानजी कहते हैं कि प्रभु! मुझे तो पता नहीं कि भक्ति क्या है। प्रभु कहते हैं कि भक्ति तो अनन्य होनी चाहिए और हनुमान! जो समस्त ब्रह्माण्ड को मेरा ही रूप मानकर और अपने को सेवक मानकर सबकी सेवा

करता है, वही अनन्य भक्ति है और मुझे विश्वास है कि तुम्हारे जीवन में वही अनन्य भक्ति विद्यमान है–

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।। ४/३

प्रभु जब हनुमानजी से बातें करते हैं, तब स्तर यह है, पर जब वे सुग्रीव से मिलते हैं, तब उन्हें भक्ति का उपदेश नहीं देते, ज्ञान-विज्ञान की भी बातें नहीं करते, वे ऐसी कोई भी आध्यात्मिक या पारमार्थिक बात नहीं करते, जो सामान्य धरातल से ऊपर की हो। बल्कि प्रभु सुग्रीव से जो बातें कहते हैं, वे हनुमानजी को कही बातों की तुलना में बड़ी हल्की-सी लगती हैं। मानो बड़ी व्यावहारिक बातें बताते हुए वे कहते हैं कि सुग्रीव आज से हम तुम मित्र हो गये। मैं तुम्हें यह बताता हूँ कि मित्र का धर्म और कर्तव्य क्या है? प्रभु ने प्रारम्भ यहीं से किया कि सुग्रीव! मित्र को चाहिए कि न तो देने में संकोच करे और न लेने में–

देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई।।
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।। ४/६/५-६

हनुमानजी से वे लेन-देन की बात नहीं करते, पर सुग्रीव से लेन-देन की बात में भी संकोच नहीं करते। इसका क्या तात्पर्य है? हनुमानजी तो लेने वाले हैं नहीं; बस, देने वाले हैं, यदि सुग्रीव से भी यह कह दिया जाए कि देना ही भक्ति है, तब तो सुग्रीव भक्ति से बहुत दूर हो जाते।

यह भी प्रभु का बड़ा कौतुक है कि वे जिससे मिलते हैं, उससे उसी की भाषा में, वैसे ही बनकर बातें करने लगते हैं। हनुमानजी से प्रभु ने नाता जोड़ लिया। प्रभु ने उनसे कहा कि भाई! हम दोनों का नाता तो शाश्वत है। तुमने स्वीकार किया ही है कि मैं ब्रह्म हूँ और संसार जानता है कि तुम ब्रह्मचारी हो, तो ब्रह्म और ब्रह्मचारी का सम्बन्ध तो शाश्वत है। ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ यही है कि जो निरन्तर ब्रह्म में ही रमण कर रहा है, जो ब्रह्म में ही गतिशील है, जो ब्रह्म में ही तदाकार

है। भगवान राघवेन्द्र जब हनुमानजी से नाता जोड़ते हैं, तो ब्रह्म और ब्रह्मचारी का नाता जोड़ते हैं, पर सुग्रीव तो ब्रह्मचारी नहीं हैं, उनसे प्रभु ब्रह्म-तत्त्व की बात नहीं कहते। उनसे भगवान बिल्कुल व्यावहारिक बातें कहते हैं। यदि सुग्रीव कह दें कि महाराज! हम तो आपसे केवल ले ही सकते हैं, दे क्या सकते हैं? तो प्रभु कहेंगे कि नहीं! नहीं!! ऐसी कोई बात नहीं है। वस्तुतः मैं और तुम बिल्कुल एक जैसे हैं। हमारी और तुम्हारी मित्रता बड़ी सार्थक है। देखो, मेरा भी राज्य छिन गया है और तुम्हारा भी। तुम्हारी भी पत्नी का अपहरण हुआ है और मेरी पत्नी का भी। हम दोनों बिल्कुल एक जैसे हैं। आओ, तुम हमारी सहायता करो, हम तुम्हारी सहायता करेंगे। जैसे आप किसी छोटे बालक को पढ़ाते हैं। आप बालक को वह नहीं पढ़ाते जिसका आपको ज्ञान है। बालक को उतना ही बताते हैं, जितना उसमें ग्रहण करने की पात्रता है। आप बालक की अँगुली पकड़कर चलना सिखाते हैं।

न तो भगवान श्रीराम की राज्य जाने की कोई समस्या थी और न ही तात्त्विक दृष्टि से सीताजी से उनका वियोग ही हुआ है। परन्तु यदि इसे उस दृष्टि से न देखकर रंगमंच की दृष्टि से देखें तो वियोग हुआ है, पर राघवेन्द्र तो सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं, सीताजी को पाने के लिए उन्हें सुग्रीव के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं है, पर भगवान यह कहते हैं कि मित्र! हम दोनों एक-दूसरे की सहायता कर सकते हैं। जीव भी ईश्वर की सहायता कर सकता है और ईश्वर भी जीव की, इसकी भूमिका ईश्वर ने प्रस्तुत की। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुतः सुग्रीव जिस कक्षा में हैं, भगवान उनसे उसी स्तर की बात करते हैं। इसीलिए प्रभु उनसे पहला प्रश्न यही करते हैं कि सुग्रीव! यह बताओ कि तुम वन में क्यों रहते हो?–

कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव। ४/५

जब सुग्रीव ने अपनी कथा सुनाई, तो प्रभु की भुजाएँ फड़क उठीं और वे सुग्रीव को आश्वासन देते हैं, सुग्रीव तुम निश्चिन्त हो जाओ, मैं एक ही बाण से बालि का वध करूँगा–

सुनि सेवक दुख दीनदयाला।
फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला।। ४/६/१४

सुनु सुग्रीव मारिहऊँ बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान।। ४/६

सुग्रीव छलाँग लगाने योग्य भले ही नहीं थे, पर भगवान की बात सुनकर ऊँची छलाँग लगाने की वृत्ति उनमें आ गयी और वे ऊँची छलाँग लगाने के लिए प्रस्तुत हो गये। ज्योंही प्रभु ने कहा कि मैं एक ही बाण से बालि को मार दूँगा, तो सुग्रीव ने ऊँची छलाँग, कम-से-कम वाणी के द्वारा तो लगा ही दी। वाणी की छलाँग लगाने में तो कोई कठिनाई है नहीं, कठिनाई तो जीवन में छलाँग लगाने में है। वाणी से तो व्यक्ति नीचे बैठकर ऊँची-से-ऊँची बात कर सकता है। ऐसी तो कोई बाध्यता नहीं है कि नीचे बैठनेवाला व्यक्ति ऊँची बात न करे। सुग्रीव ने भी वाणी की छलाँग लगा दी है। गोस्वामीजी ने उस समय सुग्रीव का परिचय बन्दर कहकर दिया। बोले, बन्दर तो एक डाल से दूसरे डाल पर छलाँग लगाता ही रहता है। अब इस समय सुग्रीव की वही छलाँग-वाली वृत्ति सामने आयी। भगवान राम ने कहा, मैं बालि का वध करूँगा, तुम्हें राज्य दूँगा, तुम्हारी पत्नी से तुम्हें मिला दूँगा। यह सब वे सुग्रीव को बिल्कुल साधारण पद्धति से कहते हैं। पर सुग्रीव ने तुरन्त वाणी की छलाँग लगाने की चेष्टा करते हुए प्रभु से कहा कि महाराज! राज्य दिला देना या पत्नी से मिला देना या शत्रु को मार देना, इसमें आपकी कोई बहुत बड़ी कृपा थोड़े ही है; यह तो साधारण कृपा है। हनुमानजी के साथ रहते-रहते सुग्रीव ने कभी-न-कभी तो यह सुना होगा कि भगवान की सर्वोच्च कृपा क्या है? कृपा के भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मन में भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। सुग्रीव ने कहा कि प्रभो! ऐसी कृपा मत कीजिए। तो प्रभु ने कहा कि कैसी कृपा करें? सुग्रीव ने कहा कि उस तरह से कृपा कीजिए, जैसा मैं कह रहा हूँ–

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। ४/६/२१

प्रभु को हँसी आ गयी, कृपा मुझे करनी है और किस तरह से करनी है, वह आप बताएँगे। वास्तव में कृपा किस प्रकार से करनी है, यह तो कृपा करने वाले पर निर्भर करती है। जिस पर कृपा की जाती है, उसके कहे अनुसार थोड़े ही होता है। पर हाँ, यदि आप दुकान से कुछ खरीदने जाएँ, तो दुकानदार से कह सकते हैं कि भई! हमें

यह नहीं, यह वस्तु चाहिए। पर कृपा तो कृपा है, वहाँ चुनाव के लिए कोई अवसर नहीं है। जो मिल रहा है, उसे ग्रहण कीजिए।

वस्तुतः सुग्रीव को कृपा किसी साधना के द्वारा नहीं मिल रही थी, वे तो कृपा के ही द्वारा कृपा पा रहे थे। पर वे कहते हैं कि महाराज! आप ऐसी कृपा कीजिए जैसा मैं कह रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि सब कुछ छोड़ आपका भजन करूँ–

सब तजि भजनु करौं दिन राती। ४/६/२१

यह सुनकर प्रभु खूब हँसे। बन्दर की ऐसी ऊँची छलाँग! भगवान सोचने लगे कि यह तो उल्टा हो गया। मैं तो ऊपर से नीचे उतर आया और यह ऊपर से नीचे चढ़ गया। अब हम दोनों की मित्रता कैसे होगी? मित्रता तो तभी होती है, जब दोनों बराबरी के स्तर पर बैठें हों। मैं तो बिल्कुल सांसारिकता की बात कर रहा हूँ कि तुम्हारे शत्रु को मिटा दूँगा, राज्य दिला दूँगा, पत्नी से मिला दूँगा और यह इतनी ऊँची बात कर रहा है कि सब कुछ छोड़कर भजन करूँगा। यहाँ हम इस प्रसंग के विस्तार में नहीं जाएँगे, पर अन्त में प्रभु बोले कि तुमने जो बात कही, उसकी सच्चाई में जरा भी सन्देह नहीं है–

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। ४/६/२३

पर भगवान के 'कहेउ' शब्द में व्यंग्य था। सुग्रीव कह तो गये इतनी ऊँची बात, पर इसकी व्यावहारिकता का तो भविष्य में ही पता चलेगा। क्या पता चलेगा? यह कि जहाँ सब कुछ छोड़कर भजन करना चाहते थे, वहीं सब कुछ में ऐसे डूबे कि भजन को और भगवान को भी भूल गये। भगवान ने सुग्रीव को सब कुछ दे दिया और कहा कि मित्र! तुम बिना कुछ लिए ही मेरी सेवा करना चाहते थे, पर अब तो तुमने पा लिया है, अब तो अपने कार्य नहीं भूल जाओगे। इसका सांकेतिक अर्थ मानो यह है कि निष्कामता और वैराग्य निश्चित रूप से सकामता से श्रेष्ठ है, लेकिन सुग्रीव को अभी उसमें अधिकार नहीं है। अभी उसे क्रमशः आगे बढ़ना है।

हनुमानजी से भगवान श्रीराम ने कभी किसी व्यावहारिक कार्य के लिए अपेक्षा नहीं रखी। रामराज्य के बाद भगवान ने अयोध्या से सारे बन्दरों को तो विदा किया, पर हनुमानजी को नहीं किया। इसका एक

व्यावहारिक पक्ष यह भी है और वह यह कि भगवान श्रीराघवेन्द्र यह मानकर चलते हैं कि अन्य बन्दरों के लिए पारिवारिक जीवन आवश्यक है, पर हनुमानजी व्यावहारिक भूमिकाओं से ऊपर उठ चुके हैं। उनके जीवन में व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए भगवान राम ने किसी एक वाक्य के द्वारा भी हनुमान को वहाँ से विदा करने का प्रयास नहीं किया। इसमें भी वही अधिकार-भेद की बात है।

भगवान श्रीराघवेन्द्र ने सुग्रीव को समझा दिया कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे को छलाँग लगाते देखकर स्वयं भी उछलने की चेष्टा करेगा, तो वह बुरी तरह से गिरेगा, उसके हाथ-पाँव टूटेंगे। यही दशा सुग्रीव की हुई भी। भगवान ने कहा कि देख लो, नकली छलाँग का क्या परिणाम होता है। उन्हें बालि से लड़ने भेज दिया और बालि ने जब सुग्रीव पर प्रहार किया तो भगवान चुपचाप देखते रहे, कुछ नहीं बोले। सुग्रीव वहाँ से भागे और आकर भगवान को उलाहना दी कि आपने तो कहा था कि मैं बालि को मारूँगा। प्रभु को हँसी आ गयी। प्रभु कुछ कह सकते थे, जब शत्रु-मित्र कुछ नहीं है, तो बालि को मारने की बात ही कहाँ रह गयी? परन्तु भगवान मानो बता देना चाहते हैं किं मित्र! अभी तुम उसके पात्र नहीं हो।

सुग्रीव का जीवन क्रमशः विकास का जीवन है। वह क्रम इस प्रकार है, पहले वे संसार में थे। फिर संसार के साथ-साथ उनकी भगवान से मित्रता हुई। भगवान ने उनकी कामनाओं को पूरा किया। उसके बाद जैसे विद्यार्थी को क्रमशः ऊँची कक्षाओं में ले जाने की चेष्टा की जाती है, वैसे ही वे उन्हें आगे बढ़ाने की चेष्टा करते हैं। यहाँ भगवान सुग्रीव को यही सूत्र देते हैं। वे कहते हैं कि तुम जीवन में दोनों को साथ लेकर चलने की चेष्टा करो, व्यवहार का भी निर्वाह करो और भक्ति के लिए भी प्रयास करो। भगवान ने बड़ा सुन्दर सूत्र दे दिया।

अब यह व्यवहार कोई सतत स्मृति की वस्तु नहीं है, न तो यह सृष्टि सतत है और न व्यवहार का सम्बन्ध ही सतत हो सकता है, परन्तु भगवान और भक्ति से तो सतत सम्बन्ध की अपेक्षा है। दूसरी बात भगवान ने यह कही कि तुम अंगद को साथ लेकर राज-काज

चलाओ, पर राज-काज चलाते हुए भी तुम हृदय में सदा यही ध्यान रखना कि श्री सीताजी का पता लगाना है। बाहर से व्यवहार और भीतर से भगवान के प्रति भक्ति, दोनों के सामंजस्य का सूत्र भगवान ने दिया। सुग्रीव को आगे बढ़ाने की चेष्टा की। लेकिन सुग्रीव अपनी भोग-परायण वृत्ति के कारण भोगों को पाते ही उसमें इतने डूब गये और स्वयं को ऐसा भुलावा देने की चेष्टा की, अपने भोगों के पक्ष में ऐसा तर्क खोज लिया कि प्रभु ने श्री सीताजी को पता लगाने के लिये कहा तो है, पर कोई समय थोड़े ही दिया है कि इतने दिनों के भीतर पता लगाना है। यदि प्रभु ने कोई निश्चित अवधि दी होती, यदि कह दिया होता कि इतने दिनों में पता लगाना है, तो दूसरी बात थी, पर ऐसी कोई जल्दी नहीं है। यह सुग्रीव का अपने आपके प्रति एक बहुत बढ़िया धोखा था, जिसका परिणाम सामने आ गया।

हनुमानजी और लक्ष्मणजी जब पहुँचे, तो सुग्रीव डर के मारे काँपने लगे और इसी कारण बाद में बड़े सावधान हो गये। जब बन्दरों को कहा कि श्री सीताजी का पता लगाकर आओ तो साथ ही यह भी कह दिया "पन्द्रह दिनों के भीतर"। यह पन्द्रह दिन क्यों दे रहे हैं? बोले कि मैं अनुभव से सीख रहा हूँ। प्रभु ने मुझे समय की सीमा नहीं दी, इसीलिये मैं भोग में डूब गया। इसीलिये इन लोगों को अब बता दे रहा हूँ कि यह काम दी हुई समय-सीमा के भीतर ही होना चाहिये।

सुग्रीव विषयों और भोगों को पाकर कुछ समय के लिये विषय-विमूढ़ और भ्रान्त-से हो जाते हैं और अंगद? अंगद और सुग्रीव में जो भिन्नता है, उसे गोस्वामीजी ने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। भगवान श्रीराम सुग्रीव पर क्रोध करते हैं और अन्त में लक्ष्मणजी को यह कहकर भेजते हैं कि जाकर सुग्रीव को डराओ। अंगद की भूमिका और सुग्रीव की भूमिका में बड़ा विलक्षण अन्तर है। लक्ष्मणजी के जाने पर सुग्रीव तो बाद में मिले, अंगद पहले मिल गये। गोस्वामीजी ने अंगद और सुग्रीव के चरित्र का एक अन्तर यह भी बताया कि लक्ष्मणजी जब नगर में पहुँचे तो धनुष चढ़ाकर कहा कि मैं सारे नगर को जलाकर नष्ट कर दूँगा, तब अंगद की भूमिका सामने आयी। जब सुग्रीव ने

सुना कि लक्ष्मणजी आये हुए हैं, तो वह बेचारा डर के मारे घर में जाकर छुप गया और अंगद ने क्या किया? उन्होंने तो बिल्कुल उल्टा काम किया, नगर को व्याकुल देखकर बालि के पुत्र अंगद आये–

धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करउँ पुर छार।
ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार।। ४/१६

फिर बालि के पुत्र के रूप में अंगद का स्मरण किया गया। आपको यह सूत्र याद होगा। वस्तुतः यह अंगद और सुग्रीव के चरित्र का जो सूत्र है, उसको हम यों कह सकते हैं कि एक पात्र ऐसा है, जिसे भय की आवश्यकता है और वह भय के द्वारा ही प्रेरित होता है, दूसरे का चरित्र भय से नहीं, बल्कि विवेक और भक्ति की वृत्ति से प्रेरित होता है, उसे भय की आवश्यकता नहीं होती। यह सूत्र यहाँ पर आप पायेंगे। अंगद उनके चरणों में सिर नवाकर प्रणाम करते हैं और लक्ष्मणजी तत्काल उनकी बाँह पकड़कर कहते हैं कि अंगद! तुम्हारे लिये तो कहीं रंचमात्र भी भय का प्रश्न नहीं है–

चरन नाइ सिरु बिनती किन्ही।
लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्हीं।। ४/१६/१

एक साथ दो बातें हैं। आये तो थे क्रोध में भरे हुए डराने के लिए, पर पहले अंगद को अभय किया और सुग्रीव को भय दिखाया। भय और अभय का यहाँ पर सार्थक प्रयोग है। सुग्रीव के चरित्र में दुर्बलताएँ हैं, इसलिए उनके चरित्र में भय है और अंगद का बहुत बड़ा गुण है, उनकी विचारशीलता तथा अभयवृत्ति।

लक्ष्मणजी आये थे सुग्रीव को भय दिखाने, पर केवल भय ही नहीं, अभय भी देते हैं। फिर इसके अन्तराल में एक और भी विलक्षण चरित्र है हनुमानजी का। हनुमानजी और प्रभु के हृदय के तार तो ऐसे मिले हुए हैं कि क्या कहें! सच तो यह है कि उनके हृदय में तो प्रभु ही बैठे हुए हैं। बड़े कौतुकी हैं प्रभु। इधर तो लक्ष्मणजी को भेजा कि जाकर सुग्रीव को डराओ और उधर हनुमानजी के हृदय में विद्यमान प्रभु ने बता दिया कि लक्ष्मण सुग्रीव को डराने आ रहे हैं और यह काम तुम्हीं कर डालो, लक्ष्मण को न करना पड़े तो अच्छा रहेगा। लक्ष्मणजी को आने में तो समय लगा, पर हनुमानजी तत्काल सुग्रीव के महल

में पहुँच गये। सुग्रीव अपनी रानियों के साथ बैठे हुए थे और परम वैराग्यवान तथा ब्रह्मचारी हनुमान को देखकर वे बड़े संकोच में पड़ गये। उन्होंने पूछा कि इस समय आपने कैसे कष्ट किया? हनुमानजी ने कहा आज तो मैं आपको कथा सुनाने आया हूँ। सुग्रीव बोले कि हाँ महाराज! आपने बड़ी अच्छी कथा सुनाई थी, जब प्रभु को लेकर आये थे। हनुमानजी ने कहा, पर कथा तो कभी समाप्त होती नहीं, वह अधूरी रह गयी थी; आज उसके आगे की कथा सुन लो। हनुमानजी ने कथा आरम्भ की।

यहाँ एक संकेत सूत्र है, भय और अभय। रामायण में दोनों का ही उपयोग किया गया है। ईश्वर में अनन्त गुण हैं और महाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं कि ईश्वर अखिल विरुद्ध धर्माश्रय हैं। एक ही व्यक्ति में परस्पर विरोधी गुण दिखाई नहीं देते, परन्तु ईश्वर में समस्त विरोधी गुण एक साथ दिखाई देते हैं। प्रश्न उठता है कि ईश्वर भयदायक हैं या अभयदायक? इसका वही उत्तर है। ईश्वर में कृपागुण भी है और न्यायगुण भी। कृपा और न्याय परस्पर एक-दूसरे से भिन्न है। जो न्याय करेगा, वह कृपा नहीं करेगा और जो कृपा करेगा, वह न्याय नहीं कर सकेगा, पर ईश्वर बहुत बड़ा न्यायाधीश है–

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। २/२१८/४

और ईश्वर परम कृपालु भी हैं। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि जिसके जीवन में कृपागुण की स्मृति होती है, वह अभय हो जाता है और जिसके जीवन में ईश्वर के न्यायगुण की याद आती है, वह डर के मारे काँपने लगता है। ईश्वर की कृपा का स्मरण करें, तो इसके असंख्य दृष्टान्त हैं और इसके पात्रों के असंख्य चरित्र हैं। ईश्वर की न्यायिकता पर कबीर कहते हैं–

तुम स्वामी दुखभंजना, मैं तो भरा विकार।
चाहे बन्दा बकसिये, चाहे गरदन मार।।

महाराज! आप मारने और जिलाने वाले दोनों है। आप न्याय भी करते हैं। आप निर्णय कर लीजिये कि आप मुझे कृपा का पात्र मानते हैं कि दण्ड का।

ये जो ईश्वर के अलग-अलग गुण हैं, यह जो भिन्नता है, वह अलग-अलग महापुरुषों की प्रेरणा में और वही बात इस प्रसंग में स्वयं ही सामने आती है। विश्व के महापुरुषों का चरित्र पढ़ें तो कुछ महापुरुषों के जीवन में दिव्य अभय का सन्देश दिया गया है कि समाज और व्यक्ति कैसे निर्भय हो जाय। कुछ महापुरुषों को देखें तो उन्होंने व्यक्ति को बार-बार ईश्वर का डर दिखाने की चेष्टा की है। बहिरंग दृष्टि से पढ़ने वालों को लगता है कि ये दोनों महापुरुषों के विचार एक-दूसरे के विरोधी हैं, एक ने दूसरे का खण्डन कर दिया। पर सच तो यह है कि समाज में इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति होते हैं और अलग-अलग काल में अलग-अलग गुणों की अपेक्षा होती है। महापुरुष समय के अनुकूल जो प्रेरणा देते हैं, वह समाज की तात्कालिक आवश्यकता के लिये विशेष उपयोगी होती है और वे सिद्धान्त उपयोगी हैं।

अब चाहे हम यह मान लें कि ईश्वर डरानेवाला है, या यह मान लें कि ईश्वर अभय देनेवाला है। जब उनकी कृपा पर दृष्टि जाती है, उनके स्वभाव पर दृष्टि जाती है, तो यही लगता है कि ईश्वर तो जीवन को निर्भय बनाने वाले हैं और जब जीव ईश्वर की महिमा और अपनी कमियों पर दृष्टि डालता है, तो वह डर के मारे काँपने लगता है।

ऐसी स्थिति में मुख्य बात यह है कि हमारे अन्तःकरण में अगर भय से सद्भाव आये या अभय से आये, ये दोनों ही वृत्तियाँ उपयोगी हैं। हनुमानजी ने इन दोनों का ही उपयोग किया। जिस दिन सुग्रीव बालि से डरे हुए थे, हनुमानजी प्रभु को ले आये और सुग्रीव से उनकी मित्रता करा दी। सुग्रीव के सामने भगवान के स्वभाव और करुणा का परिचय दिया कि भगवान कितने उदार हैं? कितने भक्तवत्सल हैं? कैसे भक्ति का निर्वाह करनेवाले हैं? परिणाम यह हुआ कि सुग्रीव का भय कम हो गया। लेकिन पुराने संस्कार सहज ही मिट नहीं पाते, भले ही कुछ समय के लिये दब जायँ। अब संस्कार से भिन्न बात जिस मात्रा में लेनी चाहिए, उस मात्रा में कभी-कभी ले लें, तब तो ठीक है। अगर सुग्रीव के मन में यह बात आती कि प्रभु कितने उदार हैं कि उन्होंने मेरे लिये सब कुछ किया, मेरे लिये उन्होंने इतना बड़ा कलंक लिया–

हत्यो बालि सहि गारी। (वि.प.-१६६/७)

अब ऐसे प्रभु के लिये मेरा क्या कर्तव्य है? यह बात जुड़ जाती तो उसका भय भी सार्थक हो जाता और निर्भयता भी। रामायण में यही सूत्र भगवान शंकर ने पार्वतीजी को दिया। पार्वतीजी ने कहा कि आप ईश्वर के स्वभाव का अधिक वर्णन न किया करें। क्यों? बोलीं कि महाराज! ईश्वर का स्वभाव सुनकर तो लोगों को मनमानी करने की इच्छा होगी। लोग अगर सुन लेंगे कि ईश्वर तो बड़ा उदार है, क्षमाशील है, वे जीव के अपराध कभी देखते ही नहीं, तो वे यही समझेंगे कि फिर तो हमें सब कुछ करने की छूट है। इस पर भगवान शंकर ने कहा कि पार्वती! भगवान के स्वभाव का वर्णन व्यक्ति को पाप करने की प्रेरणा देने के लिये नहीं है। तो फिर किसलिए है? शंकरजी ने सूत्र देते हुए कहा कि भगवान के स्वभाव का वर्णन करने पर भी भला कितने लोग उनके स्वभाव को जान पाते हैं? बिरले ही कोई जान पाते हैं और जो जान लेते हैं, उसकी कसौटी क्या है? भगवान के स्वभाव को जान लेने पर तो जीव ऐसा कृतज्ञ हो जाता है कि उसे भगवान का भजन छोड़कर कुछ अच्छा ही नहीं लगता–

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहि भजनु तजि भाव न आना।। ५/३३/३

गोस्वामीजी प्रभु की कृपा का वर्णन करते हैं, तो अन्त में उसका फल क्या निकालते हैं? विनयपत्रिका में आप पढ़ेंगे कि भगवान कितने उदार हैं, क्षमाशील हैं, इसका पूरा वर्णन करते हैं और अन्त में वे सम्बोधित किसे करते हैं, सुना किसे रहे हैं?

रामायण के पहले कथावाचक के यहाँ सबसे कम भीड़ थी या उसके अन्तिम कथावाचक के यहाँ? रामकथा के प्रथम वक्ता तो शंकरजी हैं, उनके यहाँ तो कथा सुननेवाले के लिये पात्रता की इतनी कठिन कसौटी थी कि स्वयं शंकरजी के गणों को भी वहाँ आकर कथा सुनने का अधिकार नहीं दिया गया। इतनी अधिक मर्यादा जिस कथा की है, वह समझ लें कि कितनी दुर्लभ थी। कथा की इस दुर्लभता का जो स्वरूप है, वह शंकरजी के चरित्र में दिखाई देता है, जहाँ एक ही वक्ता और एक ही श्रोता है। गोस्वामीजी ने जान-बूझकर लिख दिया,

उसी पर्वत पर गण भी रहते थे, पर वहाँ गण एक भी नहीं हैं। क्यों? बोले—नियम तो यह है कि पहले वक्ता के लिये आसन की व्यवस्था की जाती है, लेकिन उस वटवृक्ष की छाया में जब शंकरजी गये, जहाँ पर बैठकर उन्होंने कथा सुनाई, वहाँ किस गण ने उनका आसन बिछाया? गोस्वामीजी कहते हैं शंकरजी ने अपने हाथ से बाघछाल बिछाया और उस पर बैठ गये—

निज कर डासि नागरिपु छाला।
बैठे सहजहिं संभु कृपाला।। १/१०५/५

तब पार्वतीजी आती हैं। शंकरजी के पास एक गंगा थी, वे तो प्रकट हो गयीं, पर दूसरी गंगा को शंकरजी प्रकट नहीं कर रहे हैं। एक गंगा शंकरजी की जटाओं में थी, वे लोक-कल्याण के लिये प्रकट हुईं, पर एक गंगा उनके हृदय में थीं, वे कौन-सी गंगा थी? वे हैं भगवत्कथा की गंगा—

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा।। १/१११/७

ये भी गंगा हैं। एक भगवान शंकर के मस्तक से निकलती हुई गंगा और एक हृदय से निकलती हुई गंगा और दोनों गंगाएँ उन्होंने बड़ी कठिनाई से दीं। भागीरथ की तपस्या से प्रसन्न हुए तब मस्तक से गंगा निकलीं, पर कथावाली गंगा को तो ऐसे छिपाकर रख लिया कि किसी को पता ही नहीं कि उनके हृदय में इतनी बड़ी गंगा छिपी हुई हैं। किसी भी लेखक, कवि या वक्ता के मन में यह इच्छा रहती है कि व्यक्ति उसे पढ़े, सुने और उसका आनन्द ले, लेकिन शंकरजी तो ऐसे कवि निकले, जिन्होंने इतने बड़े ग्रन्थ की रचना अपने हृदय में न जाने कब कर ली और हृदय में ही छिपाये रखा, बाहर प्रकट ही नहीं किया, किसी को सुना ही नहीं रहे हैं; बस, अपने आपमें रख लिया, रचना करके हृदय में रख लिया—

रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।। १/३४/११

सतीजी बगल में बैठी थीं। पार्वतीजी पूर्वजन्म में सती थीं, शंकरजी ने सती से यह कभी नहीं कहा कि मैंने एक दिव्य काव्य की रचना

की है, तुम इसे सुन लो। भगवान शंकर कठोर परीक्षक हैं, वे कहते हैं कि सती इसकी अधिकारिणी नहीं हैं, वे सुबुद्धि नहीं हैं। कहते हैं कि कथा में मन, बुद्धि और चित्त लगाना चाहिये और सतीजी की कमी भगवान शंकर जानते थे कि वे बेचारी अहंकार को छोड़ नहीं सकतीं, इसलिए उन्हें सुनाना उचित नहीं है।

तब इस गंगा का प्रादुर्भाव किसके लिये हुआ? यह गंगा की कथा कब प्रकट हुई? जैसे वहाँ भगीरथ ने तप किया, वैसे ही यहाँ सती जब पार्वती हुईं, तब उन्होंने कठोर तप किया। उस कठोर तप के बाद शंकरजी प्रसन्न हो गये। जब पार्वतीजी ने भगवान शंकर से प्रार्थना की कि महाराज! आपके हृदय में जो दिव्य गंगा छिपी हुई है, उससे लोकहित भी तो होना चाहिये। तो शंकरजी प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा—

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा।।
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी।।
१/१११/७-८

पहले जब वे सती के रूप में थीं, तब तो उन्हें कथा सुनने का अधिकार ही नहीं दिया, पर जब उन्होंने पार्वती के रूप में, श्रद्धा के रूप में प्रश्न किया, तब कथा सुना दी। भगवान शंकर जब कथा सुनाते हैं, तो वहाँ बड़ा कठोर प्रतिबन्ध है। इसको नहीं सुनाना, उसको नहीं सुनाना, किसी को अधिकार ही नहीं देते कथा सुनने का। सती को भी नहीं सुनाया, अपने गणों को भी नहीं सुनाया। वे किसी को भी इस कथा का सुयोग्य पात्र नहीं पाते। ये ही तो वे गण हैं, जो नारद की बानर-आकृति की हँसी उड़ा रहे थे। इन लोगों में उपहास करने की वृत्ति है। भगवान को समझ पाने की पात्रता इनमें भी नहीं है। अधिकारी हैं केवल पार्वतीजी, जो मूर्तिमती श्रद्धा हैं। इसलिए वहाँ पर एक वक्ता और एक ही श्रोता हैं।

भगवान शंकर प्रथम वक्ता हैं और अन्तिम वक्ता गोस्वामीजी हैं। पर गोस्वामीजी के यहाँ तो और भी अद्भुत बात है। वहाँ तो श्रोता कोई है ही नहीं और इसलिए गोस्वामीजी स्वयं को वक्ता ही नहीं मानते। वे कहते हैं—**दास तुलसी गावई**। तुलसी कथा नहीं कहता, वह तो गाता है। गाने का केवल यह अर्थ नहीं कि जो वाद्य-यंत्रों के साथ

गाया जाता है। यह नहीं कि वाद्य-यन्त्रों के साथ गाया जाय तो वह गाना है, अन्यथा वह कथा है। जैसे, भगवान राम जब हनुमानजी से मिले, तो उन्होंने कहा था कि मैंने अपना चरित्र गाकर सुनाया–

आपन चरित कहा हम गाई। ४/१/४

अब वहाँ पर भगवान के गाने के साथ कोई बाजे तो बज नहीं रहे थे। गोस्वामीजी गाने वाले जान-बूझकर बने। देखिये, कथा के लिये श्रोता अवश्य चाहिये, पर एक गाना ही ऐसा है, जिसके लिये श्रोता मिल जाय तो ठीक, न मिले तो भी ठीक। शायद ही कोई मिलेगा, जो अकेले में कुछ गा-गुनगुना न लेता हो। गोस्वामीजी ने कहा कि अपने लिये तो यह गाने वाला रास्ता ही ठीक है। क्यों? बोले कि कथा कहेंगे, तो कोई सुननेवाला होगा तब तो आनन्द आयेगा, पर यदि कोई श्रोता न हो तब? तब तो कथा ही नहीं होगी। पर यह गायन की वृत्ति इतनी विलक्षण है कि कोई स्नान करते हुए गा रहा है तो कोई अकेले में बैठकर गा रहा है, कोई टहलते हुए गुनगुना रहा है। इस गायन की वृत्ति में बड़ी सहज अभिव्यक्ति होती है।

शंकरजी के यहाँ तो कम-से-कम एक श्रोता दिखाई भी पड़ा, पर गोस्वामीजी के यहाँ कोई श्रोता नहीं है, अकेले बैठे हुए गुनगुना रहे हैं। किसी ने पूछा दिया कि महाराज! किसे सुना रहे हैं? कोई दिखाई तो नहीं दे रहा है? गोस्वामीजी ने कहा कि भाई, एक श्रोता तो है। कहाँ है? वे बोले कि बाहर नहीं, भीतर है। तो बाहरवालों को क्यों नहीं सुनाते? जिनमें बाहरवालों को सुनाने की योग्यता हो, वे सुनावें। अभी हम अपने आपको ही पूरा नहीं सुना पाये हैं, इसलिए पहले हम उसी को सुना रहे हैं। तुलसीदास से पूछा गया कि किसको सुना रहे हैं? बोले कि भाई! मैं अपने मन को सुना रहा हूँ। तब तो महाराज! आपका मन बड़ा ऊँचा होगा, जिसको आप प्रभु की कथा सुना रहे हैं? बोले कि नहीं, मेरे मन का एक ही विशेषण है। क्या? मेरा मन बड़ा दुष्ट है–

सुनहि संतत सठ मना। ५/५६/छं.

शंकरजी ने सुना तो आश्चर्य चकित हो गये। उन्होंने रोक लगा दी थी, दुष्ट को मत सुनाना–

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। ७/१२७/३

उन्होंने सोचा कि मैंने दुष्टों को सुनाने पर रोग लगायी और इस दुष्ट ने दुष्ट मन को ही श्रोता बनाया, पर गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि महाराज! आप कैलास शिखर की ऊँचाई पर रहते हैं, वहाँ तो दुष्ट जा ही नहीं सकेगा। हम जिस मनोभूमि में रहते हैं, वहाँ तो दुष्टता ही दुष्टता है। इस दुष्टता की मनोभूमि में अगर हम दुष्ट मन को कथा से वंचित करेंगे, तब तो फिर यह शिष्ट बन ही नहीं पायेगा; इसलिए कृपा कीजिये, गंगा जब ऊपर से नीचे आयेंगी, तभी तो इन दुष्टों की दुष्टता दूर होगी। यह तो अवश्य ही है कि जितनी स्वच्छ गंगा शिव की जटा में है, धरती पर आकर उतनी स्वच्छ नहीं रह पाती। धरती की मिट्टी, मैल कुछ-न-कुछ तो उसमें मिल ही जाती है, पर इस मलिनता को दूर करने के लिये, पवित्र करने के लिये उस मलिनता को स्वीकार करना पड़ता है।

इसका अर्थ है कि जैसे गन्दगी भरे बालक को जब माँ गोद में उठाती है, तो उसके भी कपड़े मैले हो जाते हैं। जब माँ के कपड़े बच्चे की मलिनता से गन्दे हो जाते हैं, तो उससे माँ का वात्सल्य और भी अधिक परिलक्षित होता है। अपने वस्त्रों के गन्दे होने की चिन्ता न करके भी माँ बच्चे को अपनी गोद में उठा लेती है। इसी प्रकार से कथा की गंगा जब ऊपर से नीचे उतरेगी तो उसमें कुछ-न-कुछ मिट्टी तो लगेगी ही। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान शंकर की वाणी में जो पवित्रता है, वह सभी वक्ताओं में तो आ नहीं सकती। वक्ता के अन्तःकरण की मलिनता कुछ-न-कुछ उसकी वाणी में आयेगी ही, उसके द्वारा कही गयी कथा में आयेगी ही। लेकिन इतना होते हुए गंगा जैसे मृत्तिका से मटमैली लगने पर भी हमें पवित्रता और स्वच्छता देती है, वैसे ही यह कथा-गंगा भी नीचे उतरकर दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति के जीवन में भी प्रेरणा का संचार करती है, उसे धन्य बनाती है।

यह एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात है और साधना के सन्दर्भ में तो यह बड़े ही महत्त्व का सूत्र है। कथा तो गोस्वामीजी कहते ही थे और उनकी कथा में श्रोताओं की बड़ी संख्या भी होती थी। परन्तु चाहे आप 'मानस' पढ़िये या विनयपत्रिका, बाहर उनका कोई श्रोता नहीं है।

गोस्वामीजी पूरी रामायण की कथा कह रहे हैं, पर वे सम्बोधित किसको करते हैं? वहाँ उनका एकमात्र श्रोता उनका मन है। वे कथा बाहर में नहीं, भीतर में सुनाते हैं, अपने को और अपने मन को सुनाते हुए जो बातें वे कहते हैं, वे बड़ी मधुर हैं।

गोस्वामीजी भगवान राम के स्वभाव, उनकी करुणा और कृपा के उपासक हैं। वे उनकी कृपा और करुणा का वर्णन करते हैं, परन्तु साथ-ही-साथ वे अपने मन से कहते हैं। अरे मन! तूने इनसे क्या अर्थ लिया कि भगवान बड़े कृपालु हैं, तो तू चाहे जो कर ले? इससे बड़ी कुटिलता और क्या होगी कि जो इतने उदार हैं, उनके साथ कपट करने की चेष्टा करे, उन्हें धोखा देने की चेष्टा करे--

भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि। (वि.प.-२१५)

जैसे संसार में भी कोई आप पर विश्वास करके आपको निर्णायक बना दे कि आप जो निर्णय कर दें, हम उसे मान लेंगे, यह सुनकर तो पक्षपाती के हृदय में भी निष्पक्षता आ जानी चाहिये। ऐसा तो नहीं कि निर्णय के दिये हुए अधिकार को मनमाना निर्णय देकर उसकी गरिमा को मिटाया जाय। यह जो भगवान के स्वभाव की करुणा है, इसका अभिप्राय यह है कि बालक के मन में माँ के वात्सल्य की जो अनुभूति होती है, वह माँ के प्रति आदर उत्पन्न करने के बाद माँ की सेवा की वृत्ति उत्पन्न कराती है। जब बालक अपने बचपन का स्मरण करता है कि माँ ने मेरे लिये कितना कष्ट उठाया, किस तरह रात-दिन जागती रही, तो बड़े होकर व्यक्ति के मन में यहीं भावना तो आनी चाहिये कि हम सेवा करें, जिसने हमारे लिये इतना कष्ट उठाया है, तो वह व्यक्ति सही है। यदि वह माँ के वात्सल्य का केवल लाभ ले और उसमें माँ की सेवा की कोई घृत्ति न आवे, तो ऐसा कुपुत्र तो संसार के लिये भार-स्वरूप ही हैं। वस्तुतः महापुरुष जो भगवान के किसी विशिष्ट गुणों को महत्त्व देते हैं, उनका यदि सदुपयोग किया जाय, तो वे सभी अपने-अपने स्थान पर ठीक और उपयोगी भी हैं, पर यदि किसी सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जायेगा, तब तो भले-से-भले सिद्धान्त का भी परिणाम हितकर नहीं होगा। भय यदि व्यक्ति को दुर्बल बनाते-बनाते कायरता की सीमा में ला दे और अभय व्यक्ति को

निर्भय बनाते-बनाते अभिमानी बना दे, तब तो इन दोनों का दुरुपयोग ही हुआ। हनुमानजी ने इस भय और अभय दोनों का सदुपयोग किया। जब सुग्रीव बालि से डरे हुए थे, तब उन्होंने सुग्रीव को अभय का सन्देश दिया। भगवान भी कहते हैं कि मित्र! तुम मेरे भुजा के बल से निश्चिन्त हो जाओ, मैं हर तरह से तुम्हारी रक्षा करूँगा—

सखा सोच त्यगहु बल मोरें।
सब विधि घटब काज मैं तोरें।। ४/६/१०

पर उस सिद्धान्त का जब दुरुपयोग हुआ, निर्भयता और निश्चिन्तता आने पर भजन के स्थान पर भोगों की वृत्ति आयी। तब हनुमानजी जैसे महान आचार्य वह निश्चय कर लेते हैं कि व्यक्ति को भोगी बना देनेवाला अभय तो बड़ा घातक है। उन्होंने तत्काल कहा कि मैं तुम्हें कथा सुनाऊँगा और कथा सुनाते हुए हनुमानजी ने पूछ दिया कि भगवान ने जब बालि का वध किया था, उस घटना का चित्र क्या आपको स्मरण है? सुग्रीव ने कहा कि महाराज! खूब स्मरण है। भगवान मुझसे इतना प्रेम करते हैं कि मेरे लिये उन्होंने बालि पर बाण चला दिया। हनुमानजी ने कहा कि बस! क्या इतना ही याद है? और आगे तो सोचिये। क्या सोंचे? पूछ दिया कि अच्छा यह तो बताइये कि भगवान ने बालि को जो बाण मारा, वह कहाँ गया? सुग्रीव बोले—वह तो लौटकर भगवान के तरकस में ही चला गया। क्यों? जब काम हो गया तो उसे तरकस में लौटाने की क्या जरूरत थी? सुग्रीव ने हनुमानजी की पुरानी व्याख्या दुहरायी। कहा कि महाराज! आप तो कह ही चुके हैं कि भगवान बड़े आश्रितवत्सल हैं। हनुमानजी बोले, "बिल्कुल ठीक, यह तो भगवान का स्वभाव है, वे आश्रितवत्सल हैं। किसी आश्रित को वे दूर नहीं रहने देते, वात्सल्य से उसे अपने पास बुला लेते हैं। इसलिए ये दोनों आश्रित—धनुष और बाण सदा उनके पास रहते हैं। धनुष है टेढ़ा और बाण है सीधा। यही देखकर तो भक्त ने कहा, इससे पता चला कि प्रभु के हाथ में टेढ़े और सीधे, दोनों का निर्वाह है—

धनुष बाण प्रभु निरखि के दीनहि होत उदास।
टेढ़े सूधे सबन को है हरि हाथ निबाह।।

लेकिन प्रभु दोनों से दो तरह के व्यवहार करते हैं। क्या? बाण को दूर भेज देते हैं और धनुष को पास रखते हैं। क्यों? बोले कि बाण सीधा है, इसलिए आशा करते हैं कि जायेगा तो लौट आयेगा, पर टेढ़े से डरते हैं कि गया तो न जाने लौटकर आयेगा या नहीं? इसलिए इसे छोड़ना ठीक नहीं है, इसको तो पकड़कर ही रखो। धनुष को पकड़े हुए हैं, तब तो भगवान बड़े उदार हैं, आश्रित को कभी छोड़ते नहीं हैं। इसीलिये बाण को भी लौटा लिया और अपने पास रख लिया। हनुमानजी ने सुग्रीव से कहा कि आपने भगवान के एक ही पक्ष पर ध्यान दिया। वे जितने बड़े प्रेमी हैं, उतने ही बड़े राजनीतिज्ञ भी हैं। आपने देखा नहीं, भगवान की योजना कितनी दूर तक है। प्रभु ने यह जो अपना बाण लौटा लिया है, मुझे स्पष्ट लग रहा है कि यह बाण उन्होंने आपके लिये रख छोड़ा है कि अगर कहीं सुग्रीव भी बालि के समान आचरण करेगा, तो इसको भी मैं इसी बाण से मारूँगा। प्रभु वहाँ लक्ष्मणजी से कह भी रहे थे–

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।। ४/१७/५

हनुमानजी ने यह भी कह दिया कि याद रहे, प्रभु ने योजना पहले से ही सोच रखी है, इसीलिये युवराज तुम्हारे बेटे को नहीं, अंगद को बना रखा है। उन्होंने सोच रखा होगा कि यदि सुग्रीव को दण्ड देना पड़ा, तो अंगद को ही राज्य मिलना चाहिये। अब तुम सोच लो कि क्या होने वाला है?

बेचारे सुग्रीव तो कथा की यह व्याख्या सुनकर ऐसे डरे कि बोले कि महाराज! प्रभु मार भी सकते हैं क्या? उन्होंने कहा कि केवल मार सकते ही नहीं, मारने की योजना बन चुकी है। अब इस पर मृत्यु का भय तो आयेगा ही। हनुमानजी ने सुग्रीव के मन में भय उत्पन्न कर दिया। सुग्रीव डर गये और इस भय का अच्छा प्रभाव पड़ा। वे व्याकुल होकर कहने लगे कि हनुमान! मैं तो ये बातें जानता हूँ, पर क्या कहूँ, मैं अपने स्वभाव और विषयासक्ति से इतना लाचार हूँ कि अच्छी बातें भूल जाता हूँ। विषय ने मेरे ज्ञान का हरण कर लिया है–

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना। बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।।
अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा।।
कहहु पाख महुँ आव न जोई। मोरें कर ता कर बध होई।।
४/१८/३-४

यह है हनुमानजी द्वारा किया गया सुग्रीव के जीवन में भय का सदुपयोग, पर न तो बालि के जीवन में कभी भय रहा, न बालिपुत्र अंगद के जीवन में। अंगद भय से मुक्त हैं। बालि के जीवन में भय से मुक्त रहने से तो कुछ दोष आ गये थे, पर अंगद के जीवन में वह दोष नहीं है। बालि जब भय से मुक्त हो गया, तो थोड़ा अभिमानी हो गया, पर अंगद की विशेषता यह थी कि वे इतने निर्भय थे कि लक्ष्मणजी के आगमन का समाचार सुनकर तत्काल उनके सामने आये। लक्ष्मण महाराज बड़े अद्‌भुत पात्र हैं। उनके जैसा निर्भय कोई नहीं है। महान निर्भय हैं। इन तीनों पात्रों का अंगद के जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, पहले पात्र बालि हैं, दूसरे लक्ष्मणजी और तीसरे हनुमानजी हैं। अंगद के चरित्र निर्माण में इन्हीं तीनों लोगों की भूमिका मुख्य रूप में दिखाई देती है।

लक्ष्मणजी में ऐसी अभयवृत्ति है कि वे किसी से डरते नहीं। परशुराम से सारा ब्रह्माण्ड काँपता है, पर जब उन्होंने लक्ष्मणजी को डराने की चेष्टा की तो उन्हें सीधा उत्तर मिला–

इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जो तरजनी देखि मरि जाहीं।।
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू।।
१/२७२/३,२

पर उस अभय के पीछे तत्त्व क्या है? एक दृष्टि से देखें, तो लक्ष्मणजी में अभय है और भय भी है, परन्तु सुग्रीव तथा लक्ष्मणजी के भय में एक बहुत बड़ा अन्तर है, इसे आप गहराई से ध्यान में रखिए। सुग्रीव का भय मानो बालवृत्ति का भय है और लक्ष्मणजी के जीवन में जो भय है, वह वैसा नहीं है। बालकों में जो भय होता है, वह अज्ञानजनक भय होता है। बालक को कहिए कि हौवा पकड़ लेगा, तो वह बेचारा जानता भी नहीं कि हौवा क्या होता है, पर डर के मारे काँपने लगता है। पर एक भय और होता है, जो अज्ञान से नहीं, प्रेम

से उत्पन्न होता है। यदि आप किसी से बहुत प्रेम करें, तो आपके किसी कार्य से उन्हें कष्ट न हो जाय, कुछ उनकी इच्छा के विपरीत न हो जाय, इसका डर तो आपको बना ही रहता है। उत्कृष्ट प्रेम के बाद भी भय की एक स्थिति आती है। और भय तो सीताजी में भी है, वे सतत प्रभु के चरण-चिन्हों पर दृष्टि रखकर चलती हैं, एक-एक पग डरकर उठाती हैं–

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता।। २/१२२/५

श्री सीताजी को यह डर किस बात का है? जैसे सुग्रीव को दण्ड का, मरने का डर है, उन्हें वैसा डर तो नहीं है। तो कैसा डर है? यह डर है प्रेम का, प्रेम से उत्पन्न डर। उन्हें प्रभु की मर्यादा का इतना ध्यान है कि कहीं मेरे चरण की रेखा से प्रभु के चरण की रेखा मिट न जाय। और लक्ष्मणजी को भी प्रेम का भय है? इसका अभिप्राय है कि वह भय जो अज्ञान से उत्पन्न होता है, वह तो अलग होता है। और दूसरा भय, जो लक्ष्मणजी को हुआ, वह प्रेम के बाद होता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि जनकपुर में भगवान राम सोये हुए हैं, लक्ष्मणजी उनका पैर दबा रहे हैं, लेकिन कैसे दबा रहे हैं?–

चापत चरन लखनु उर लाएँ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ।। १/२२५/७

'सभय' डरे हुए पैर दबा रहे हैं तो क्या लक्ष्मणजी डरते भी हैं? गोस्वामीजी ने तुरत एक शब्द जोड़ दिया। 'सभय सप्रेम' यह प्रेम से जुड़ा हुआ भय है। जब हम किसी से बहुत अधिक स्नेह करते हैं, तो हमें उनकी इतनी अधिक चिन्ता हो जाती है कि उनको कोई कष्ट न हो जाय, कोई असुविधा न हो जाय, ऐसा तो दिव्य भावमय भय है, वह श्री सीताजी तथा लक्ष्मणजी में दिखाई देता है।

प्रभु ने एक बार लक्ष्मणजी से पूछ लिया, सारा संसार तुमसे डरता है, पर बिना कारण तुम मुझसे क्यों डरते हो? लक्ष्मणजी ने कहा कि महाराज! मैं तो यह चाहता हूँ कि मुझे डरते देखकर संसार सावधान हो जाय कि जब काल भी ईश्वर से डरता है, तो मनुष्य को तो डरना ही चाहिए। लक्ष्मणजी तो साक्षात् काल के अवतार हैं। मानो उनका

संकेत हम सबके लिए है कि सावधान होकर रहो। जब काल भी ईश्वर के सामने सावधान होकर चलता है, तो साधारण मनुष्य को तो सावधान होना ही चाहिये। मानो इस प्रकार से लक्ष्मणजी भय दिखाकर सबको भगवान की ओर ले जाते हैं।

पर अंगद के जीवन में भय की कोई अपेक्षा नहीं है, अंगद तो बालि के पुत्र थे, बड़े निर्भय थे। जब उन्होंने सुना लक्ष्मणजी पूरे नगर को जलाने के लिये आये हुए हैं, गोस्वामीजी बिना किसी लाग-लपेट के तत्काल कह देते हैं कि पूरे नगर के लोग भय के मारे काँप रहे हैं, लेकिन बालि के पुत्र अंगद निश्चित होकर आते हैं और उन्हें देखकर लक्ष्मणजी प्रसन्न हो जाते हैं और अंगद को अभयदान देते हैं।

लक्ष्मणजी का यह अभयदान बड़ा विलक्षण है। मरते समय बालि ने अंगद की भुजा भगवान के हाथों में पकड़ा दी थी। इस प्रकार भगवान ने पहले ही अंगद की बाँह पकड़कर उन्हें शरण में ले चुके हैं। पर आज जब लक्ष्मणजी ने अंगद की भुजा पकड़कर उन्हें अभयदान दे दिया, तो उसमें और भी परिपूर्णता आ गयी। आचार्य और भगवान, जब दोनों ने स्वीकृति दे दी, तो मानो यह पूर्णता आ गयी। केवल भगवत्कृपा नहीं, केवल आचार्यकृपा नहीं, दोनों की कृपा।

इसलिए जब विभीषण शरण में आये तो उनकी और लक्ष्मणजी की प्रकृति तो मेल नहीं खाती थी। प्रभु ने सोचा कि मैं तो शरण में ले रहा हूँ, पर कहीं लक्ष्मण विरोध तो नहीं करेंगे? लक्ष्मणजी तो परम तेजस्वी हैं, इसलिए प्रभु ने बड़ा अच्छा अभिनय किया और वह अभिनय बड़ा सफल रहा। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब विभीषणजी ने आकर प्रभु को प्रणाम किया तो प्रभु ने लक्ष्मणजी की ओर देखा। बोले कि लक्ष्मण! यह तो तुम देख ही रहे हो, मेरा शरीर बड़ा दुर्बल है और यह विभीषण कितना भारी है, तुम मेरी थोड़ी-सी सहायता करो। क्या सहायता करूँ? इसकी एक बाँह मैं पकड़ता हूँ और एक बाँह तुम पकड़ो, चलो दोनों मिलकर उठायें। लक्ष्मणजी ने ज्योंही विभीषण की बाँह पकड़ी, प्रभु ने मुस्कुराते हुए कहा कि अब ध्यान रखना, तुमने इसकी बाँह पकड़ ली है। देखो, तृण भी जिस बहते हुए की बाँह पकड़ लेता है, तो उसकी रक्षा करता है, तो तुम जैसे दिव्य चरित्र वाले को

तो विशेष रूप से ध्यान रखना होगा।

केवल एक ओर से नहीं, प्रभु और लक्ष्मणजी दोनों मिलकर उठाते हैं अर्थात् सुरक्षा दोनों ओर से मिलनी चाहिए। अंगद को ऐसी सुरक्षा प्राप्त है। इसलिए सुवेल पर्वत पर जब प्रभु ने अंगद और हनुमान के बीच चरण का बँटवारा किया, तो दाहिना चरण अंगद की गोद में रख दिया और बायाँ चरण हनुमानजी की गोद में। किसी ने प्रभु ने पूछा कि यह कैसा बँटवारा है? प्रभु ने मुस्कुराकर कहा कि जो जिसके आचार्यत्व के लिये आया है, उसको वही भाग दे दिया। वह कैसे? बोले, अंगद तो लक्ष्मण के शिष्य हैं और लक्ष्मण मेरे दाहिने ही रहते हैं, इसलिए इनको दाहिना चरण दिया और हनुमान श्री सीताजी के कृपापात्र हैं, वे मेरे वाम भाग में रहती हैं, अतः बायाँ चरण उनको दे दिया। इस तरह से दोनों अपने-अपने मार्ग से चरण के अधिकारी बने हुए हैं।

अंगद के चरित्र में यह अभय सर्वत्र दिखाई देता है। चाहे वह श्री सीताजी की खोज हो या रावण की सभा में। श्री सीताजी की खोज में सारे बन्दर सम्पाती के वचन को सुनकर डर से काँपने लगे। लेकिन उस समय अगर कोई अभय पात्र दिखाई देता है, तो वह हैं अंगद। गोस्वामजी कहते हैं–

कह अंगद बिचारि मन माहीं। धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।।
राम काज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी।।

४/२६/७-८

सम्पाती ने कहा था कि इतने बन्दर अनसन कर रहे हैं, मैं बहुत दिनों तक इन्हें खाकर अपना पेट भरूँगा। यह सुनकर बेचारे बन्दर तो काँपने लगे, पर अंगद उन्हें आश्वासन देते हुए कहते हैं कि एक गिद्ध ने तो सीताजी की रक्षा के लिये कितनी वीरतापूर्वक अपने प्राणों की आहुति दे दी, प्रभु के कहने पर भी उसने अपने प्राणों का लोभ नहीं किया, जीने की इच्छा नहीं की। एक गिद्ध तो वह था और दूसरा यह है जो सीताजी को खोजनेवालों को ही खाना चाहता है। सीताजी की खोज में यदि हमारे प्राण भी चले जायँ, तो हम लोगों का जीवन धन्य हो जायेगा। सम्पाती को अंगद के भाषण से बड़ी प्रेरणा मिली। जब

उसने सुना कि अंगद ने कितनी ऊँची बात कह दी है, तब वह उन्हें अभय देकर पूछने लगा–

तिन्हहि अभय करि पूछेसि जाई। ४/२६/१०

अंगद का चरित्र अभय-प्रधान है। उनमें कहीं भय नहीं है। रावण की सभा में अकेले जाने में भी, रावण को चुनौती देने में भी, उन्हें रंचमात्र भय नहीं है। यह अंगद के चरित्र की निर्भयता भगवान राम और लक्ष्मणजी के द्वारा प्रदत्त है।

⇔

।। श्री रामः शरणं मम।।

पंचम

आइए! अब कुछ समय के लिए एकाग्र और शान्तचित्त से मानस के उस पात्र की महत् चर्चा में हृदयंगम करने की चेष्टा करें, जिनके चरित्र में विकास-क्रम से भक्तितत्त्व को पाने का मार्ग व्याख्यायित होता होता है।

रामचरितमानस के अनुसार बालिपुत्र अंगद के चरित्र पर जिनका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा, उनमें पिता रूप में बालि तथा इसके बाद उन पर लक्ष्मणजी की तेजस्विता तथा निर्भयता का प्रभाव पड़ा। लक्ष्मणजी के चरित्र में जो अभय की वृत्ति है, वह अंगद के जीवन में सर्वत्र दिखाई देती है। अंगद किसी भी परिस्थिति में भयभीत नहीं होते। पर अंगद के जीवन का जो क्रम-विकास हुआ, उसमें मुख्य भूमिका हनुमानजी की है। अंगद ने हनुमानजी से जितनी प्रेरणा पायी, वैसी प्रेरणा किसी अन्य से नहीं पाई। उनकी पृष्ठभूमि पर जरा ध्यान दें। सुग्रीव बन्दरों को आदेश दे चुके हैं कि वे जनकनन्दिनी सीताजी का पता लगाने के लिए जाएँ। इस कार्य के लिए दसों दिशाओं में बन्दरों को भेजा जाता है। पर दक्षिण दिशा के लिए जिन बन्दरों का चुनाव किया गया, वे वानरों में सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं।

बहिरंग अर्थों में तो इसका तात्पर्य यह था कि रावण ने सीताजी का हरण किया है, यह समाचार गीधराज से पहले ही मिल चुका है। सुग्रीव से भी यह सूचना मिल चुकी है। रावण की लंका दक्षिण दिशा में है, अतः दक्षिण दिशा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। पर इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है। क्योंकि 'मानस' में इतिहास और भूगोल का पक्ष विद्यमान होते हुए भी यह गौण है, मुख्य नहीं। इस

सन्दर्भ में यही संकेत मिलता है, क्योंकि यदि केवल भौतिक दृष्टि से देखें कि जब समाचार मिल ही चुका है कि रावण सीताजी का हरण करके दक्षिण की ओर गया है, तो उसके बाद केवल दक्षिण दिशा में ही बन्दरों को भेजना चाहिए था और यदि श्रीराम का यही निश्चय था कि यह कार्य हनुमानजी के द्वारा ही सम्पन्न हो, तो ऐसी अवस्था में भगवान अपने प्रिय भक्त हनुमानजी को पास बुलाकर आदेश देते कि तुम दक्षिण दिशा में लंका की यात्रा करो और जनकनन्दिनी सीताजी तक मेरा सन्देश पहुँचाओ और उनका सन्देश लेकर मेरे पास वापस आओ।

परन्तु यह दसों दिशाओं में बन्दरों को भेजना बहिरंग दृष्टि से अगर देखें तो ऐसा लगता है कि यह तो एक व्यर्थ का कार्य था, जिसका कोई उद्देश्य नहीं था। लगता है बन्दरों को व्यर्थ के श्रम में लगा दिया गया। वैसे तो दक्षिण दिशा में अंगद के नेतृत्व में बन्दरों को भेजा गया, पर भगवान उन्हें वह आदेश नहीं देते, जो उन्होंने हनुमानजी को बुलाकर दिया। ये दोनों सूत्र बड़े महत्त्व के हैं।

'मानस' में इतिहास की अपेक्षा साधना के पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसे यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में देखें, तो इतिहास में तो सीताजी की खोज में त्रेतायुग का सत्य है, पर यदि व्यक्ति तथा समाज के सन्दर्भ में देखें, तो सीताजी की खोज जीवन का चरम लक्ष्य है। सीताजी को खोजना और पाना ही रामायण का महत्तम उद्देश्य है, परम लक्ष्य है।

श्री सीताजी का परिचय अनेक रूपों में दिया गया है। वेदान्त की भाषा में सीताजी मूर्तिमती 'शान्ति' हैं। और भक्तों की भाषा में उनका परिचय देते हुए उन्हें 'भक्ति' कहा गया—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर।। २/३२१

जब मनु को भगवान श्रीराम का दर्शन हुआ, तो उस समय एक बड़ी विचित्र घटना हुई। मनु आशा करते थे कि भगवान उनके सामने श्रीराम के रूप में प्रकट होंगे, लेकिन श्री राघवेन्द्र जब प्रकट हुए, तो वे अकेले नहीं थे। उनके वाम भाग में दिव्य शक्ति सुशोभित हो रही थीं।

इन दो सूत्रों पर ध्यान दें। महाराज जनक और महाराज दशरथ। महाराज मनु ही आगे चलकर महाराज दशरथ होते हैं और दोनों के चरित्र में आपको एक सूत्र मिलेगा। महाराज मनु ने भगवान श्रीराम को बुलाया, परन्तु वे अकेले नहीं, बल्कि सीताजी को साथ लेकर आए। इस प्रकार महाराज जनक ने केवल सीताजी को पाया, पर सीताजी अकेली नहीं रहीं और उनके माध्यम से उन्होंने श्रीराम को पा लिया। ये दोनों पक्ष हैं, श्रीराम के माध्यम से सीताजी की उपलब्धि और सीताजी के माध्यम से श्रीराम की उपलब्धि।

रावण के जीवन में इसका एक अन्य पक्ष भी मिलता है। रावण के जीवन का लक्ष्य है सीताजी को पाना है, पर उसके हृदय में सीताजी के प्रति जितना राग है, श्रीराम के प्रति उतना ही तीव्र द्वेष है। वह श्रीराम से अलग करके सीताजी को पाना चाहता है। जनक और दशरथ के प्रसंग में सीताजी और श्रीराम का मिलन होता है, पर रावण के द्वारा उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया जाता है। यह जो उपलब्धि का क्रम है, वह दोनों को अलग करके कभी नहीं हो सकता। उपलब्धि जब भी होगी, तो वहाँ सीताजी और श्रीराम साथ-साथ होंगे। रावण के जीवन में जिस पद्धति से उन्हें पाने की चेष्टा की गयी, उसके परिणाम से आप भली-भाँति परिचित हैं।

अब आध्यात्मिक आधार पर विचार कीजिए। भगवान राम जब मनु के समक्ष आए, तो सीताजी के साथ आए, इसका तात्पर्य क्या है? सीताजी यदि वेदान्त की भाषा में मूर्तिमती शान्ति हैं, तो यों कहिए कि ईश्वर और शान्ति आपस में अभिन्न भाव से जुड़े हुए हैं, दोनों एक ही हैं। इसका अर्थ यह है कि जब जीवन में ईश्वर पूरी तरह से प्रतिष्ठित होगा, तभी शान्ति मिलेगी। यदि सीताजी भक्ति हैं और जनकजी ने भक्तिरूपी सीताजी को पा लिया, इसका अभिप्राय है कि जहाँ पर भक्ति है, वहाँ पर भगवान बिना प्रयास के मिल जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों के जीवन में यह सूत्र स्पष्ट होता है।

मनु ने जब भगवान श्रीराम के वाम भाग सुशोभित सीताजी को देखा, तो वे उन्हें पहचान नहीं सके, मनु का उनसे परिचय नहीं था। उन्होंने जिज्ञासाभरी दृष्टि से सीताजी की ओर देखा तो प्रभु ने उन्हें

बताया कि मनु! ये वही आदिशक्ति हैं, जिनके द्वारा संसार का सृजन हुआ है। और दूसरा परिचय देते हुए कहते हैं कि ये ही मेरी माया हैं–

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।। १/१५१/४

माया की व्याख्या कई रूपों में की गयी है। माया का एक तात्पर्य, जैसे जादूगर बिना वस्तु के विचित्र-विचित्र चीजें दिखा देता है, वैसे ही ईश्वर भी संसार का सबसे बड़ा जादूगर है। उसने बिना किसी वस्तु के इस जगत की सृष्टि की है। इसके पीछे जो कौशल, क्षमता तथा शक्ति है, वही मायामयी सीताजी हैं। भगवान कहते हैं कि ये सीताजी ही मेरी माया हैं। मैं जो इस ब्रह्माण्ड का सृजन करता हूँ, वह इस माया-शक्ति के द्वारा ही करता हूँ। वस्तुतः यह मुख्य रूप से शक्ति का कार्य है।

तीसरी ओर संकेत यह था कि मनु के हृदय की जो भावना थी, वह प्रारम्भ से ही दूसरी थी। महाराज मनु और महाराज जनक के अन्तःकरण की वृत्ति में मूल अन्तर यह था कि महाराज मनु धर्मात्मा तो बहुत थे, पर इसके बावजूद उनके जीवन में आसक्ति थी। उनके जीवन में वैराग्य नहीं था। इसका उन्हें दुःख था, क्योंकि धर्मात्मा के साथ-ही-साथ वे विवेकी भी थे, अतः भले ही उनके मन में वैराग्य नहीं था, पर विवेक के द्वारा वे वैराग्य की महिमा को जानते थे। इस कारण उन्हें बड़ी ग्लानि थी कि जीवन में धर्मपूर्वक आचरण और धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करते हुए भी अभी तक जीवन से आसक्ति मिटी नहीं है, वैराग्य का उदय नहीं हुआ है–

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुःख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु।। १/१४२

महाराज मनु के मन में जब यह ग्लानि उत्पन्न हुई, जब बोध उत्पन्न हुआ, तब वे विवेकपूर्वक उस आसक्ति को दबाते हैं और पुत्र को राज्य देकर वन की ओर चल देते हैं–

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा।। १/१४२/१

ईश्वर की प्राप्ति के लिए चल पड़े। लेकिन पद्धति उन्होंने बड़ी

विचित्र अपनाई। राज्य छोड़ दिया, पुत्र छोड़ दिया, किन्तु पत्नी को साथ ले गये। यह बात बड़ी विचित्र है। जब सब कुछ त्याग कर जाना था, तो पत्नी को भी छोड़ जाना था। इसके मूल में मनु की वही मनोभूमि थी, वह यह थी कि वे समझ गये कि मेरे जीवन में वैराग्य तो है नहीं, आसक्ति और राग है। जब संसार से आसक्ति हटे, तो भगवान में आसक्ति हो और दूसरा यह कि भगवान से आसक्ति हो जाए, तो संसार से आसक्ति स्वयं ही छूटकर अनासक्ति आ जाए। मनु को लगा कि संसार से तो मैं अनासक्त और वैराग्यवान बन नहीं पाया, इसलिए अब मेरे लिए तो राग और आसक्ति का ही मार्ग है। पत्नी को साथ ले जाने के पीछे उनकी योजना क्या थी? इसका रहस्य तब खुलता है, जब भगवान ने मनु से पूछा कि तुम क्या चाहते हो? उनकी योजना तो थी कि वैराग्य आ जाय, अनासक्ति हो जाय, मुक्त हो जाऊँ, पर जब मन में आसक्ति और राग है, तो मैं ईश्वर से माँगू तो बेटा ही माँगू, पर उसमें एक सूत्र उन्होंने कितना सुन्दर जोड़ दिया। उन्होंने सोचा कि पुत्र तो माँगना है, पर वह स्वयं ईश्वर हो, ईश्वर को ही पुत्र बनाना है। यह थी उनकी योजना कि पति-पत्नी दोनों चलेंगे, तभी तो ईश्वर पुत्र बनेगा। वस्तुतः भगवान को पाने के लिए दोनों की साधना अपेक्षित है। इसका अभिप्राय है कि मैं तो आसक्ति के माध्यम से ईश्वर को पुत्र बनाने जा रहा हूँ, इसलिए साथ में सतरूपाजी को भी ले लिया। भगवान ने जब पूछा कि मनु तुम क्या चाहते हो? तो मनु कहते हैं, मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। भगवान बोले, मैं अपने समान कहाँ खोजने जाऊँगा, अतः चलो मैं ही तुम्हारा पुत्र बनकर आऊँगा, परन्तु मेरे साथ सीताजी भी अवतरित होंगी। यह ठीक ही है। क्योंकि यदि सीताजी भक्ति हैं, तो भगवान भक्ति के बिना नर-शरीर धारण कैसे कर सकेंगे? पुत्र कैसे बनेंगे? यह तो भक्ति की क्रीड़ा है। दूसरी बात यह कि असीम को ससीम के रूप में दिखा देना, तो माया के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए भगवान राम सीताजी को साथ लेकर आये हुए हैं। इस तरह राग के मार्ग से उन्होंने श्रीराम से नाता जोड़ा और इसके परिणामस्वरूप जब धनुर्भंग के बाद भगवान राम का विवाह होता है, तो सीताजी भी वहाँ आ जाती हैं। इस प्रकार मनु ने महाराज

दशरथ के रूप में उन दोनों को संयुक्त रूप में पा लिया। महाराज जनक थे महान विरागी तथा निष्काम और महाराज मनु थे रागी और सकाम। भगवान मनु से बोले कि तुम्हें जो माँगना हो, माँग लो–

मागहु बर जोइ भाव मन। १/१४८

पर वे इतना कहकर नहीं रुके, बल्कि उनके अगले वाक्य से तो ऐसा लगता है मानो कोई अपनी प्रशंसा कर रहा हो। यदि आप किसी के घर जाएँ और वह आपसे कहे कि आपको क्या चाहिए? तब तो ठीक है, पर यदि वह यह भी कहे कि मेरे समान कोई दानी नहीं मिलेगा, तब तो लगेगा कि वह अपने मुँह से अपनी ही प्रशंसा कर रहा है। भगवान ने इतना ही नहीं कहा कि वर माँगो, साथ ही यह भी कह दिया कि यह समझकर माँगो कि मैं "महादानी" हूँ–

मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि। १/१४८

पर भगवान का अभिप्राय आत्मप्रशंसा नहीं था। यह तो उन्होंने मनु को उकसाने के लिए, उनका संकोच छुड़ाने के लिए कहा। भगवान का अभिप्राय यह था कि महाराज मनु! यदि आप निष्काम बन जाएँगे, कुछ नहीं माँगेंगे, तब तो मेरे साथ बड़ा अन्याय होगा। क्या? बोले कि मुझे तो महादानी की उपाधि मिली हुई हैं और यदि कोई माँगनेवाला न मिले तो मुझे जो उपाधि मिली हुई है उसकी सार्थकता ही क्या है? वह तो व्यर्थ ही चली जाएगी। अतः आप जरूर कुछ माँगिए, ताकि मेरी उपाधि तो बनी रहे। यदि सभी निष्काम हो जाएँगे, मुझसे कुछ माँगेंगे ही नहीं, तो मेरे "महादानि" उपाधि का क्या होगा?

इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी की विनयपत्रिका में कही हुई बात याद आती है। वे भगवान की सभा में गये। पहुँचकर पहले तो प्रसन्न हुए, बाद में गम्भीर हो गये। प्रभु ने पूछा कि आए तब तो प्रसन्न थे, अब गम्भीर कैसे हो गये? गोस्वामीजी बोले कि महाराज! मैंने सुना था कि आपका नाम पतित-पावन है, तो बड़ा प्रसन्न होकर चला आया, पर यहाँ आने के बाद मुझे बड़ी निराशा हुई। क्यों? बोले कि मैंने सोचा कि आप पतित-पावन हैं, तो आपकी सभा में दो-चार पतित तो अवश्य होंगे, पर जिधर भी देखता हूँ बड़े-बड़े महापुरुष ही दीख रहे हैं, पतित तो एक भी नहीं दिखता। मुझे तो आपका यह पतित-पावन नाम कुछ

सार्थक नहीं लगता। लेकिन मेरे पास उपाय है। यदि आप मेरी बात मान लें, तो आपकी उपाधि सार्थक हो जाएगी। क्या? आप मुझे अपनी शरण में ले लीजिए। इससे लाभ यह होगा कि यदि आपसे कोई पूछे कि आप कैसे पतित-पावन हैं, तो आप मेरी ओर दिखा दीजिए कि तुलसीदास जैसा पापी भी मेरी सभा में है, अतः मैं पतित-पावन हूँ। विनयपत्रिका में वे कहते हैं कि महाराज! पतित के बिना पतित-पावन कैसे सार्थक होगा—

मैं हरि पतित-पावन सुनें।

मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने। वि.१६०/१

यहाँ मनु के प्रसंग में भगवान कहते हैं कि मनु! यदि तुम माँगोगे नहीं, तो मेरी महादानिता कैसे सिद्ध होगी? महादानी का अभिप्राय क्या है? दानी तो वह है जो अपनी सारी वस्तुएँ दान में दे दे, पर महादानी? भगवान मनु को माँगने की पूरी छूट दे देते हैं। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि मनु क्या माँगने वाले हैं, इसलिए कह दिया, मुझे केवल दानी न समझना। दानी तो अपनी वस्तुएँ दान कर देता है, पर मैं तो महादानी हूँ। इसका अभिप्राय है कि तुम संकोच मत करना; चाहो तो स्वयं दानी को ही माँग सकते हो। महादानी अर्थात् जो स्वयं को भी दान कर दे। मानो वे संकोच को दूर करके स्वयं ही संकेत दे देते हैं कि मैं जानता हूँ, तुम क्या माँगना चाहते हो, संकोच न करो, मैं स्वयं को देने के लिए स्वयं प्रस्तुत हूँ।

महाराजा जनक महानिष्काम हैं, बड़े वैराग्यवान हैं। उनके जीवन में कहीं कामना का लेश तक नहीं है। इसलिए भगवान जनकपुर में एक बार भी घोषणा नहीं करते कि मैं महादानी हूँ। वहाँ पर उन्होंने स्वयं को न दानी कहा, न महादानी। क्यों नहीं कहा? किसी ने भगवान से पूछा, आप निष्कामियों से नाता जोड़ने को तैयार हैं? बोले, मैं तो निष्काम और सकाम दोनों का ही सम्बन्धी हूँ, यदि आप सकाम हों, तो दशरथ की तरह बेटा बना लीजिए और यदि निष्काम हों, तो जनक की तरह दामाद बना लीजिए। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान दोनों तरह से नाता जोड़ते हैं। पिता-पुत्र के नाते में सकामता है और जहाँ कन्या अर्पित की जाती है, वहाँ पर निष्कामता की वृत्ति है, देने की

वृत्ति है। भगवान बोले कि मुझे न तो लेने में संकोच है और न देने में। जनकपुर में महाराज जनक ने अपनी कन्या का दान किया, तो प्रभु हाथ फैलाकर जानकीजी का पाणिग्रहण कर लेते हैं मानो वे कहते हैं कि यदि आप मुझसे कुछ माँगना चाहते हैं, तो माँगिए और कुछ नहीं चाहते, तो दीजिए।

इस प्रकार सीताजी चाहे शान्तिरूपा हों, या भक्तिरूपा हों, या शक्तिरूपा, दोनों महापुरुषों के जीवन में विभिन्न रूप से प्राप्त हो जाती हैं। यही उन्हें पाने का वास्तविक क्रम है। रावण के जीवन का दुर्भाग्य यह है कि उसने सीताजी को पाने के लिए इससे ठीक विपरीत क्रम अपनाया। रावण के जीवन का लक्ष्य भी सीताजी को ही पाना है। किसी के भी जीवन का लक्ष्य दूसरा हो ही नहीं सकता। सीताजी यदि शान्ति हैं, तो कोई व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि हमें शान्ति न मिले। सीताजी यदि शक्ति हैं या भक्ति हैं, तो कोई व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि मुझे शक्ति या भक्ति नहीं चाहिए। यह तो सभी की याचना होती है, चाह होती है कि हमें जीवन में शक्ति मिले, भक्ति मिले, शान्ति मिले। पूरी रामायण का यह केन्द्रीय विषय है। रावण भी सीताजी को पाना चाहता है, पर सीताजी को पाने का जो क्रम है, उसमें एक विशेष संकेत है। रावण ने जो सोच लिया कि वस्तुतः सीता को समग्र अर्थों में तभी पाया जा सकता है, जब उन्हें राम से अलग कर दिया जाए और कुछ समय के लिए ऐसा लगा भी कि वह सीताजी को श्रीराम से अलग करने में समर्थ हो गया। लेकिन क्या सचमुच सीताजी श्रीराम से तब अलग हो गयीं थीं और रावण ने उन्हें पा लिया था? वहाँ तो अंगद ने ही रावण की कलई खोल दी। यह प्रसंग आगे आएगा, पर उसका एक सूत्र यह है कि अंगद ने रावण की सभा में जो पाँव रोपकर कह दिया—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी।। ६/३३/६

रावण तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी व्यक्ति अगर मेरे पैर को हटाने में समर्थ हो जाएगा, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि सीताजी को हार जाऊँगा और राम लौट जाएँगे। इसके पीछे कई उद्देश्य हैं, जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। पर एक तो विशेष उद्देश्य था, वह

प्रकट हो गया। क्या? रावण ने एक बहुत बड़ा भ्रम पाल रखा था। हनुमानजी ने उसे भक्ति का उपदेश देते हुए कहा था कि यदि तुम श्रीराम के चरण-कमलों को हृदय में धारण करो, तो तुम लंका पर चिर काल तक राज्य करते रहोगे–

राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२२/१

यह सुनकर रावण हँसने लगा। बोला, यह तो बड़ा भारी दानी बन्दर मिला है मुझे, 7और यह मुझे लोभ भी दिखा रहा है, तो लंका का। तो मानो रावण का व्यंग्य था कि लंका का राज्य मैं नहीं तो क्या तुम कर रहे हो? देख नहीं रहे हो कि इस लंका के सिंहासन पर मैं बैठा हूँ। लंका तो मेरी ही है, मुझे मिली हुई ही है। अब तुम्हारे कहने से और क्या मिलना है? तब हनुमानजी ने कहा कि पाने का सही अर्थ तुम नहीं जानते। और अब अंगद ने हनुमानजी की व्याख्या को और स्पष्ट किया। रावण जिस समय अंगद का पैर हटाने चला, तो अंगद ने व्यंग्य-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा कि रावण! तुम सारे संसार को दिखाने की चेष्टा करते हो कि तुमने तो सीताजी को पा लिया है, लेकिन तुमने यदि सचमुच उन्हें पा लिया होता, तो मेरे कहने पर फिर से पाने की चेष्टा नहीं करते। तुम उठ खड़े हुए इसका अर्थ है कि तुम मुँह से भले ही कहो, पर भीतर से तुम यह भली प्रकार जानते हो कि तुम्हें सीताजी बिल्कुल नहीं मिली हैं। हनुमानजी ने रावण के समक्ष यही व्याख्या की थी। हनुमानजी ने पूछा था कि रावण! तुमने पाने का क्या अर्थ समझ लिया है? रावण बोला लंका मेरी है, मैंने उसे पा लिया है। हनुमानजी बोले कि तुम पाने का अर्थ नहीं जानते। वस्तुतः पाने का अर्थ यह नहीं है, जो तुम समझ रहे हो। यदि कोई वस्तु किसी व्यक्ति के पास दिखाई दे रही हो, तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि उसने उस वस्तु को पा लिया है? 'मानस' की एक प्रसिद्ध पंक्ति है-मति, कीर्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई, ये पाँचों वस्तुएँ जब भी किसी को मिली हैं, तो केवल सत्संग के प्रभाव से ही मिली हैं–

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ।।
१/२/५-६

'मानस' में ऐसा दावा तो किया गया है, परन्तु व्यहवार में यह दावा बिल्कुल सत्य दिखाई नहीं देता। ऐसे अनेक व्यक्ति दिखाई देते हैं, जो कभी भूलकर भी सत्संग में नहीं जाते, पर बड़ी तीव्र बुद्धि के होते हैं। ऐसे भी कई लोग हैं, जिनकी बड़ी कीर्ति है, बड़ा नाम है और उन्होंने कभी सत्संग का आश्रय नहीं लिया। ऐसे भी कई धनी व्यक्ति हैं, जो सत्संग में प्रेम नहीं रखते, पर उनके पास अगाध धन भरा हुआ है। तो फिर 'मानस' का यह दावा क्या सही है? इसका उत्तर यह है कि 'मानस' में जिस अर्थ में इनका मिलना माना गया है, उस अर्थ में यह दावा बिल्कुल सही है? बुद्धि, धन या कीर्ति मिलने का क्या अर्थ है? यहाँ भी वही हनुमानजी द्वारा दिया हुआ सूत्र ही लगेगा। यहाँ अभिप्राय यह है कि वस्तु के मिल जाने के बाद यदि व्यक्ति को उसके मिल जाने का आनन्द प्राप्त हो जाए, तब तो उस मिलने की सार्थकता है।

इसको यों कहें कि मानो किसी व्यक्ति को हीरा मिल गया और उसके बाद भी वह भूखों मर रहा है। ऐसी स्थिति में यदि उसके पास सचमुच ही हीरा हो और यदि वह उसका मूल्य प्रकट कर सके, तो वह दरिद्रता का कष्ट क्यों पाएगा? ठीक इसी प्रकार बहुतों ने व्यावहारिक अर्थों में तो बुद्धि को पा लिया है, पर जिसको बुद्धि पाना कहते हैं, जो बुद्धि का चरम उद्देश्य है, बुद्धि के मिलने पर जो मिलना चाहिए, यह यदि नहीं मिला, तो इस पाने की क्या सार्थकता? तात्पर्य यह कि वह बुद्धि को अपने सिर पर ढो रहा है। सिर पर जो वस्तु होती है, वह मूल्यवान भी होती है और बोझ भी। बुद्धि तो सिर में ही होती है। इसलिए वह कुछ लोगों के लिए बोझ हो जाती है। इसका अर्थ है कि बुद्धि यदि हमारे जीवन के बोझ को हल्का कर दे, तो उस बुद्धि के मिलने में सार्थकता है, परन्तु यदि वह स्वयं हमारे लिए एक बोझ बन जाए, तब तो वह एक विडम्बना हो गयी। इसे आप यों कह लीजिए कि जब आप बाजार में कोई वस्तु खरीदते हैं और सामान यदि अधिक हो जाए, तो आप क्या करते हैं? एक मजदूर को बुलाकर सारा सामान करके सिर पर रख देते हैं। अब आप तो बिल्कुल खाली हाथ चले जा रहे हैं और सारा सामान वह मजदूर ढो रहा है। मजदूर के

सिर पर रखा हुआ यह सारा सामान उसका है या आपका? तात्पर्य यह कि उस बेचारे को तो ढोना-ही-ढोना है और आप उसे थोड़ा-सा पारिश्रमिक देकर श्रम से बच गये। उसने तो केवल ढोया। दिखाई तो दे रहा था कि सारा सामान उसके पास है, मानो उसी का हो, पर वस्तुतः वह उसका नहीं है।

इसी प्रकार 'मानस' का तार्त्य यह है कि बुद्धि का बोझ तो बहुत-से लोग ढो रहे हैं, कीर्ति का बोझ तो बहुत-से लोग ढो रहे हैं, निरन्तर यही चिन्ता लगी है कि कहीं हमारी कीर्ति नष्ट हो जाए। ऐश्वर्य पाने के लिए व्यग्र हैं, निरन्तर चिन्ता लगी हुई है कि कहीं ऐश्वर्य चला न जाए, निरन्तर सजग रहकर पहरा दे रहे हैं, केवल चौकीदारी किये जा रहे हैं। इन वस्तुओं—मति, कीर्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई को पाने का वास्तविक अर्थ क्या है? सच्चे अर्थों में इनकी प्राप्ति क्या तात्पर्य है, यह तो किसी सन्त या सत्संग के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

बुद्धि मिलने का अभिप्राय क्या है? "सा विद्या या विमुक्तये"। इसका अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति को सचमुच ही बुद्धि मिल जाएगी, तो इसके परिणामस्वरूप उसे तत्त्वज्ञान और ईश्वर का बोध होगा। लेकिन यदि बुद्धि पाकर उसे बुद्धिमत्ता का अभिमान हो गया, तब तो बुद्धि पाने का कोई लाभ ही नहीं हुआ। हनुमानजी ने रावण से यही कहा कि तुम समझ रहे हो कि तुमने लंका पा ली है, पर मैं तो कहूँगा कि तुमने लंका को पाया ही नहीं है—

राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।।
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं।।

५/२२/५-६

नदी की सार्थकता तभी है, जब वह अपने मूल स्रोत से जुड़ी हो। वैसे तो जब जल की आवश्यकता नहीं होती, तब तो बिना स्रोत की नदी भी जल से भरी-पूरी दिखाई देती है। वर्षा ऋतु में तो सड़कों पर भी नदियाँ दिखाई देता हैं, पर जब गर्मी का मौसम आता है, तब कहीं भी जल दिखाई नहीं देता और तब वह बिना स्रोतवाली नदी सूख जाती है। हनुमानजी का अभिप्राय था कि रावण तुम मूल से विच्छिन्न होकर

समझ बैठे हो कि लंका पर तुम्हारा अचल राज्य है।

आगे चलकर अंगद ने दोनों की व्याख्या की। हनुमानजी के शब्दों की व्याख्या अंगद ने कर दी। हनुमानजी ने कहा था कि "लंका अचल"। 'लंका' के साथ 'अचल' शब्द जोड़कर उन्होंने रावण को बताया था कि वस्तुतः तुम अभी लंका के अचल राजा नहीं हो। हनुमानजी का संकेत यह था कि रावण! तुमसे पहले भी कितने ही लोग लंका के सिंहासन पर बैठे और चले गये। जब यह पद ही "चल" है, तो तुम भी चले जाओगे और तुम्हारे बाद कोई और इस पर आकर बैठ जाएगा। मैं तो तुम्हें अचल बनाने की बात कर रहा हूँ। रावण हँसता है। कहता है कि मेरा राज्य तो अचल है, उसे तुम क्या और अचल करोगे। मैं सिंहासन पर बैठा हुआ हूँ, मैं कभी मारूँगा नहीं, मेरा पद तो अचल है ही। अंगद ने रावण के दोनों भ्रम तोड़ दिये, लंका का राज्य अचल होने का भ्रम तोड़ दिया और सीताजी को पाने का भ्रम भी तोड़ दिया। इसके साथ ही उन्होंने रावण की कलई भी खोलकर रख दी।

लंका का राज्य अचल है, इस भ्रम को अंगद ने कब तोड़ा? जब रावण की सभा में अंगद ने उसे मुक्का मारा और रावण मुँह के बल सिंहासन से नीचे गिर पड़ा। इसके बाद अंगद से कहा कि जब एक बन्दर के मुक्के से ही तुम्हारा सिंहासन चल हो गया, तो सोच लो कि राम के मुक्के से क्या होगा? यही तो तुम्हारे अचल राज्य की दशा है। देखा, एक बन्दर ने मुक्का चलाया और तुम्हारा सिंहासन चल हो गया। अरे, इस भ्रम में मत रहो कि यह अचल है। यह बिल्कुल चल है, बिल्कुल क्षणिक वस्तु है। इसी तरह रावण यह भी दिखाया करता था कि उसने सीताजी को पा लिया है। लेकिन जिस समय अंगद के पाँव उठाने को रावण झुका, तो अंगद ने तत्काल कहा कि रावण! अब तो यह स्पष्ट हो गया कि तुमने सीताजी को पाया नहीं है। तभी तो तुम प्रबल कर रहे हो। प्रयत्न तो बुरा नहीं है, पर प्रयत्न का जो सही मार्ग है, उसे तो तुमने छोड़ दिया है। कौन-सा मार्ग? बोले, क्या मेरे पाँव पकड़ने से सीताजी मिलेंगी?—

गहत चरन कह बालिकुमारा। मम पद गहें न तोर उबारा।।
गहसि न राम चरन सठ जाई। ६/३४/२-३

सीताजी बन्दर के चरण पकड़ने से नहीं, श्रीराम के चरण पकड़ने से मिलती हैं। इसलिए तुम्हें उन्हें पाना चाहिए, जिन्हें पाने से ईश्वर के चरणों की सच्ची भक्ति मिलती है। यह अंगद के द्वारा दिया गया सूत्र था। इस विस्तृत प्रसंग का सूत्रात्मक अभिप्राय यह है कि जीवन का चरम लक्ष्य सीताजी की प्राप्ति ही है। रावण जैसे लोग भी उन्हीं को पाना चाहते हैं। कभी यह भ्रम भी उत्पन्न कर लेते हैं कि मैंने उन्हें पा लिया है, पर सही अर्थों में उनके लिए उन्हें पाना अभी बाकी है।

इसी को सुस्पष्ट करने के लिए भगवान श्रीराम मनुष्य के रूप में मानवीय पद्धति से श्री सीताजी को पाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सीताजी का कैसे हरण हो गया, उनसे दूरी कैसे उत्पन्न हो गयी? दूरी को मिटाने के लिए सीताजी की खोज की गयी, इसके लिए बन्दरों को भेजा गया। ये बन्दर कौन हैं? गोस्वामीजी कहते हैं, ये बन्दर मानो नाना प्रकार के मोक्ष के साधन हैं। 'विनयपत्रिका' में कहते हैं—

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल। ५८/८

ये बन्दर मोक्ष के विविध साधन हैं। उन सभी को सीताजी की खोज में भेजा गया। इसका तात्पर्य यह है कि सारे साधनों का अन्तिम फल सीताजी के रूप में शान्ति, मुक्ति या भक्ति को पा लेना है। यही इसका अर्थ है। तब? सारे बन्दरों को भेजा गया, इसका क्या तात्पर्य है? ऐतिहासिक सन्दर्भ में तो सीताजी दक्षिण दिशा लंका में हैं, फिर सभी दिशाओं में बन्दर क्यों भेजे गये? इसका उत्तर यही है कि अनेकों धर्मों में साधना की विभिन्न पद्धतियाँ हैं। ये पद्धतियाँ मानो भक्ति को पाने की दिशाएँ हैं। भिन्न-भिन्न दिशाओं में तीर्थ बने हुए है—कोई पूर्व में है, तो कोई पश्चिम में, कोई उत्तर में है, तो कोई दक्षिण में। लोग ईश्वर की खोज में सभी दिशाओं में स्थित तीर्थों की यात्रा करते हैं। इसका अर्थ यह है कि चाहे हम किसी भी साधना, पद्धति या मार्ग का आश्रय लें, पर जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो सीताजी को पाना ही है।

अब पूछा जा सकता है कि यदि सभी बन्दरों को सीताजी नहीं मिलीं, तो क्या उन्हें प्रयत्न नहीं करना चाहिए था? ऐसी बात नहीं है, पहले संकेत दिया गया है। छलाँगवाला मार्ग और सीढ़ीवाला मार्ग। सम्भव है कि पहली यात्रा में वे सीताजी को पाने में समर्थ

न हों। अतः जो अन्य दिशाओं में गये, वे तो निराश होकर लौट ही आए। उनके लौट आने से साधकों में जो कमी थी, वह सामने आ गयी। क्या कमी थी? सुग्रीव ने एक महीने की समय-सीमा दे दी थी। समय के भीतर जो आ जाए तो ठीक है, पर समय बीत जाने पर बिना सीताजी का पता लगाए लौटेगा, उसे प्राणदण्ड दिया जाएगा। साधक भी तो कई श्रेणी के होते हैं। उनमें जो दुर्बल स्वभाव के थे, उन्हें लगा कि इसमें तो बड़ी समस्या है, प्राणदण्ड का भय है, उन लोगों ने पूरा गणित लगाया। साधना में वह गणित उपयोगी नहीं होता। ज्यादा गणित करने पर फिर वही वृत्ति आती है, जो बन्दरों में आयी। उन्होंने सोचा कि हम सीताजी को खोजने उतनी ही दूर चलें, जहाँ से एक महीने में लौटा जा सके। मिल जाएँ, तो ठीक है और यदि न मिलें, तो कम-से-कम प्राण तो बचेंगे। इसका अर्थ यह है कि वे अपने प्राणों का मूल्य समझ नहीं पाये। भक्तों ने कहा है कि सिर देने से ईश्वर मिले तो जरूर ले लीजिए, क्योंकि यदि पीछे हटेंगे तो न जाने कौन आकर यह सिर ले ले। सिर तो जाने ही वाला है—

जो सिर साँटे हरि मिले, तौ हरि लीजै दौर।
ना जानै या देह में, गाहक आवे और।।

अतः सिर देकर भगवान को पा लेने में ही सार्थकता है। प्राण के भय से पीछे हटना, प्राण मुख्य है या सीताजी? अपने प्राण के प्रति आसक्ति होती है, ममता होती है। बन्दर इससे मुक्त नहीं हैं अनेक साधक भी इससे मुक्त नहीं होते, अतः बन्दर एक महीने के भीतर ही योजना बनाकर लौट आए और उन लोगों ने अपने प्राण बचा लिए। उनमें दुर्बलता थी, साथ ही उन्हें अपनी दुर्बलता का ज्ञान और सीताजी को पाने के लिए विपरीत मार्ग के प्रति आस्था का अभाव है।

जब हनुमानजी लौटकर आए और बन्दरों को पता चला कि उन्होंने तो सीताजी को पा लिया, तब उन्हें अपनी दुर्बलता दिखाई दी कि अरे! हम तो सचमुच अपने प्राण के लोभी थे। हमें अपने प्राणों से बड़ी आसक्ति थी, इसीलिए हम जीवन के चरम लक्ष्य को नहीं पा सके। देखो न, हनुमानजी ने तो पा लिया। फिर जब सारे बन्दर लौट आए,

तब क्या हुआ? प्रभु के साथ चलकर उन्होंने सीताजी को पाया या नहीं?

व्यक्ति और साधना के सन्दर्भ में 'मानस' का दृष्टिकोण बड़ा सांकेतिक है। कभी कभी हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप किया जाता है कि यह बड़ा व्यक्तिवादी है। इसमें व्यक्ति अपने हित की चिन्ता तो खूब करता है, पर समाज के कल्याण की चिन्ता बहुत कम करता है। यह समाजोन्मुखी धर्म न होकर व्यक्ति केन्द्रित धर्म है। 'मानस' में इसका बड़ा सार्थक उत्तर मिलता है। वहाँ कहा गया है कि व्यक्ति और समाज को परस्पर विरोधी मानकर क्यों चलते हैं? हो सकता है कि कोई व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित हो जाए कि समाज का ध्यान न रखे। पर साधना के सन्दर्भ में व्यक्ति के आत्मकेन्द्रित होने का अभिप्राय क्या है? साधना का अन्तिम लक्ष्य क्या है? रामायण का सूत्र तो यह है कि इस व्यक्ति-केन्द्रित साधना का फल केवल एक व्यक्ति नहीं, बल्कि पूरे समाज को मिले। यदि व्यक्ति का महत्त्व समाज को साथ लेकर चलने में हो, तब तो ऐसा भी हो सकता है कि उनमें से कुछ लोग आपको मार्ग में ही बिठा लें, आगे बढ़ने ही न दें और आप लक्ष्य पर पहुँच ही न सकें। तो ऐसी स्थिति में साधना तो व्यक्ति केन्द्रित ही होगी। पहले तो अकेले हनुमानजी ही सीताजी को पाने में सफल हुए, फिर उनके पीछे सभी सफल हुए। यदि अनुमानजी पहले ही निर्णय ले लेते कि सबको साथ ले चलना है और ये लोग नहीं जा पा रहे हैं, तो हम भी नहीं जाएँगे। हनुमानजी यदि इतने समाजोन्मुख हो जाते, तब भी वे सीताजी को पा ही नहीं सकते थे। अतः व्यक्ति का महत्त्व इस दृष्टि से है कि साधना व्यक्तिपरक होगी और वह आवश्यक नहीं कि आपकी साधना के द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर लिया, तब क्या उसका लाभ अकेले हनुमानजी को मिला? यही सन्त-परम्परा है, जो व्यक्ति और समाज को सामंजस्य की दृष्टि से देखती है। हनुमानजी लंका से लौटकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि लंका की यात्रा कीजिए। इस प्रकार जब प्रभु लंका की यात्रा करते हैं, तो दसों दिशाओं से असफल होकर लौटे हुए सभी बन्दर भगवान की कृपा से समुद्र पर सेतु बन जाने पर, लंका पहुँचने में सफल हुए और अन्त में रावण-कुम्भकर्ण

के वध हो जाने पर, उन सभी को सीताजी का साक्षात्कार हुआ। मानो एक व्यक्ति ने पाया और सारे समाज को उसका लाभ दे दिया। यह जो सामंजस्य का तत्त्व है, वह इस प्रसंग में दिखाई देता है। यह जो शान्ति और भक्ति का मार्ग है, वह केवल समूह का मार्ग नहीं हो सकता, क्योंकि सबकी क्षमताएँ एक जैसी नहीं हैं। यद्यपि सभी शान्ति की खोज में लगे हुए हैं, अलग-अलग दिशाओं में जा रहे हैं, अलग-अलग मार्गों से यात्रा कर रहे हैं, परन्तु अपनी दुर्बलताओं के कारण जिसकी जितनी सीमा है, वह उतना प्रयत्न करके लौट आता है। इन साधनों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं, जो महानतम हैं, अद्वितीय हैं, जिनकी तुलना में इतिहास में कोई सिद्ध पुरुष दिखाई नहीं देता, वे हैं हनुमानजी महाराज। हनुमानजी महाराज के चरित्र को क्या कहा जा सकता है। ज्ञान, भक्ति तथा कर्म की परिपूर्णता और समस्त साधनों का सामंजस्य जिनके अकेले के चरित्र में दिखाई देता है, वे हैं—हनुमानजी।

भगवान श्रीराघवेन्द्र का अभिप्राय यह था कि प्रयत्न तो हर व्यक्ति को करना ही चाहिए, भले ही उस प्रयास में हम अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच न सकें, लेकिन इस भय से प्रयत्न करना न छोड़ें।

गणेशजी की प्रथम पूजा का रहस्य ही यही है। जब यह प्रश्न आया कि सारे देवताओं में सबसे पहले पूजा किसकी हो? तो शंकरजी ने कह दिया कि जो सबसे पहले ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर आएगा, वही प्रथम पूज्य होगा। यह सुनकर सारे देवता अपने-अपने वाहन पर बैठकर चले। उस दौड़ में गणेशजी भी सम्मिलित हो गये। अब गणेशजी का वाहन तो प्रसिद्ध है ही। वे मूषकवाहन हैं। औरों के वाहन यदि उड़ने वाले हैं, तो उनका वाहन बिल्कुल धीमी गति से चलने वाला है। नारदजी इस दृश्य को देख रहे थे। देवतागण जिधर से परिक्रमा पर जा रहे थे, नारद ठीक उल्टी दिशा से जा रहे थे, ताकि सबसे भेंट हो जाए, पर नारदजी को आते देखकर देवता मार्ग बदलकर बच लेते थे। डरते थे कि नारदजी ने कहीं कोई कथा-प्रसंग छेड़ दी तो हम इस दौड़ में पिछड़ जाएँगे। वे ऐसा अभिनय करते थे मानो उन्होंने नारदजी को देखा ही नहीं। बस, भागे चले जा रहे हैं। ऐसे असंख्य लोग होते हैं, जो जीवन की दौड़ में नारद की ओर देखने में डरते हैं। सत्संग

से डरते हैं। सोचते हैं कि जितना समय सत्संग में लगाएँगे, उतने समय में तो न जाने कितना आगे बढ़ जाएँगे। इसी भागदौड़ में सभी लगे दिखाई दे रहे हैं। इस प्रकार देवता न जाने कितना आगे निकल गये, तब बड़ी देर बाद कहीं गणेशजी महाराज दिखाई पड़े।

नारदजी को देखते ही गणेशजी अपने वाहन से उतरकर खड़े हो गये और उन्हें प्रणाम किया। नारदजी खूब हँसे। कहने लगे, महाराज! आप हैं तो बुद्धि के देवता पर, आपका काम तो बहुत बुद्धिमता का नहीं लग रहा है। क्यों? बोले किबुद्धिमान व्यक्ति तो गणित भी जानता है। आपने भी थोड़ा गणित तो कर लिया होता कि ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है और यह चूहा आपको कितनी देर में पहुँचाएगा। आप क्यों प्रयत्न कर रहे हैं? गणेशजी ने बहुत बढ़िया बात कही। बोले कि बुद्धिमता का अर्थ कर्म से विरत हो जाना नहीं है। यदि प्रारम्भ से ही हम यह गणित कर लें कि हमारा चूहा तो कभी पहुँचेगा ही नहीं, अतः हम चलें ही नहीं। अरे, चलने में तो लाभ-ही-लाभ है। यह प्रथम पूजा ही तो सब कुछ नहीं होता। इस विश्वयात्रा में कितना बड़ा लाभ है? कितने तीर्थ हैं? और आप जैसे सन्त का सत्संग मिल गया। महाराज! यह लाभ तो बहुत बड़ा है। इसलिए इस यात्रा में मैं निकला हूँ। मैं भी कोई घाटे में नहीं रहा, मुझे तो लाभ-ही-लाभ मिल रहा है। नारदजी ने मुस्कुराकर कहा कि आपका विवेक ही सच्चा विवेक है। आपके विवेक ने सत्य को खोल कर दिया है। अब मेरी बात मान लीजिए। क्या? बोले कि "रा" और "म" लिखकर उसकी परिक्रमा कर लीजिए और शंकरजी के पास जाकर कह दीजिए कि मैंने ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर ली है। क्योंकि शंकरजी इस राम शब्द के वास्तविक स्वरूप से और ब्रह्माण्ड शब्द के अर्थ से परिचित हैं। गणेशजी प्रसन्न हो गये। राम लिखकर उसकी परिक्रमा की और शंकरजी के पास लौट गये। अब कल्पना कीजिए कि यदि नारदजी ने यही सलाह किसी अन्य को दी होती, तो क्या होता? वह तो यही समझता कि किसी ने मुझे हराने के लिए ही नारदजी को भेजा है। इसका तात्पर्य क्या है? गणेशजी में जैसा विवेक है, वैसा ही विश्वास भी है। सामंजस्य होना चाहिए। विवेक के साथ विश्वास और विश्वास के साथ विवेक, इन दोनों का

सामंजस्य गणेशजी में है। विश्वास ऐसा, जो अभी दिखाई पड़ा। नारदजी बोले कि रामनाम की परिक्रमा में ब्रह्माण्ड की परिक्रमा है, तो सचमुच रामनाम की परिक्रमा करके लौट आए और शंकरजी से कहा कि मैं ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके लौट आया। कैसे की? बोले, मैंने रामनाम लिखकर उसकी परिक्रमा कर ली। शंकरजी ने प्रसन्न होकर उन्हें हृदय से लगा लिया। बोले, पुत्र तो तुम पहले से ही थे, पर आज सच्चे अर्थों में तुमने मेरा पुत्र होने का परिचय दिया। शंकरजी मूर्तिमान विश्वास हैं और ऐसा ही विश्वास तो उनके पुत्र में होना चाहिए। उनमें विवेक है और विश्वास भी है। विवेक यह है कि यदि सचमुच रामनाम की विश्व का मूल है, तो मूल बीज को जिसने समझ लिया, उसने वृक्ष को भी समझ लिया। जो वृक्ष की डाली और पत्तों में उलझा रह गया, वह तो पता नहीं कब तक भटकता रहेगा। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि हम सफल नहीं होंगे, ऐसा सोचकर पहले से ही हाथ-पैर समेटकर बैठ जाय और निराशा हमें घेर ले, इसके स्थान पर यही उचित है कि आपके पास जो उपलब्ध साधन है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करते हुए आप लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा में लगें। भर्तृहरि नीतिशतकम् (२७) में कहते हैं–

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति।।

कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो यह सोचकर किसी कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते कि मार्ग में यह विघ्न है, यह समस्या है और उसका इतना लम्बा-चौड़ा गणित करके बैठ जाएँगे कि मुझसे यह नहीं हो सकेगा। आगे उन्होंने कहा कि दूसरे कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मध्यम या द्वितीय श्रेणी के हैं, जो प्रारम्भ तो करते हैं, पर विघ्न आने पर हार मान जाते हैं। लेकिन जो लोग श्रेष्ठ या उत्तम पुरुष हैं, वे चलते ही रहते हैं और विघ्न आने पर भी कर्म से विरत नहीं होते।

इसी प्रकार बन्दरों में भी सभी श्रेणियाँ हैं, पर अन्ततः जो लोग लौटकर आ गये थे, जो बहुत दूर चल चुके थे, वे भी जब हनुमानजी की कृपा से भगवान राम के साथ चलते हैं, तो सीताजी को पाते हैं। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि जीव या साधक जब अपने प्रयत्न

में असफल हुए, तो हनुमानजी जैसे सन्त की कृपा हुई और जब सामने समुद्र आया तो वे भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हम तो समुद्र पार करने में असमर्थ है।

यह समुद्र क्या है? यह है देहाभिमान। इस देहाभिमान से ऊपर उठने का हम चाहे जितना भी प्रयत्न या साधन-भजन क्यों न करें, परन्तु हम इस देहाभिमान के समुद्र को पार करने में सफल नहीं होते। प्रयास के द्वारा अभिमान तथा मोह पर विजय पाने की क्षमता हममें नहीं है। यह जो असमर्थता की अनुभूति है, वह तो चलने पर ही होगी। थकान का अनुभव तो चलने पर ही होगा। जो व्यक्ति चलेगा ही नहीं, उसे थकने का अनुभव क्या होगा? अतः ये सारे बन्दर जो भेजे जा रहे हैं, इसका अर्थ है कि हम भरसक प्रयत्न करे और अन्ततः जब हम हमारे लिए सम्भव न हो, तब हम 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी के समान प्रार्थना करें, महाराज! मैंने मन को वश में करने के लिए बहुत कुछ किया, लेकिन मैं तो हार गया।

भगवान बोले कि ठीक है, हार गए, तो फिर? बोले कि महाराज! मैंने दूसरा उपाय सोचा है। क्या? गोस्वामीजी ने कहा कि मेरे पास जितने उपाय थे, उन्हें तो कर लिया, पर एक उपाय ऐसा है, जो आप ही के पास है। वह क्या है?—

हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।। वि.प.८९

प्रभो, अन्तर्यामी के रूप में मन के सूत्रधार तो आप ही हैं, अतः वह आपके बरजने पर ही मानेगा।

इसे शरणागति कह लीजिए या दैन्य कह लीजिए। साधना के बाद बन्दरों के जीवन में असमर्थता की अनुभूति आती है और वे भगवान के चरणों में समर्पित हो जाते हैं, तब भगवान स्वयं उन बन्दररूपी साधकों को लेकर जाते हैं और राक्षसों को मारने हेतु उनसे लड़ने की प्रेरणा देते हैं। जिन बुराइयों को हम स्वयं जीत सकते हैं, प्रयत्नपूर्वक जीतें, पर प्रयत्न के बाद भी हम जिन बुराइयों को न जीत सकें, उन्हें जीतने के लिए प्रभु से प्रार्थना करें। कुछ राक्षसों को तो बन्दर मार देते हैं, पर बहुत राक्षस ऐसे भी होते हैं, जिन्हें वे नहीं मार पाते।

अन्त में, वे भगवान के पास जाकर पुकारते हैं कि महाराज, बचाइए, बचाइए, यह दुष्ट तो हमें मृत्यु के समान खा जाएगा—

पाहि-पाहि रघुबीर गोसाईं। यह खल खाई काल की नाईं।। ६/८१/७

तब भगवान कहते हैं कि ठीक हैं, मेरे पीछे आ जाओ। तब भगवान स्वयं रावण-कुम्भकर्ण का वध करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जब अपनी असमर्थता का निवेदन भगवान के सामने करता है, तो वे दुर्गुण भी भगवान की कृपा से मिट जाते हैं।

रावण की मृत्यु के बाद लंका के रणक्षेत्र से भगवान ने विभीषण को आदेश दिया कि सीताजी को ले आइए। विभीषण ने सीताजी के लिए लंका की सर्वोत्कृष्ट पालकी मँगवायी। राक्षसियों ने सीताजी को स्नान कराया, सुन्दर वस्त्र पहनाए, उत्तम आभूषणों से शृंगार किया और पालकी में बिठाया। बचे हुए जो राक्षस उस पालकी को उठाकर चले। कुछ राक्षस प्रहरी के रूप में पालकी के दोनों ओर चला रहे थे। जब यह पालकी वानरों की सेना के निकट पहुँची, तो बन्दर सीताजी को देखने के लिए बड़े उतावले हो उठे। बन्दर तो स्वभाव से ही बड़े चंचल होते हैं। यह एक सांकेतिक भाषा है। बन्दर चंचल मन का प्रतीक हैं। परन्तु अब यह चंचलता भगवान की भक्ति से जुड़ गयी है। अब ये उतावले हो रहे हैं कि जिन सीताजी के लिए इतना प्रयत्न हुआ, हम जरा इनका दर्शन तो कर लें। पालकी के चारों ओर रेशमी वस्त्रों के पर्दे लगे हुए हैं। बन्दर उन्हें उठाने की चेष्टा करते हैं, तो रावण के अनुशासन में प्रशिक्षित लंका के कठोर पहरेदार बन्दरों को दूर कर देते हैं, पास भी नहीं आने देते—

रच्छक कोपि निवारन धाए। ६/१०७/१०

पहरेदार राक्षस छड़ी लेकर दौड़े, यह क्या कर रहे हो; हटो, हटो, तुम लोग दोनों ओर पंक्ति में खड़े हो जाओ, बाद में दर्शन करना। परन्तु प्रभु बन्दरों के इस भावपूर्ण उतावलेपन तथा चंचलता को देखकर विभीषण से कहते हैं कि तुम सीताजी को ठीक पद्धति से नहीं ले आए। क्यों? भगवान बोले कि पालकी में परदा डालकर सीताजी को लाना, यह बिल्कुल ठीक नहीं है।

प्रभु ने दो बातें कहीं। एक तो लंका में इतने दिनों तक सीताजी

पर आवरण पड़ा रहा और अब रावण तथा कुम्भकर्ण, मोह तथा अभिमान, इन दुर्गुणों का विनाश हो जाने पर भी किसी आवरण की आवश्यकता है क्या? साथ ही उन्होंने याद दिला दिया कि विभीषण! इन बन्दरों ने सीताजी को पाने के लिए इतनी दूर पैदल यात्रा की है; वे उन्हें माँ के रूप में देखते हैं; उन्हें दर्शन देने के लिए सीताजी को पैदल आना चाहिए, ताकि ये बन्दर मां को अपनी भावना के अनुरूप अच्छी तरह देख सकें–

कह रघुबीर कहा मम मानहु। सीतहि सखा पयादें आनहु।।
देखहुँ कपि जननी की नाईं। बिहसि कहा रघुनाथ गोसाईं।।

६/१०७/११-१२

इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि यह जो भक्ति और जीव के बीच में मोह-अभिमान के आवरण हैं, वे यदि जीवन से मिट गये, तो किसी प्रकार की दूरी नहीं रह गयी। इस प्रकार सभी बन्दर सीताजी को पाने में सफल हुए, पर प्रारम्भ में प्रभु ने केवल हनुमानजी को चुना, क्योंकि वे जानते थे कि इस लक्ष्य की पहली यात्रा केवल हनुमानजी पूरा कर सकते हैं।

सीताजी की खोज में दक्षिण की ओर जाने वाले सारे बन्दर यात्रा आरम्भ करने के पूर्व प्रभु को प्रणाम करते हैं। प्रभु ने हर बन्दर को बड़े प्रेम से आशीर्वाद दिया और अन्त में हनुमानजी ने प्रभु के चरणों में प्रणाम किया। तब प्रभु ने बड़े प्रेम से हनुमानजी को पास बुला लिया–

पाछें पवन तनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा।।
परसा सीस सरोरुह पानी। मुद्रिका दीन्हि जन जानी।।

४/२२/६-१०

हनुमानजी को पास बुलाकर प्रभु ने उनके सिर पर हाथ रख दिया और अपनी मुद्रिका निकालकर उन्हें देते हुए कहा कि मेरा सन्देश लेकर जाओ। सीताजी को मेरे बल तथा विरह का सन्देश सुनाना और उनकी अवस्था जानकर लौट आना। सारे बन्दर विदा हुए। अंगद भी सब कुछ देख रहे थे।

भगवान का चुनाव बड़ा विचित्र था। इस दल के मुखिया हनुमानजी

नहीं, बल्कि अंगदजी थे। मुखिया होने के कारण ही प्रभु को प्रणाम करने सबसे पहले अंगदजी ही आए और सबसे अन्त में हनुमानजी। प्रभु ने यह कार्य हनुमानजी को सौंपा, तो अंगद के मन में कहीं-न-कहीं इस बात की थोड़ी-सी ग्लानि जरूर आयी कि प्रभु अभी तक मुझे इस योग्य नहीं मानते, मुझ पर उनको अभी इतना विश्वास नहीं है कि मुझे यह उत्तरदायित्व सौंपें। शायद प्रभु सोचते हैं कि हनुमानजी में योग्यता है, पर मुझमें नहीं है। अंगद की हिचकिचाहट उस यात्रा में प्रकट हो जाती है। अंगद की इस ग्लानि को दूर करने के लिए प्रभु ने उन्हें राजदूत बनाकर रावण की राजसभा में भेज दिया। भगवान हनुमानजी और अंगद दोनों को पहचानते हैं। ऐसी बात नहीं कि अंगद अयोग्य हों।

प्रभु जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता अलग-अलग प्रकार की होती है। जहाँ तक हनुमानजी की योग्यता का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उनमें समग्र योग्यता है, लेकिन अंगद के चरित्र में अब भी एक कमी है। अंगद के जीवन में विचार और चतुराई की प्रधानता है। हनुमानजी के जीवन में विवेक, विचार तथा विश्वास–ये तीनों हैं। लेकिन इतना होते हुए भी हनुमानजी के चरित्र का महत्त्वपूर्ण पक्ष है–विश्वास। इसीलिए प्रभु दोनों में भेद भी करते हैं। जब वे हनुमानजी को भेजते हैं, तो उनसे एक बार भी नहीं कहते कि तुम बड़े बुद्धिमान हो, जबकि वे तो बुद्धिमानों में अग्रगण्य हैं। परन्तु जब वे अंगद को भेजते हैं, तो अंगद प्रभु से पूछते हैं कि वहाँ जाकर मुझे क्या करना है? प्रभु अंगद के सिर पर हाथ रखकर मुस्कुराते हुए कहते हैं कि यह तुम क्यों पूछ रहे हो? अंगद मुझे पता है, तुम महान बुद्धिमान हो, महान चतुर हो, तुम्हें कुछ बताने की आवश्यकता नहीं–

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ।
परम चतुर मैं जानत अहऊँ।। ६/१६/७

चतुराई और विश्वास में एक अन्तर है। चतुराई श्रेष्ठ है या विश्वास? यह झगड़ा व्यर्थ है। क्योंकि यदि कोई किसी चतुर से कह भी दे कि विश्वास श्रेष्ठ है तो वह कहने मात्र से तो विश्वासी नहीं हो जाएगा। वैसे ही यदि किसी विश्वासी से भी कहा जाय कि विश्वास की अपेक्षा विचार और तर्क श्रेष्ठ है, तो इससे वह व्यक्ति तार्किक

और विचारशील भी नहीं जाएगा। दोनों में अन्तर है। इसे इस प्रकार कह सकते हैं, जिस व्यक्ति में बुद्धि की प्रधानता है, वह पूरी तरह सोच-समझकर, पूरा गणित करके ही मानता है। अंगद के जीवन में इसी की प्रधानता है। विचार मस्तिष्क का पक्ष है और विश्वास हृदय का। पहले मानना विश्वास का पक्ष है। हनुमानजी के जीवन में विश्वास आदि से अन्त तक एकरस है और अंगद बुद्धि एवं विचारप्रधान थे। उन्होंने प्रभु के चरित्र को देख-सुनकर, विचार करके क्रमशः अपने जीवन में विश्वास को पाया और हनुमानजी में तो विश्वास की ही प्रधानता है।

आगे चलकर गोस्वामीजी ने दोनों में अन्तर डाल दिया। हनुमानजी जब लंका से लौटे और जब अंगद लंका से लौटे, तो प्रभु ने दोनों के कार्यों की प्रशंसा की, सरल की भी और बुद्धिमान की भी, चतुर की भी और विश्वासी की भी। जब हनुमानजी लौटकर आये तब प्रभु ने पूछा, अच्छा बताओ, तुमने लंका जैसे जलायी?—

कहु कपि रावन पालित लंका।
केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका।। ५/३२/५

हनुमानजी बोले, महाराज! आप मुझसे पूछ रहे हैं कि लंका कैसे जलायी गयी? प्रभु ने कहा, तुमने जलाया, तो पूछा भी तुम्हीं से तो जाएगा। हनुमानजी बोले कि पहले यही निर्णय हो जाए कि लंका जलायी गयी या जलवायी गयी। यदि जलायी गयी, तो मुझसे पूछा जाए और यदि जलवाने वाला कोई अन्य हो, तो उसी से पूछा जाए। महाराज! मैं लंका में घी, तेल और कपड़ा कहाँ से लाता, आग कहाँ से लाता। यह सारा प्रबन्ध तो आपने रावण से ही करा दिया। जलाने की योजना तो आपकी थी। यह सब करने का संकल्प आपने किया और निमित्त मुझे बना दिया, इसमें मेरी क्या भूमिका थी?—

नाँघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।
५/३२/८-९

हनुमानजी के इस वाक्य के द्वारा गोस्वामीजी ने अन्तर बता दिया। प्रभु को हनुमानजी की वाणी कैसे लगी?—

सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी।
एवमस्तु तब कहेउ भवानी।। ४/३३/२

उनकी सरलता देखकर प्रभु गद्‌गद् हो गये। हनुमानजी की बात से लग रहा है कि उसमें चतुराई है, पर प्रभु ने उसे चतुराई के रूप में नहीं देखा। सरल और चतुर में एक अन्तर होता है। जो मन में है, वही कह दिया तो सरल है और चतुराई यह है कि मन में चाहे जो हो, पर यह निर्णय करना कि क्या कहना ठीक है। चतुर व्यक्ति मन की बात ज्यों-की-त्यों नहीं कहेगा, बल्कि जैसे कहना चाहिए, वैसा कहेगा। "सरल कपि बानी" इसका अर्थ है कि हनुमानजी तो मूर्तिमान विश्वास हैं। जो उन्हें प्रतिक्षण बोध होता है, वही वे सरलतापूर्वक कह देते हैं। अंगद के लौट आने पर प्रभु ने उनसे कहा, अंगद! जरा एक बात तो बताओ जिस रावण की लंका में ऐसा कठोर शासन हो कि जहाँ मच्छर पर भी कड़ी निगाह रखी जाती है, उसकी राजसभा में तुमने उसके सिर से जो चार मुकुट उतारकर मेरे पास भेजे, तुमने वे मुकुट कैसे पाये?—

रावनु जातुधान कुल टीका। भुजबल अतुल जासु जग लीका।।
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए। कहहु तात कवनी बिधि पाए।।
६/३७/६-७

उत्तर में अंगद ने कहा महाराज! वे मुकुट नहीं थे, तो क्या थे? बोले कि महाराज! वे तो मुकुट नहीं, बल्कि साम-दाम-दण्ड तथा भेद नामक राजा के चार गुण थे; वेद कहते हैं कि नीति-धर्म के ये चार सुन्दर चरण राजा के हृदय में बसने चाहिए, अतः इन्होंने रावण को अपने अयोग्य समझकर उसको छोड़कर ये स्वयं आपके पास आ गये। इन्हें मैंने नहीं भेजा—

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी।।
साम दान अरु दण्ड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।।
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जियँ जानि नाथ पहिं आए।।
धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल बिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस।। ६/३८

तब उत्तर दोनों का मिलता-जुलता है। हनुमानजी ने भी सारा श्रेय

भगवान को दे दिया और अंगद ने भी यही कहा कि मैंने नहीं भेजा। लेकिन प्रभु ने इसका भी आनन्द लिया। गोस्वामीजी एक अन्तर डाल देते हैं। अंगद के उत्तर में "परम सरल कपि बानी" नहीं है। बोले, अंगद की चतुराई सुनकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए-

परम चतुरता श्रवन सुनि बिहसे राम उदार। ६/३८

इसका अभिप्राय क्या है? प्रभु तो सरलता में भी आनन्द लेते हैं और चतुराई में भी। लेकिन जब सीताजी के पास भेजा तो सरल को भेजा और रावण के पास भेजा तो चतुर को। उपयोगिता दोनों की है, सरलता का उपयोग भक्ति के सन्दर्भ में और चतुराई का मोह के सन्दर्भ में। प्रभु दोनों का सदुपयोग करते हैं और दोनों का सुन्दर समन्वय कर देते हैं। हनुमानजी महाराज के जीवन में इन दोनों का समन्वय है। आगे चलकर अंगद के जीवन में भी इसी समन्वय को स्थापित कर देते हैं।

षष्ठ

आइए, अब कुछ समय के लिए अंगद के चरित्र की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालने की चेष्टा करें। जिसकी चर्चा पिछले दिनों आपके समक्ष की गयी थी। अब उसी क्रम को आगे बढ़ाते हैं।

प्रसंग चल रहा था कि जनकनन्दिनी सीताजी की खोज में सर्वश्रेष्ठ वानरों को दक्षिण दिशा में भेजे जाने का, परन्तु इस कार्य के लिए प्रभु ने अंगद को नहीं, बल्कि हनुमानजी को चुना। ऐसी स्थिति में अंगद के मन में किंचित् ग्लानि होनी अस्वाभाविक न थी। पर जैसा कि हमने देखा, अंगद की अपेक्षा करके या हीन मानकर प्रभु ने उन्हें यह कार्य न सौंपा हो, ऐसी बात नहीं है।

साधना का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता और योग्यता भिन्न प्रकार की होती है। बहुधा कुछ लोगों के लिए कह दिया जाता है कि ये योग्य हैं और साथ ही कुछ व्यक्तियों के लिए यह कह दिया जाता है कि ये बिल्कुल भी योग्य नहीं, एकदम अयोग्य हैं। परन्तु संस्कृत में एक प्रसिद्ध वाक्य है-"अयोग्यो पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः"। तात्पर्य यह कि वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अयोग्य नहीं होता और जो अयोग्य प्रतीत होता है, उसमें भी कोई न कोई योग्यता होती है, पर उस योग्यता को पहचानकर उस योग्यता का सदुपयोग करनेवाले व्यक्ति बड़े विरले होते हैं।

भगवान राम भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में भिन्न-भिन्न पात्रों को प्रस्तुत करते हैं। इसमें उद्देश्य यह है कि जिसमें जो योग्यता या क्षमता हो, उसका अधिक-से-अधिक सदुपयोग हो सके। आप देखेंगे कि इस जनकनन्दिनी की खोज में भले ही एकमात्र हनुमानजी सफल होते हैं,

पर इस खोज में अनेक पात्रों की जो विभिन्न भूमिकाएँ थीं, वे सभी महत्त्वपूर्ण थीं। इस खोज में एक बड़ी सांकेतिक बात कही गयी कि बन्दरों को अन्त में श्री सीताजी के लंका में होने की सूचना सम्पाती नामक गिद्ध से मिली, जिसने बन्दरों का ध्यान लंका की ओर आकृष्ट किया–

तहँ असोक उपबन जहँ रहई।
सीता बैठि सोच रत अहई।। ४/२७/१२
मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार। ४/२८

यदि आप पूरे मानस के क्रम पर विचार करके देखें, तो यहाँ जो गिद्ध को चुना गया, उसका आपको सांकेतिक अभिप्राय तथा एक अनोखा सूत्र मिलेगा। भगवान श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, ईश्वर हैं, और वे ईश्वर से नर बने हैं। नर बनकर वे नगर में व्यक्त होते हैं, जन्म लेते हैं। अयोध्या विशाल नगर है। वे मनुष्य के रूप में पहले नगर में नागरों का सदुपयोग करते हैं। नगर से एक शब्द बना है–'नागर' जिसका अर्थ है चतुर। इसका अभिप्राय है कि नगर में रहनेवाला नागर है और गाँव में रहने वाला गँवार है। यद्यपि कई बार यह मान्यता ठीक नहीं दिखायी पड़ती, बल्कि उल्टा ही अनुभव होता है। उसका मूल कारण वही है कि जिस व्यक्ति में जो योग्यता है, उसको उस स्थान से अलग लगाया गया तो वह अयोग्य हो गया।

माता कैकेयी द्वारा वनवास मिलने पर प्रभु श्रीराम नगर से निकलकर सबसे पहले जिस व्यक्ति से मिले, उससे उनका बड़ा अनोखा संवाद हुआ, वह था–केवट, जो गाँव का निवासी था। जैसे नगर से 'नागर' शब्द बना है, वैसे ही गाँव से 'गँवार' शब्द बन गया है। गाँव में रहनेवाले को गँवार कह दिया जाता है। नागरों का सदुपयोग करके प्रभु को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा, अब देखें कि गँवार कहलाने वाले ग्रामीण भी मेरे कितने काम के हैं। वे उन्हें धन्य करने के लिए व्यग्र हो जाते हैं।

गंगा तट पर आप केवट की भूमिका देखते हैं। केवट की भाषा बड़ी अटपटी है। वह कोई बहुत सभ्य और सन्तुलित भाषा नहीं है। अयोध्या या जनकपुर में भगवान से जैसी भाषा में बात की जाती रही

है, केवट की वैसी भाषा नहीं है। भले ही केवट गाँव का निवासी है और उसकी भाषा में उतनी शालीनता नहीं है, परन्तु भगवान श्रीराघवेन्द्र ने केवट को एक अद्भुत गौरव प्रदान किया कि जो सारे संसार को पार उतारने वाला ईश्वर है, वह एक केवट के द्वारा पार उतारा गया। इससे बढ़कर गौरव की बात किसी के लिए और क्या हो सकती है।

केवट ने प्रस्ताव किया था कि आप शृंगवेरपुर में ही रह जाइए, पर भगवान राम वहाँ रुके नहीं, वे तो आगे की ओर बढ़ते जा रहे हैं। 'नागर' तो एक प्रशंसा का शब्द है और इससे नीचे उतरें तो 'गँवार' का स्थान आता है, परन्तु इससे निकृष्ट एक और शब्द है और वह है–'जंगली'। यदि किसी को 'जंगली' कहें, तो इसका अर्थ है कि वह व्यक्ति अत्यन्त हेय है। भगवान नागर से ग्रामवासी और ग्रामवासी से आगे निकलकर जंगल के निवासी कोल-किरातों के पास गये। वहाँ बड़ी विचित्र स्थिति है, क्योंकि श्रीराम के पधारने से पूर्व इन ग्रामवासियों का यही कार्य था कि जो उधर आये उसे लूट लें, पर गोस्वामीजी ने एक अनोखी बात कही। किसी ने कहा, अरे, ये वनवासी तो बिल्कुल बदल गये, इनके जीवन में इतना परिवर्तन कैसे आ गया? तो गोस्वामीजी ने हँसते हुए कहा कि बदल कहाँ गये हैं, पहले भी लूट-पाट करते थे और अब भी लूट-पाट ही तो कर रहे हैं। हाँ इतना अन्तर जरूर पड़ गया है कि पहले साधारण लोगों को लूटते थे और आज उन्होंने सुना कि अयोध्या के राजकुमार आए हुए हैं, तो उन्होंने सोचा कि यहाँ लूट-पाट करने में तो और भी अधिक मिलने की सम्भावना है। गोस्वामीजी शब्द कितना विलक्षण चुनते हैं–जब मिथिला के नागरिक दर्शन के लिए जाते हैं तो गोस्वामीजी कहते हैं-**धाए धाम काम सब त्यागी।** नगरवासी वहाँ पर उत्सुक होकर प्रभु के दर्शन के लिए जा रहे हैं। परन्तु जब चित्रकूट के भी कोल-किरात प्रभु के पास आते हैं, तब गोस्वामीजी कहते हैं कि ये तो बड़े चतुर निकले। क्यों? बोले कि ये कोल-किरात मानो लूटकर ही साक्षात् ईश्वर को पा लेते हैं–

कंद मूल फल भरि भरि दोना।
चले रंक जनु लूटन सोना।। २/१३४/२

एक तो पाने की पद्धति यह है कि व्यक्ति व्यापार करे, नौकरी

करे और उसके बदले उसको कुछ मिले। और लूट का अर्थ तो यह है कि परिश्रम किया किसी और ने और पाया किसी दूसरे व्यक्ति ने बिना परिश्रम के, छीनकर, लूटकर, डाका डालकर। उनसे पूछा गया, आप लोग लूटकर क्यों पाना चाहते हैं? इस पर कोल-किरातों ने कहा, "ईश्वर को वन में बुलाने के लिए साधना तो मुनियों ने की और हम लोगों के जीवन में न तो जप है, न तप है, न यज्ञ है; ऐसी स्थिति में हम लोग तो लुटेरे के रूप में ईश्वर को लूटकर ही पा सकते हैं।" और वह ईश्वर भी इतना उदार है कि सचमुच वह लुट जाने के लिए ही तो आया हुआ है। भगवान मानो कहते हैं कि दरिद्रता के कारण ही तो व्यक्ति किसी दूसरे को लूटता है, पर भौतिक वस्तु को लूटने से ही तो व्यक्ति की दरिद्रता नहीं मिट पाती। वस्तुतः ये कोल-किरात तो भगवान को लूटकर इतने धनी हो गये, इतने ऊँचे उठ गए कि इनकी दरिद्रता तो समूल से नष्ट हो गयी।

जब अयोध्या के नागरिक चित्रकूट आए। बड़ा अनोखा सम्मेलन हुआ। अयोध्या के नागरिक, साथ में गाँव का गँवार केवट और फिर चित्रकूट में रहने वाले जंगली। विचित्र त्रिवेणी-संगम है। जब कोल-किरातों ने देखा कि हमारे प्रभु के पास इतने अतिथि आए हुए हैं, तो उन्हें प्रभु के प्रति इतने अपनत्व की अनुभूति होने लगी कि श्रीराम तो हमारे अपने हैं और अयोध्या के नागरिक यहाँ अतिथि के रूप में आए हुए हैं। ऐसी स्थिति में इनका सत्कार करना चाहिए। गोस्वामीजी ने कहा कि वे सारे कोल-किरात कन्द-मूल-फल-मधु लेकर दौड़े। नागरिकों ने देखा, ये लोग तो बड़े गरीब हैं। नागरिक बड़े उदार थे, उनके मन में आया कि इनकी सहायता करनी चाहिए, इन्हें कुछ देना चाहिए। उन्हें यही उचित प्रतीत हुआ कि इनके ये कन्द-मूल-फल जितने मूल्य के हों, उससे कई गुना अधिक इन्हें दे दिया जाए, ताकि इनकी गरीबी दूर हो। परन्तु अब तो एक नया दृश्य सामने आया। क्या? गोस्वामीजी कहते हैं, देने पर भी नहीं लेते—

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। २/२३६/४

पहले तो नागरिकों ने धन देकर उनकी सहायता करनी चाही, पर जब नहीं लिया तो बुद्धि से हराने की चेष्टा की। नागरिकों ने कहा,

आप वस्तु का दाम नहीं लेंगे, तो हम भी फल नहीं लेगे। अयोध्या के नागरिकों का विश्वास था कि अब तो ले ही लेंगे, पर वनवासियों ने ऐसे ब्रह्मास्त्र का का प्रयोग किया कि नागरिकों को हार जाना पड़ा। गोस्वामीजी कहते हैं, वे लोग श्रीराम को दुहाई देने लगे—

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं।
फेरत राम दोहाई देहीं।। २/२४६/४

श्रीराम की दुहाई देने का अर्थ यह है कि आप लोग तो श्रीराम की मर्यादा के अनुकूल आचरण नहीं कर रहे हैं। कैसे? बोले कि जब प्रभु हम लोगों से कन्द-मूल-फल लेने में संकोच नहीं करते, तो क्या आप लोग स्वयं को उनसे बड़ा मानते हैं? हम जब कन्द-मूल-फल लेकर आए, तो प्रभु ने तो उसे बड़े प्रेम व उत्साह से ग्रहण किया। और जब हम आपके लिए लाए हैं, तो आप उसकी कीमत दे रहे हैं। अयोध्या के नागरिकों ने पूछा कि आप लोगों में तो बड़ी दरिद्रता थी? वे लोग बोलेकि हम भला दरिद्र कैसे रहे? श्रीराम आप लोगों से दूर आ गये हैं, अतः हो सकता है कि आपके पास अभाव हो। हमने तो श्रीराम को पा लिया है। यदि आप लोग कुछ समय पहले आए होते तो हम आपके कपड़े और बर्तन ही चुरा लेते। हममें तो सपने में भी धर्मबुद्धि नहीं आ सकती, यदि कुछ है तो यह श्रीराम के दर्शन का प्रभाव है—

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई।
लेहिं न बासन बसन चोराई।। २/२५०/३
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।
यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।। २/२५०/६

इतना ही नहीं, वनवासियों को धन्य करने के बाद भी भगवान राम चित्रकूट के वन में भी नहीं रुके। क्यों? उन्हें लगा कि अभी कुछ और बाकी है, आपने सुना होगा कि 'जंगली' से भी बुरा एक शब्द और है। किसी को 'गँवार' कहें तो बुरा लगेगा, 'जंगली' कह दें तो और भी बुरा लगेगा, पर यदि किसी को 'पशु' या 'जानवर' कह दें, तो उसे कितना बुरा लगेगा। प्रभु ने कहा कि जंगली तो मिल गए, पर अभी पशुओं से मित्रता नहीं हुई है, इसलिए अब पशुओं की खोज

में चलें। ध्यान देने की बात है कि इस अरण्यकाण्ड और विष्किंधाकाण्ड की यात्रा के दौरान प्रभु ने किसका सदुपयोग किया? पक्षियों और पशुओं का।

'पक्षियों' में भी बड़ी सांकेतिक भाषा है। क्या? पक्षी तो भगवान राम को नगरों में भी मिलते रहे हैं। अयोध्या में भी पक्षी थे और मिथिला में भी, पर सांकेतिक भाषा यह है कि वे पक्षी कौन थे? जब मिथिला की वाटिका में प्रभु गए, तो वहाँ पर उन्हें चातक, कोकिल, कीर, चकोर, मोर मिले–

चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नटत कल मोरा।। १/२२६/६

फिर चित्रकूट गये, तो वहाँ भी बड़े सुन्दर पक्षी थे–चकवे, चकोर, पपीहे, तोते, कोयलें तथा सुन्दर हंस प्रसन्न हो कूज रहे थे; भौंरे गुंजार कर रहे थे और मोर नाच रहे थे–

चक चकोर चातक सुक पिक गन।
कूजत मंजु मराल मुदित मन।।
अलिगन गावत नाचत मोरा।
जनु सुराज मंगल चहु ओरा।। २/२३५/६-७

भगवान राम जब चित्रकूट छोड़कर जाने लगे, तो किसी ने उनसे पूछा, प्रभो! जहाँ इतने महान ऋषि, ऐसे भावुक कोल-भील, वनवासी और सुन्दर पक्षी कलरव कर रहे हैं, इन्हें छोड़कर आप कहाँ जा रहे हैं? भगवान राम बोले कि पक्षी तो मिले, पर सब अच्छे-ही-अच्छे मिले, अभी तक गिद्ध आदि नहीं मिले। रामायण में यह कहने की एक शैली है। इसका अर्थ है कि मिथिला मे भी कोई गिद्ध नहीं मिला और अयोध्या तथा चित्रकूट में भी कोई गिद्ध नहीं मिला। भगवान कहते हैं जो श्रेष्ठ पक्षी हैं, केवल वे ही कल्याणकारी नहीं हैं। जो गिद्ध, कौए आदि जो सर्वाधिक निन्दनीय पक्षी माने जाते हैं, उनका भी सदुपयोग है। यह रामायण की सांकेतिक भाषा है। चातक का सदुपयोग है। चातक हैं लक्ष्मणजी–

भावते भरत के सुमित्रा सीता के दुलारे,
चातक चतुर राम स्याम घन के।। विनय.-३७

कोकिला हैं जनकपुर की स्त्रियाँ–

कहहिं परसपर कोकिलबयनीं।
यह बिआहँ बड़ लाभ सुनयनीं।। १/३०६/७

चकोरी है सीताजी–

सरद ससिहि जनु चितव चकोरी। १/२३१/६

इसका तात्पर्य यह है कि अब तक प्रभु को जो भक्त मिले, उनमें कोई चातक की तरह, कोई कोकिल की तरह, कोई तोते की तरह, कोई चकोर की तरह और कोई मोर की तरह था। परन्तु प्रभु ने कहा नहीं, भक्त केवल ये ही लोग तो नहीं हो सकते, गिद्ध भी भक्त हो सकता है। अरण्यकाण्ड में उन्होंने जो स्थान चुना, वहाँ सबसे पहले उन्होंने किससे परिचय प्राप्त किया? गोस्वामीजी कहते हैं, गीधराज से मिलकर भगवान राम ने खूब प्रेम बढ़ाया और कहा कि हम तो यहीं रहेंगे क्योंकि रक्षा के लिए भी तो कोई चाहिए। आपकी सुरक्षा में हम आपके पास ही रहेंगे–

गीधराज सैं भेंट भई बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।। ३/१३

जिसे व्यक्ति घृणा का पात्र मानता है, जिसकी ओर देखना नहीं चाहता, भगवान राघवेन्द्र उसे कितना महत्त्व देते हैं, उसे पिता के समान सम्मान देते हैं और कहते हैं कि आपके आश्रय में हम सुरक्षित हैं। हाँ उस गिद्ध का कुछ सदुपयोग हुआ या नहीं? वह था भी तो बिल्कुल वृद्ध, जीर्ण-शीर्ण देहवाला। पर सांकेतिक भाषा यह है कि नहीं, इस पक्षी ने तो अपना नाम सार्थक बना दिया। पक्षी का अर्थ है–जिसमें पक्षपात हो। साधारणतः पक्षपात तो सभी में होता है, पर सचमुच गिद्ध का पक्षपात धन्य था। जब रावण जनकनन्दिनी सीता का हरण करके ले जाने लगा, तब गिद्धराज ने सीताजी का पक्ष लेकर रावण को युद्ध की चुनौती देते हुए उस पर आक्रमण कर दिया, मानो प्रभु के विश्वास को उन्होंने सार्थक बना दिया। उन्होंने भक्ति का पक्ष लिया, रावण से लड़ें और पहले तो एक बार रावण को हरा दिया, पर बाद में रावण ने तलवार से उनके पक्ष काट दिए। रावण का अभिप्राय था, तूने पक्ष लिया सीता का, ले मैं तेरे पक्ष ही काटे देता हूँ। अब न तेरे पक्ष रहेंगे,

न तू पक्षपात करेगा। तब, बेचारे गिद्धराज तो पक्षी ही थे, पंखविहीन होकर गिर पड़े।

भगवान श्रीराम आए और गिद्ध को गोद में उठा लिया। प्रभु की आँखों में आँसू आ गये। बोले कि कितना निर्दयी है वह व्यक्ति, जिसने आपका पंख काट दिया। गिद्ध ने कहा कि प्रभो, वह अन्यायी भले ही हो, पर यह पंख जाना तो मेरे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य हो गया। इससे बड़ी धन्यता का क्षण और क्या और सकता है? क्यों? बोले कि जब तक मेरे पास पक्ष था, तब तक मुझे ही उड़कर आपके पास आना पड़ता था, पर अब पक्ष कट गए, तो आपको ही मेरे पास आना पड़ा। इसलिए महाराज! व्यक्ति अगर भक्ति का पक्ष लेकर सांसारिक पक्षों को कटवा दे, विलय कर दे, तो अन्त में भगवान ही उनका पक्ष बन जाते हैं। भगवान गिद्ध का पक्ष ले लेते हैं, गिद्ध का सदुपयोग करते हैं।

इसी प्रकार किष्किधाकाण्ड में प्रभु पशुओं का सदुपयोग करते हैं। यह वानरों से जो मित्रता है और उन वानरों में सुग्रीव जैसे कायर और दुर्बल चरित्र वाले भी हैं और हनुमानीजी जैसे वीर भी। मानो भगवान श्रीराघवेन्द्र यह कहते हैं कि हनुमानजी की महानता तो निश्चित ही है, परन्तु सुग्रीव का भी उपयोग किया जा सकता है। इसी तरह से प्रभु क्रम से आए, ईश्वर से नर बने, नगरों के नागरों को धन्य बनाया, गाँव के गँवारों को धन्य बनाया, जंगल के जंगली लोगों को धन्य बनाया और उसके बाद पशु-पक्षियों को भी धन्य बनाया, पर उसके बाद भी प्रभु रुके नहीं। महाराज, अब कहाँ बढ़े जा रहे हैं? पशु से भी एक निकृष्ट शब्द है। यदि किसी को सबसे बुरा शब्द कहना चाहें तो कहेंगे, यह तो मनुष्य नहीं 'राक्षस' है। प्रभु ने कहा, अभी तो राक्षस बाकी हैं। वहाँ तक पहुँचना है।

अब उनके इस यात्रा-क्रम पर दृष्टि डालें। विभीषण को अपना मित्र बनाकर, मंत्री बनाकर, युद्ध में विजय का साधन बनाकर भगवान मानो यह बताना चाहते हैं कि किसी जाति में, किसी देश में, किसी वातावरण में जनम लेने से ही व्यक्ति आरोग्य नहीं हो जाता। महान लक्ष्य की पूर्ति के लिए सबका सदुपयोग किया जा सकता है, नागर से लेकर राक्षस तक सभी अन्ततः जनकनन्दिनी सीताजी की खोज में

सन्दर्भ में यही संकेत मिलता है, क्योंकि यदि केवल भौतिक दृष्टि से देखें कि जब समाचार मिल ही चुका है कि रावण सीताजी का हरण करके दक्षिण की ओर गया है, तो उसके बाद केवल दक्षिण दिशा में ही बन्दरों को भेजना चाहिए था और यदि श्रीराम का यही निश्चय था कि यह कार्य हनुमानजी के द्वारा ही सम्पन्न हो, तो ऐसी अवस्था में भगवान अपने प्रिय भक्त हनुमानजी को पास बुलाकर आदेश देते कि तुम दक्षिण दिशा में लंका की यात्रा करो और जनकनन्दिनी सीताजी तक मेरा सन्देश पहुँचाओ और उनका सन्देश लेकर मेरे पास वापस आओ।

परन्तु यह दसों दिशाओं में बन्दरों को भेजना बहिरंग दृष्टि से अगर देखें तो ऐसा लगता है कि यह तो एक व्यर्थ का कार्य था, जिसका कोई उद्देश्य नहीं था। लगता है बन्दरों को व्यर्थ के श्रम में लगा दिया गया। वैसे तो दक्षिण दिशा में अंगद के नेतृत्व में बन्दरों को भेजा गया, पर भगवान उन्हें वह आदेश नहीं देते, जो उन्होंने हनुमानजी को बुलाकर दिया। ये दोनों सूत्र बड़े महत्त्व के हैं।

'मानस' में इतिहास की अपेक्षा साधना के पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसे यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में देखें, तो इतिहास में तो सीताजी की खोज में त्रेतायुग का सत्य है, पर यदि व्यक्ति तथा समाज के सन्दर्भ में देखें, तो सीताजी की खोज जीवन का चरम लक्ष्य है। सीताजी को खोजना और पाना ही रामायण का महत्तम उद्देश्य है, परम लक्ष्य है।

श्री सीताजी का परिचय अनेक रूपों में दिया गया है। वेदान्त की भाषा में सीताजी मूर्तिमती 'शान्ति' हैं। और भक्तों की भाषा में उनका परिचय देते हुए उन्हें 'भक्ति' कहा गया—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर।। २/३२१

जब मनु को भगवान श्रीराम का दर्शन हुआ, तो उस समय एक बड़ी विचित्र घटना हुई। मनु आशा करते थे कि भगवान उनके सामने श्रीराम के रूप में प्रकट होंगे, लेकिन श्री राघवेन्द्र जब प्रकट हुए, तो वे अकेले नहीं थे। उनके वाम भाग में दिव्य शक्ति सुशोभित हो रही थीं।

इन दो सूत्रों पर ध्यान दें। महाराज जनक और महाराज दशरथ। महाराज मनु ही आगे चलकर महाराज दशरथ होते हैं और दोनों के चरित्र में आपको एक सूत्र मिलेगा। महाराज मनु ने भगवान श्रीराम को बुलाया, परन्तु वे अकेले नहीं, बल्कि सीताजी को साथ लेकर आए। इस प्रकार महाराज जनक ने केवल सीताजी को पाया, पर सीताजी अकेली नहीं रहीं और उनके माध्यम से उन्होंने श्रीराम को पा लिया। ये दोनों पक्ष हैं, श्रीराम के माध्यम से सीताजी की उपलब्धि और सीताजी के माध्यम से श्रीराम की उपलब्धि।

रावण के जीवन में इसका एक अन्य पक्ष भी मिलता है। रावण के जीवन का लक्ष्य है सीताजी को पाना है, पर उसके हृदय में सीताजी के प्रति जितना राग है, श्रीराम के प्रति उतना ही तीव्र द्वेष है। वह श्रीराम से अलग करके सीताजी को पाना चाहता है। जनक और दशरथ के प्रसंग में सीताजी और श्रीराम का मिलन होता है, पर रावण के द्वारा उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया जाता है। यह जो उपलब्धि का क्रम है, वह दोनों को अलग करके कभी नहीं हो सकता। उपलब्धि जब भी होगी, तो वहाँ सीताजी और श्रीराम साथ-साथ होंगे। रावण के जीवन में जिस पद्धति से उन्हें पाने की चेष्टा की गयी, उसके परिणाम से आप भली-भाँति परिचित हैं।

अब आध्यात्मिक आधार पर विचार कीजिए। भगवान राम जब मनु के समक्ष आए, तो सीताजी के साथ आए, इसका तात्पर्य क्या है? सीताजी यदि वेदान्त की भाषा में मूर्तिमती शान्ति हैं, तो यों कहिए कि ईश्वर और शान्ति आपस में अभिन्न भाव से जुड़े हुए हैं, दोनों एक ही हैं। इसका अर्थ यह है कि जब जीवन में ईश्वर पूरी तरह से प्रतिष्ठित होगा, तभी शान्ति मिलेगी। यदि सीताजी भक्ति हैं और जनकजी ने भक्तिरूपी सीताजी को पा लिया, इसका अभिप्राय है कि जहाँ पर भक्ति है, वहाँ पर भगवान बिना प्रयास के मिल जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों के जीवन में यह सूत्र स्पष्ट होता है।

मनु ने जब भगवान श्रीराम के वाम भाग सुशोभित सीताजी को देखा, तो वे उन्हें पहचान नहीं सके, मनु का उनसे परिचय नहीं था। उन्होंने जिज्ञासाभरी दृष्टि से सीताजी की ओर देखा तो प्रभु ने उन्हें

बताया कि मनु! ये वही आदिशक्ति हैं, जिनके द्वारा संसार का सृजन हुआ है। और दूसरा परिचय देते हुए कहते हैं कि ये ही मेरी माया हैं–

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।। १/१५१/४

माया की व्याख्या कई रूपों में की गयी है। माया का एक तात्पर्य, जैसे जादूगर बिना वस्तु के विचित्र-विचित्र चीजें दिखा देता है, वैसे ही ईश्वर भी संसार का सबसे बड़ा जादूगर है। उसने बिना किसी वस्तु के इस जगत की सृष्टि की है। इसके पीछे जो कौशल, क्षमता तथा शक्ति है, वही मायामयी सीताजी हैं। भगवान कहते हैं कि ये सीताजी ही मेरी माया हैं। मैं जो इस ब्रह्माण्ड का सृजन करता हूँ, वह इस माया-शक्ति के द्वारा ही करता हूँ। वस्तुतः यह मुख्य रूप से शक्ति का कार्य है।

तीसरी ओर संकेत यह था कि मनु के हृदय की जो भावना थी, वह प्रारम्भ से ही दूसरी थी। महाराज मनु और महाराज जनक के अन्तःकरण की वृत्ति में मूल अन्तर यह था कि महाराज मनु धर्मात्मा तो बहुत थे, पर इसके बावजूद उनके जीवन में आसक्ति थी। उनके जीवन में वैराग्य नहीं था। इसका उन्हें दुःख था, क्योंकि धर्मात्मा के साथ-ही-साथ वे विवेकी भी थे, अतः भले ही उनके मन में वैराग्य नहीं था, पर विवेक के द्वारा वे वैराग्य की महिमा को जानते थे। इस कारण उन्हें बड़ी ग्लानि थी कि जीवन में धर्मपूर्वक आचरण और धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करते हुए भी अभी तक जीवन से आसक्ति मिटी नहीं है, वैराग्य का उदय नहीं हुआ है–

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुःख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु।। १/१४२

महाराज मनु के मन में जब यह ग्लानि उत्पन्न हुई, जब बोध उत्पन्न हुआ, तब वे विवेकपूर्वक उस आसक्ति को दबाते हैं और पुत्र को राज्य देकर वन की ओर चल देते हैं–

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा।। १/१४२/१

ईश्वर की प्राप्ति के लिए चल पड़े। लेकिन पद्धति उन्होंने बड़ी

विचित्र अपनाई। राज्य छोड़ दिया, पुत्र छोड़ दिया, किन्तु पत्नी को साथ ले गये। यह बात बड़ी विचित्र है। जब सब कुछ त्याग कर जाना था, तो पत्नी को भी छोड़ जाना था। इसके मूल में मनु की वही मनोभूमि थी, वह यह थी कि वे समझ गये कि मेरे जीवन में वैराग्य तो है नहीं, आसक्ति और राग है। जब संसार से आसक्ति हटे, तो भगवान में आसक्ति हो और दूसरा यह कि भगवान से आसक्ति हो जाए, तो संसार से आसक्ति स्वयं ही छूटकर अनासक्ति आ जाए। मनु को लगा कि संसार से तो मैं अनासक्त और वैराग्यवान बन नहीं पाया, इसलिए अब मेरे लिए तो राग और आसक्ति का ही मार्ग है। पत्नी को साथ ले जाने के पीछे उनकी योजना क्या थी? इसका रहस्य तब खुलता है, जब भगवान ने मनु से पूछा कि तुम क्या चाहते हो? उनकी योजना तो थी कि वैराग्य आ जाय, अनासक्ति हो जाय, मुक्त हो जाऊँ, पर जब मन में आसक्ति और राग है, तो मैं ईश्वर से माँगू तो बेटा ही माँगू, पर उसमें एक सूत्र उन्होंने कितना सुन्दर जोड़ दिया। उन्होंने सोचा कि पुत्र तो माँगना है, पर वह स्वयं ईश्वर हो, ईश्वर को ही पुत्र बनाना है। यह थी उनकी योजना कि पति-पत्नी दोनों चलेंगे, तभी तो ईश्वर पुत्र बनेगा। वस्तुतः भगवान को पाने के लिए दोनों की साधना अपेक्षित है। इसका अभिप्राय है कि मैं तो आसक्ति के माध्यम से ईश्वर को पुत्र बनाने जा रहा हूँ, इसलिए साथ में सतरूपाजी को भी ले लिया। भगवान ने जब पूछा कि मनु तुम क्या चाहते हो? तो मनु कहते हैं, मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। भगवान बोले, मैं अपने समान कहाँ खोजने जाऊँगा, अतः चलो मैं ही तुम्हारा पुत्र बनकर आऊँगा, परन्तु मेरे साथ सीताजी भी अवतरित होंगी। यह ठीक ही है। क्योंकि यदि सीताजी भक्ति हैं, तो भगवान भक्ति के बिना नर-शरीर धारण कैसे कर सकेंगे? पुत्र कैसे बनेंगे? यह तो भक्ति की क्रीड़ा है। दूसरी बात यह कि असीम को ससीम के रूप में दिखा देना, तो माया के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए भगवान राम सीताजी को साथ लेकर आये हुए हैं। इस तरह राग के मार्ग से उन्होंने श्रीराम से नाता जोड़ा और इसके परिणामस्वरूप जब धनुर्भंग के बाद भगवान राम का विवाह होता है, तो सीताजी भी वहाँ आ जाती हैं। इस प्रकार मनु ने महाराज

दशरथ के रूप में उन दोनों को संयुक्त रूप में पा लिया। महाराज जनक थे महान विरागी तथा निष्काम और महाराज मनु थे रागी और सकाम। भगवान मनु से बोले कि तुम्हें जो माँगना हो, माँग लो–

मागहु बर जोइ भाव मन। १/१४८

पर वे इतना कहकर नहीं रुके, बल्कि उनके अगले वाक्य से तो ऐसा लगता है मानो कोई अपनी प्रशंसा कर रहा हो। यदि आप किसी के घर जाएँ और वह आपसे कहे कि आपको क्या चाहिए? तब तो ठीक है, पर यदि वह यह भी कहे कि मेरे समान कोई दानी नहीं मिलेगा, तब तो लगेगा कि वह अपने मुँह से अपनी ही प्रशंसा कर रहा है। भगवान ने इतना ही नहीं कहा कि वर माँगो, साथ ही यह भी कह दिया कि यह समझकर माँगो कि मैं "महादानी" हूँ–

मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि। १/१४८

पर भगवान का अभिप्राय आत्मप्रशंसा नहीं था। यह तो उन्होंने मनु को उकसाने के लिए, उनका संकोच छुड़ाने के लिए कहा। भगवान का अभिप्राय यह था कि महाराज मनु! यदि आप निष्काम बन जाएँगे, कुछ नहीं माँगेंगे, तब तो मेरे साथ बड़ा अन्याय होगा। क्या? बोले कि मुझे तो महादानी की उपाधि मिली हुई है और यदि कोई माँगनेवाला न मिले तो मुझे जो उपाधि मिली हुई है उसकी सार्थकता ही क्या है? वह तो व्यर्थ ही चली जाएगी। अतः आप जरूर कुछ माँगिए, ताकि मेरी उपाधि तो बनी रहे। यदि सभी निष्काम हो जाएँगे, मुझसे कुछ माँगेंगे ही नहीं, तो मेरे "महादानि" उपाधि का क्या होगा?

इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी की विनयपत्रिका में कही हुई बात याद आती है। वे भगवान की सभा में गये। पहुँचकर पहले तो प्रसन्न हुए, बाद में गम्भीर हो गये। प्रभु ने पूछा कि आए तब तो प्रसन्न थे, अब गम्भीर कैसे हो गये? गोस्वामीजी बोले कि महाराज! मैंने सुना था कि आपका नाम पतित-पावन है, तो बड़ा प्रसन्न होकर चला आया, पर यहाँ आने के बाद मुझे बड़ी निराशा हुई। क्यों? बोले कि मैंने सोचा कि आप पतित-पावन हैं, तो आपकी सभा में दो-चार पतित तो अवश्य होंगे, पर जिधर भी देखता हूँ बड़े-बड़े महापुरुष ही दीख रहे हैं, पतित तो एक भी नहीं दिखता। मुझे तो आपका यह पतित-पावन नाम कुछ

सार्थक नहीं लगता। लेकिन मेरे पास उपाय है। यदि आप मेरी बात मान लें, तो आपकी उपाधि सार्थक हो जाएगी। क्या? आप मुझे अपनी शरण में ले लीजिए। इससे लाभ यह होगा कि यदि आपसे कोई पूछे कि आप कैसे पतित-पावन हैं, तो आप मेरी ओर दिखा दीजिए कि तुलसीदास जैसा पापी भी मेरी सभा में है, अतः मैं पतित-पावन हूँ। विनयपत्रिका में वे कहते हैं कि महाराज! पतित के बिना पतित-पावन कैसे सार्थक होगा–

मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने। वि.१६०/१

यहाँ मनु के प्रसंग में भगवान कहते हैं कि मनु! यदि तुम माँगोगे नहीं, तो मेरी महादानिता कैसे सिद्ध होगी? महादानी का अभिप्राय क्या है? दानी तो वह है जो अपनी सारी वस्तुएँ दान में दे दे, पर महादानी? भगवान मनु को माँगने की पूरी छूट दे देते हैं। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि मनु क्या माँगने वाले हैं, इसलिए कह दिया, मुझे केवल दानी न समझना। दानी तो अपनी वस्तुएँ दान कर देता है, पर मैं तो महादानी हूँ। इसका अभिप्राय है कि तुम संकोच मत करना; चाहो तो स्वयं दानी को ही माँग सकते हो। महादानी अर्थात् जो स्वयं को भी दान कर दे। मानो वे संकोच को दूर करके स्वयं ही संकेत दे देते हैं कि मैं जानता हूँ, तुम क्या माँगना चाहते हो, संकोच न करो, मैं स्वयं को देने के लिए स्वयं प्रस्तुत हूँ।

महाराजा जनक महानिष्काम हैं, बड़े वैराग्यवान हैं। उनके जीवन में कहीं कामना का लेश तक नहीं है। इसलिए भगवान जनकपुर में एक बार भी घोषणा नहीं करते कि मैं महादानी हूँ। वहाँ पर उन्होंने स्वयं को न दानी कहा, न महादानी। क्यों नहीं कहा? किसी ने भगवान से पूछा, आप निष्कामियों से नाता जोड़ने को तैयार हैं? बोले, मैं तो निष्काम और सकाम दोनों का ही सम्बन्धी हूँ, यदि आप सकाम हों, तो दशरथ की तरह बेटा बना लीजिए और यदि निष्काम हों, तो जनक की तरह दामाद बना लीजिए। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान दोनों तरह से नाता जोड़ते हैं। पिता-पुत्र के नाते में सकामता है और जहाँ कन्या अर्पित की जाती है, वहाँ पर निष्कामता की वृत्ति है, देने की

वृत्ति है। भगवान बोले कि मुझे न तो लेने में संकोच है और न देने में। जनकपुर में महाराज जनक ने अपनी कन्या का दान किया, तो प्रभु हाथ फैलाकर जानकीजी का पाणिग्रहण कर लेते हैं मानो वे कहते हैं कि यदि आप मुझसे कुछ माँगना चाहते हैं, तो माँगिए और कुछ नहीं चाहते, तो दीजिए।

इस प्रकार सीताजी चाहे शान्तिरूपा हों, या भक्तिरूपा हों, या शक्तिरूपा, दोनों महापुरुषों के जीवन में विभिन्न रूप से प्राप्त हो जाती हैं। यही उन्हें पाने का वास्तविक क्रम है। रावण के जीवन का दुर्भाग्य यह है कि उसने सीताजी को पाने के लिए इससे ठीक विपरीत क्रम अपनाया। रावण के जीवन का लक्ष्य भी सीताजी को ही पाना है। किसी के भी जीवन का लक्ष्य दूसरा हो ही नहीं सकता। सीताजी यदि शान्ति हैं, तो कोई व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि हमें शान्ति न मिले। सीताजी यदि शक्ति हैं या भक्ति हैं, तो कोई व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि मुझे शक्ति या भक्ति नहीं चाहिए। यह तो सभी की याचना होती है, चाह होती है कि हमें जीवन में शक्ति मिले, भक्ति मिले, शान्ति मिले। पूरी रामायण का यह केन्द्रीय विषय है। रावण भी सीताजी को पाना चाहता है, पर सीताजी को पाने का जो क्रम है, उसमें एक विशेष संकेत है। रावण ने जो सोच लिया कि वस्तुतः सीता को समग्र अर्थों में तभी पाया जा सकता है, जब उन्हें राम से अलग कर दिया जाए और कुछ समय के लिए ऐसा लगा भी कि वह सीताजी को श्रीराम से अलग करने में समर्थ हो गया। लेकिन क्या सचमुच सीताजी श्रीराम से तब अलग हो गयीं थीं और रावण ने उन्हें पा लिया था? वहाँ तो अंगद ने ही रावण की कलई खोल दी। यह प्रसंग आगे आएगा, पर उसका एक सूत्र यह है कि अंगद ने रावण की सभा में जो पाँव रोपकर कह दिया–

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी।। ६/३३/६

रावण तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी व्यक्ति अगर मेरे पैर को हटाने में समर्थ हो जाएगा, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि सीताजी को हार जाऊँगा और राम लौट जाएँगे। इसके पीछे कई उद्देश्य हैं, जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। पर एक तो विशेष उद्देश्य था, वह

प्रकट हो गया। क्या? रावण ने एक बहुत बड़ा भ्रम पाल रखा था। हनुमानजी ने उसे भक्ति का उपदेश देते हुए कहा था कि यदि तुम श्रीराम के चरण-कमलों को हृदय में धारण करो, तो तुम लंका पर चिर काल तक राज्य करते रहोगे–

राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२२/१

यह सुनकर रावण हँसने लगा। बोला, यह तो बड़ा भारी दानी बन्दर मिला है मुझे, 7और यह मुझे लोभ भी दिखा रहा है, तो लंका का। तो मानो रावण का व्यंग्य था कि लंका का राज्य मैं नहीं तो क्या तुम कर रहे हो? देख नहीं रहे हो कि इस लंका के सिंहासन पर मैं बैठा हूँ। लंका तो मेरी ही है, मुझे मिली हुई ही है। अब तुम्हारे कहने से और क्या मिलना है? तब हनुमानजी ने कहा कि पाने का सही अर्थ तुम नहीं जानते। और अब अंगद ने हनुमानजी की व्याख्या को और स्पष्ट किया। रावण जिस समय अंगद का पैर हटाने चला, तो अंगद ने व्यंग्य-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा कि रावण! तुम सारे संसार को दिखाने की चेष्टा करते हो कि तुमने तो सीताजी को पा लिया है, लेकिन तुमने यदि सचमुच उन्हें पा लिया होता, तो मेरे कहने पर फिर से पाने की चेष्टा नहीं करते। तुम उठ खड़े हुए इसका अर्थ है कि तुम मुँह से भले ही कहो, पर भीतर से तुम यह भली प्रकार जानते हो कि तुम्हें सीताजी बिल्कुल नहीं मिली हैं। हनुमानजी ने रावण के समक्ष यही व्याख्या की थी। हनुमानजी ने पूछा था कि रावण! तुमने पाने का क्या अर्थ समझ लिया है? रावण बोला लंका मेरी है, मैंने उसे पा लिया है। हनुमानजी बोले कि तुम पाने का अर्थ नहीं जानते। वस्तुतः पाने का अर्थ यह नहीं है, जो तुम समझ रहे हो। यदि कोई वस्तु किसी व्यक्ति के पास दिखाई दे रही हो, तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि उसने उस वस्तु को पा लिया है? 'मानस' की एक प्रसिद्ध पंक्ति है-मति, कीर्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई, ये पाँचों वस्तुएँ जब भी किसी को मिली हैं, तो केवल सत्संग के प्रभाव से ही मिली हैं–

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ।।
१/२/५-६

'मानस' में ऐसा दावा तो किया गया है, परन्तु व्यहवार में यह दावा बिल्कुल सत्य दिखाई नहीं देता। ऐसे अनेक व्यक्ति दिखाई देते हैं, जो कभी भूलकर भी सत्संग में नहीं जाते, पर बड़ी तीव्र बुद्धि के होते हैं। ऐसे भी कई लोग हैं, जिनकी बड़ी कीर्ति है, बड़ा नाम है और उन्होंने कभी सत्संग का आश्रय नहीं लिया। ऐसे भी कई धनी व्यक्ति हैं, जो सत्संग में प्रेम नहीं रखते, पर उनके पास अगाध धन भरा हुआ है। तो फिर 'मानस' का यह दावा क्या सही है? इसका उत्तर यह है कि 'मानस' में जिस अर्थ में इनका मिलना माना गया है, उस अर्थ में यह दावा बिल्कुल सही है? बुद्धि, धन या कीर्ति मिलने का क्या अर्थ है? यहाँ भी वही हनुमानजी द्वारा दिया हुआ सूत्र ही लगेगा। यहाँ अभिप्राय यह है कि वस्तु के मिल जाने के बाद यदि व्यक्ति को उसके मिल जाने का आनन्द प्राप्त हो जाए, तब तो उस मिलने की सार्थकता है।

इसको यों कहें कि मानो किसी व्यक्ति को हीरा मिल गया और उसके बाद भी वह भूखों मर रहा है। ऐसी स्थिति में यदि उसके पास सचमुच ही हीरा हो और यदि वह उसका मूल्य प्रकट कर सके, तो वह दरिद्रता का कष्ट क्यों पाएगा? ठीक इसी प्रकार बहुतों ने व्यावहारिक अर्थों में तो बुद्धि को पा लिया है, पर जिसको बुद्धि पाना कहते हैं, जो बुद्धि का चरम उद्देश्य है, बुद्धि के मिलने पर जो मिलना चाहिए, यह यदि नहीं मिला, तो इस पाने की क्या सार्थकता? तात्पर्य यह कि वह बुद्धि को अपने सिर पर ढो रहा है। सिर पर जो वस्तु होती है, वह मूल्यवान भी होती है और बोझ भी। बुद्धि तो सिर में ही होती है। इसलिए वह कुछ लोगों के लिए बोझ हो जाती है। इसका अर्थ है कि बुद्धि यदि हमारे जीवन के बोझ को हल्का कर दे, तो उस बुद्धि के मिलने में सार्थकता है, परन्तु यदि वह स्वयं हमारे लिए एक बोझ बन जाए, तब तो वह एक विडम्बना हो गयी। इसे आप यों कह लीजिए कि जब आप बाजार में कोई वस्तु खरीदते हैं और सामान यदि अधिक हो जाए, तो आप क्या करते हैं? एक मजदूर को बुलाकर सारा सामान करके सिर पर रख देते हैं। अब आप तो बिल्कुल खाली हाथ चले जा रहे हैं और सारा सामान वह मजदूर ढो रहा है। मजदूर के

सिर पर रखा हुआ यह सारा सामान उसका है या आपका? तात्पर्य यह कि उस बेचारे को तो ढोना-ही-ढोना है और आप उसे थोड़ा-सा पारिश्रमिक देकर श्रम से बच गये। उसने तो केवल ढोया। दिखाई तो दे रहा था कि सारा सामान उसके पास है, मानो उसी का हो, पर वस्तुतः वह उसका नहीं है।

इसी प्रकार 'मानस' का तार्त्य यह है कि बुद्धि का बोझ तो बहुत-से लोग ढो रहे हैं, कीर्ति का बोझ तो बहुत-से लोग ढो रहे हैं, निरन्तर यही चिन्ता लगी है कि कहीं हमारी कीर्ति नष्ट हो जाए। ऐश्वर्य पाने के लिए व्यग्र हैं, निरन्तर चिन्ता लगी हुई है कि कहीं ऐश्वर्य चला न जाए, निरन्तर सजग रहकर पहरा दे रहे हैं, केवल चौकीदारी किये जा रहे हैं। इन वस्तुओं—मति, कीर्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई को पाने का वास्तविक अर्थ क्या है? सच्चे अर्थों में इनकी प्राप्ति क्या तात्पर्य है, यह तो किसी सन्त या सत्संग के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

बुद्धि मिलने का अभिप्राय क्या है? "सा विद्या या विमुक्तये"। इसका अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति को सचमुच ही बुद्धि मिल जाएगी, तो इसके परिणामस्वरूप उसे तत्त्वज्ञान और ईश्वर का बोध होगा। लेकिन यदि बुद्धि पाकर उसे बुद्धिमत्ता का अभिमान हो गया, तब तो बुद्धि पाने का कोई लाभ ही नहीं हुआ। हनुमानजी ने रावण से यही कहा कि तुम समझ रहे हो कि तुमने लंका पा ली है, पर मैं तो कहूँगा कि तुमने लंका को पाया ही नहीं है—

राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।।
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं।।

५/२२/५-६

नदी की सार्थकता तभी है, जब वह अपने मूल स्रोत से जुड़ी हो। वैसे तो जब जल की आवश्यकता नहीं होती, तब तो बिना स्रोत की नदी भी जल से भरी-पूरी दिखाई देती है। वर्षा ऋतु में तो सड़कों पर भी नदियाँ दिखाई देता हैं, पर जब गर्मी का मौसम आता है, तब कहीं भी जल दिखाई नहीं देता और तब वह बिना स्रोतवाली नदी सूख जाती है। हनुमानजी का अभिप्राय था कि रावण तुम मूल से विच्छिन्न होकर

समझ बैठे हो कि लंका पर तुम्हारा अचल राज्य है।

आगे चलकर अंगद ने दोनों की व्याख्या की। हनुमानजी के शब्दों की व्याख्या अंगद ने कर दी। हनुमानजी ने कहा था कि "लंका अचल"। 'लंका' के साथ 'अचल' शब्द जोड़कर उन्होंने रावण को बताया था कि वस्तुतः तुम अभी लंका के अचल राजा नहीं हो। हनुमानजी का संकेत यह था कि रावण! तुमसे पहले भी कितने ही लोग लंका के सिंहासन पर बैठे और चले गये। जब यह पद ही "चल" है, तो तुम भी चले जाओगे और तुम्हारे बाद कोई और इस पर आकर बैठ जाएगा। मैं तो तुम्हें अचल बनाने की बात कर रहा हूँ। रावण हँसता है। कहता है कि मेरा राज्य तो अचल है, उसे तुम क्या और अचल करोगे। मैं सिंहासन पर बैठा हुआ हूँ, मैं कभी मारूँगा नहीं, मेरा पद तो अचल है ही। अंगद ने रावण के दोनों भ्रम तोड़ दिये, लंका का राज्य अचल होने का भ्रम तोड़ दिया और सीताजी को पाने का भ्रम भी तोड़ दिया। इसके साथ ही उन्होंने रावण की कलई भी खोलकर रख दी।

लंका का राज्य अचल है, इस भ्रम को अंगद ने कब तोड़ा? जब रावण की सभा में अंगद ने उसे मुक्का मारा और रावण मुँह के बल सिंहासन से नीचे गिर पड़ा। इसके बाद अंगद से कहा कि जब एक बन्दर के मुक्के से ही तुम्हारा सिंहासन चल हो गया, तो सोच लो कि राम के मुक्के से क्या होगा? यही तो तुम्हारे अचल राज्य की दशा है। देखा, एक बन्दर ने मुक्का चलाया और तुम्हारा सिंहासन चल हो गया। अरे, इस भ्रम में मत रहो कि यह अचल है। यह बिल्कुल चल है, बिल्कुल क्षणिक वस्तु है। इसी तरह रावण यह भी दिखाया करता था कि उसने सीताजी को पा लिया है। लेकिन जिस समय अंगद के पाँव उठाने को रावण झुका, तो अंगद ने तत्काल कहा कि रावण! अब तो यह स्पष्ट हो गया कि तुमने सीताजी को पाया नहीं है। तभी तो तुम प्रबल कर रहे हो। प्रयत्न तो बुरा नहीं है, पर प्रयत्न का जो सही मार्ग है, उसे तो तुमने छोड़ दिया है। कौन-सा मार्ग? बोले, क्या मेरे पाँव पकड़ने से सीताजी मिलेंगी?—

गहत चरन कह बालिकुमारा। मम पद गहें न तोर उबारा।।
गहसि न राम चरन सठ जाई। ६/३४/२-३

सीताजी बन्दर के चरण पकड़ने से नहीं, श्रीराम के चरण पकड़ने से मिलती हैं। इसलिए तुम्हें उन्हें पाना चाहिए, जिन्हें पाने से ईश्वर के चरणों की सच्ची भक्ति मिलती है। यह अंगद के द्वारा दिया गया सूत्र था। इस विस्तृत प्रसंग का सूत्रात्मक अभिप्राय यह है कि जीवन का चरम लक्ष्य सीताजी की प्राप्ति ही है। रावण जैसे लोग भी उन्हीं को पाना चाहते हैं। कभी यह भ्रम भी उत्पन्न कर लेते हैं कि मैंने उन्हें पा लिया है, पर सही अर्थों में उनके लिए उन्हें पाना अभी बाकी है।

इसी को सुस्पष्ट करने के लिए भगवान श्रीराम मनुष्य के रूप में मानवीय पद्धति से श्री सीताजी को पाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सीताजी का कैसे हरण हो गया, उनसे दूरी कैसे उत्पन्न हो गयी? दूरी को मिटाने के लिए सीताजी की खोज की गयी, इसके लिए बन्दरों को भेजा गया। ये बन्दर कौन हैं? गोस्वामीजी कहते हैं, ये बन्दर मानो नाना प्रकार के मोक्ष के साधन हैं। 'विनयपत्रिका' में कहते हैं–

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल। ५८/८

ये बन्दर मोक्ष के विविध साधन हैं। उन सभी को सीताजी की खोज में भेजा गया। इसका तात्पर्य यह है कि सारे साधनों का अन्तिम फल सीताजी के रूप में शान्ति, मुक्ति या भक्ति को पा लेना है। यही इसका अर्थ है। तब? सारे बन्दरों को भेजा गया, इसका क्या तात्पर्य है? ऐतिहासिक सन्दर्भ में तो सीताजी दक्षिण दिशा लंका में हैं, फिर सभी दिशाओं में बन्दर क्यों भेजे गये? इसका उत्तर यही है कि अनेकों धर्मों में साधना की विभिन्न पद्धतियाँ हैं। ये पद्धतियाँ मानो भक्ति को पाने की दिशाएँ हैं। भिन्न-भिन्न दिशाओं में तीर्थ बने हुए है–कोई पूर्व में है, तो कोई पश्चिम में, कोई उत्तर में है, तो कोई दक्षिण में। लोग ईश्वर की खोज में सभी दिशाओं में स्थित तीर्थों की यात्रा करते हैं। इसका अर्थ यह है कि चाहे हम किसी भी साधना, पद्धति या मार्ग का आश्रय लें, पर जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो सीताजी को पाना ही है।

अब पूछा जा सकता है कि यदि सभी बन्दरों को सीताजी नहीं मिलीं, तो क्या उन्हें प्रयत्न नहीं करना चाहिए था? ऐसी बात नहीं है, पहले संकेत दिया गया है। छलाँगवाला मार्ग और सीढ़ीवाला मार्ग। सम्भव है कि पहली यात्रा में वे सीताजी को पाने में समर्थ

न हों। अतः जो अन्य दिशाओं में गये, वे तो निराश होकर लौट ही आए। उनके लौट आने से साधकों में जो कमी थी, वह सामने आ गयी। क्या कमी थी? सुग्रीव ने एक महीने की समय-सीमा दे दी थी। समय के भीतर जो आ जाए तो ठीक है, पर समय बीत जाने पर बिना सीताजी का पता लगाए लौटेगा, उसे प्राणदण्ड दिया जाएगा। साधक भी तो कई श्रेणी के होते हैं। उनमें जो दुर्बल स्वभाव के थे, उन्हें लगा कि इसमें तो बड़ी समस्या है, प्राणदण्ड का भय है, उन लोगों ने पूरा गणित लगाया। साधना में वह गणित उपयोगी नहीं होता। ज्यादा गणित करने पर फिर वही वृत्ति आती है, जो बन्दरों में आयी। उन्होंने सोचा कि हम सीताजी को खोजने उतनी ही दूर चलें, जहाँ से एक महीने में लौटा जा सके। मिल जाएँ, तो ठीक है और यदि न मिलें, तो कम-से-कम प्राण तो बचेंगे। इसका अर्थ यह है कि वे अपने प्राणों का मूल्य समझ नहीं पाये। भक्तों ने कहा है कि सिर देने से ईश्वर मिले तो जरूर ले लीजिए, क्योंकि यदि पीछे हटेंगे तो न जाने कौन आकर यह सिर ले ले। सिर तो जाने ही वाला है–

जो सिर साँटे हरि मिले, तौ हरि लीजै दौर।
ना जानै या देह में, गाहक आवे और।।

अतः सिर देकर भगवान को पा लेने में ही सार्थकता है। प्राण के भय से पीछे हटना, प्राण मुख्य है या सीताजी? अपने प्राण के प्रति आसक्ति होती है, ममता होती है। बन्दर इससे मुक्त नहीं हैं अनेक साधक भी इससे मुक्त नहीं होते, अतः बन्दर एक महीने के भीतर ही योजना बनाकर लौट आए और उन लोगों ने अपने प्राण बचा लिए। उनमें दुर्बलता थी, साथ ही उन्हें अपनी दुर्बलता का ज्ञान और सीताजी को पाने के लिए विपरीत मार्ग के प्रति आस्था का अभाव है।

जब हनुमानजी लौटकर आए और बन्दरों को पता चला कि उन्होंने तो सीताजी को पा लिया, तब उन्हें अपनी दुर्बलता दिखाई दी कि अरे! हम तो सचमुच अपने प्राण के लोभी थे। हमें अपने प्राणों से बड़ी आसक्ति थी, इसीलिए हम जीवन के चरम लक्ष्य को नहीं पा सके। देखो न, हनुमानजी ने तो पा लिया। फिर जब सारे बन्दर लौट आए,

तब क्या हुआ? प्रभु के साथ चलकर उन्होंने सीताजी को पाया या नहीं?

व्यक्ति और साधना के सन्दर्भ में 'मानस' का दृष्टिकोण बड़ा सांकेतिक है। कभी कभी हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप किया जाता है कि यह बड़ा व्यक्तिवादी है। इसमें व्यक्ति अपने हित की चिन्ता तो खूब करता है, पर समाज के कल्याण की चिन्ता बहुत कम करता है। यह समाजोन्मुखी धर्म न होकर व्यक्ति केन्द्रित धर्म है। 'मानस' में इसका बड़ा सार्थक उत्तर मिलता है। वहाँ कहा गया है कि व्यक्ति और समाज को परस्पर विरोधी मानकर क्यों चलते हैं? हो सकता है कि कोई व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित हो जाए कि समाज का ध्यान न रखे। पर साधना के सन्दर्भ में व्यक्ति के आत्मकेन्द्रित होने का अभिप्राय क्या है? साधना का अन्तिम लक्ष्य क्या है? रामायण का सूत्र तो यह है कि इस व्यक्ति-केन्द्रित साधना का फल केवल एक व्यक्ति नहीं, बल्कि पूरे समाज को मिले। यदि व्यक्ति का महत्त्व समाज को साथ लेकर चलने में हो, तब तो ऐसा भी हो सकता है कि उनमें से कुछ लोग आपको मार्ग में ही बिठा लें, आगे बढ़ने ही न दें और आप लक्ष्य पर पहुँच ही न सकें। तो ऐसी स्थिति में साधना तो व्यक्ति केन्द्रित ही होगी। पहले तो अकेले हनुमानजी ही सीताजी को पाने में सफल हुए, फिर उनके पीछे सभी सफल हुए। यदि अनुमानजी पहले ही निर्णय ले लेते कि सबको साथ ले चलना है और ये लोग नहीं जा पा रहे हैं, तो हम भी नहीं जाएँगे। हनुमानजी यदि इतने समाजोन्मुख हो जाते, तब भी वे सीताजी को पा ही नहीं सकते थे। अतः व्यक्ति का महत्त्व इस दृष्टि से है कि साधना व्यक्तिपरक होगी और वह आवश्यक नहीं कि आपकी साधना के द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर लिया, तब क्या उसका लाभ अकेले हनुमानजी को मिला? यही सन्त-परम्परा है, जो व्यक्ति और समाज को सामंजस्य की दृष्टि से देखती है। हनुमानजी लंका से लौटकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि लंका की यात्रा कीजिए। इस प्रकार जब प्रभु लंका की यात्रा करते हैं, तो दसों दिशाओं से असफल होकर लौटे हुए सभी बन्दर भगवान की कृपा से समुद्र पर सेतु बन जाने पर, लंका पहुँचने में सफल हुए और अन्त में रावण-कुम्भकर्ण

के वध हो जाने पर, उन सभी को सीताजी का साक्षात्कार हुआ। मानो एक व्यक्ति ने पाया और सारे समाज को उसका लाभ दे दिया। यह जो सामंजस्य का तत्त्व है, वह इस प्रसंग में दिखाई देता है। यह जो शान्ति और भक्ति का मार्ग है, वह केवल समूह का मार्ग नहीं हो सकता, क्योंकि सबकी क्षमताएँ एक जैसी नहीं हैं। यद्यपि सभी शान्ति की खोज में लगे हुए हैं, अलग-अलग दिशाओं में जा रहे हैं, अलग-अलग मार्गों से यात्रा कर रहे हैं, परन्तु अपनी दुर्बलताओं के कारण जिसकी जितनी सीमा है, वह उतना प्रयत्न करके लौट आता है। इन साधनों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं, जो महानतम हैं, अद्वितीय हैं, जिनकी तुलना में इतिहास में कोई सिद्ध पुरुष दिखाई नहीं देता, वे हैं हनुमानजी महाराज। हनुमानजी महाराज के चरित्र को क्या कहा जा सकता है। ज्ञान, भक्ति तथा कर्म की परिपूर्णता और समस्त साधनों का सामंजस्य जिनके अकेले के चरित्र में दिखाई देता है, वे हैं—हनुमानजी।

भगवान श्रीराघवेन्द्र का अभिप्राय यह था कि प्रयत्न तो हर व्यक्ति को करना ही चाहिए, भले ही उस प्रयास में हम अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच न सकें, लेकिन इस भय से प्रयत्न करना न छोड़ें।

गणेशजी की प्रथम पूजा का रहस्य ही यही है। जब यह प्रश्न आया कि सारे देवताओं में सबसे पहले पूजा किसकी हो? तो शंकरजी ने कह दिया कि जो सबसे पहले ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर आएगा, वही प्रथम पूज्य होगा। यह सुनकर सारे देवता अपने-अपने वाहन पर बैठकर चले। उस दौड़ में गणेशजी भी सम्मिलित हो गये। अब गणेशजी का वाहन तो प्रसिद्ध है ही। वे मूषकवाहन हैं। औरों के वाहन यदि उड़ने वाले हैं, तो उनका वाहन बिल्कुल धीमी गति से चलने वाला है। नारदजी इस दृश्य को देख रहे थे। देवतागण जिधर से परिक्रमा पर जा रहे थे, नारद ठीक उल्टी दिशा से जा रहे थे, ताकि सबसे भेंट हो जाए, पर नारदजी को आते देखकर देवता मार्ग बदलकर बच लेते थे। डरते थे कि नारदजी ने कहीं कोई कथा-प्रसंग छेड़ दी तो हम इस दौड़ में पिछड़ जाएँगे। वे ऐसा अभिनय करते थे मानो उन्होंने नारदजी को देखा ही नहीं। बस, भागे चले जा रहे हैं। ऐसे असंख्य लोग होते हैं, जो जीवन की दौड़ में नारद की ओर देखने में डरते हैं। सत्संग

से डरते हैं। सोचते हैं कि जितना समय सत्संग में लगाएँगे, उतने समय में तो न जाने कितना आगे बढ़ जाएँगे। इसी भागदौड़ में सभी लगे दिखाई दे रहे हैं। इस प्रकार देवता न जाने कितना आगे निकल गये, तब बड़ी देर बाद कहीं गणेशजी महाराज दिखाई पड़े।

नारदजी को देखते ही गणेशजी अपने वाहन से उतरकर खड़े हो गये और उन्हें प्रणाम किया। नारदजी खूब हँसे। कहने लगे, महाराज! आप हैं तो बुद्धि के देवता पर, आपका काम तो बहुत बुद्धिमता का नहीं लग रहा है। क्यों? बोले किवुद्धिमान व्यक्ति तो गणित भी जानता है। आपने भी थोड़ा गणित तो कर लिया होता कि ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है और यह चूहा आपको कितनी देर में पहुँचाएगा। आप क्यों प्रयत्न कर रहे हैं? गणेशजी ने बहुत बढ़िया बात कही। बोले कि बुद्धिमता का अर्थ कर्म से विरत हो जाना नहीं है। यदि प्रारम्भ से ही हम यह गणित कर लें कि हमारा चूहा तो कभी पहुँचेगा ही नहीं, अतः हम चलें ही नहीं। अरे, चलने में तो लाभ-ही-लाभ है। यह प्रथम पूजा ही तो सब कुछ नहीं होता। इस विश्वयात्रा में कितना बड़ा लाभ है? कितने तीर्थ हैं? और आप जैसे सन्त का सत्संग मिल गया। महाराज! यह लाभ तो बहुत बड़ा है। इसलिए इस यात्रा में मैं निकला हूँ। मैं भी कोई घाटे में नहीं रहा, मुझे तो लाभ-ही-लाभ मिल रहा है। नारदजी ने मुस्कुराकर कहा कि आपका विवेक ही सच्चा विवेक है। आपके विवेक ने सत्य को खोल कर दिया है। अब मेरी बात मान लीजिए। क्या? बोले कि "रा" और "म" लिखकर उसकी परिक्रमा कर लीजिए और शंकरजी के पास जाकर कह दीजिए कि मैंने ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर ली है। क्योंकि शंकरजी इस राम शब्द के वास्तविक स्वरूप से और ब्रह्माण्ड शब्द के अर्थ से परिचित हैं। गणेशजी प्रसन्न हो गये। राम लिखकर उसकी परिक्रमा की और शंकरजी के पास लौट गये। अब कल्पना कीजिए कि यदि नारदजी ने यही सलाह किसी अन्य को दी होती, तो क्या होता? वह तो यही समझता कि किसी ने मुझे हराने के लिए ही नारदजी को भेजा है। इसका तात्पर्य क्या है? गणेशजी में जैसा विवेक है, वैसा ही विश्वास भी है। सामंजस्य होना चाहिए। विवेक के साथ विश्वास और विश्वास के साथ विवेक, इन दोनों का

अपने जीवन में प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। उन्होंने रावण की सभा में अपना पैर रोप दिया और कहा यदि तुम या तुम्हारी सभा का कोई मेरा पैर उठा लेगा, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा। कितना विचित्र दावा है? वहीं हनुमानजी की कथा। हनुमानजी की कथा में आया था—उन्होंने रावण को उपदेश दिया था कि तुम भगवान राम के चरणों को हृदय में धारण करो।—श्रीराम के चरणों को हृदय में धारण करने से क्या होगा? हनुमानजी ने कहा—रावण, मैं तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ, तुम्हारा यह लंका का राज्यपद अचल हो जाएगा—

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राज तुम्ह करहू।। ५/२२/१

अंगद ने बस, इसी मंत्र को जोरों से पकड़ लिया। जब हनुमानजी जैसे भक्त ने कह दिया कि भगवान के चरणों को हृदय में धारण करने से पद अचल हो सकता है, तो मुझे तो इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है। अब मैं प्रभु के चरणों को हृदय में धारण करके दिखला दूँगा कि 'रावण, तुम समझ नहीं सके कि हनुमानजी तुमसे कितनी बड़ी बात कह गये। देख लो, भगवान की कृपा से पद कैसे अचल हो जाता है।

यहाँ पर अंगद की दो प्रकार की भूमिका है, एक विश्वास की और एक विचार की। विश्वास की भूमिका उन्हें हनुमानजी से मिली। पहले तो रावण से चतुराई या विचार की भाषा में बात हुई, परन्तु उसकी समाप्ति विश्वास में हुई।

।। श्री रामः शरणं मम।।

सप्तम

अंगद के चरित में साधना के विकास का एक क्रम है। उनके चरित का एक बड़ा ही विलक्षण और उत्कृष्ट पक्ष तब सामने आता है, जब वे भगवान राम के द्वारा राजदूत के रूप में रावण की सभा में भेजे जाते हैं। वहाँ रावण से उनका जो संवाद हुआ, वह बड़ा ही लोकप्रिय है। 'मानस' में दो ऐसे संवाद हैं, जिसमें साधारण जन को बहुधा बड़े आनन्द की अनुभूति होती है। उनमें से एक तो है बालकाण्ड में लक्ष्मण-परशुराम संवाद और दूसरा है लंकाकाण्ड में अंगद-रावण संवाद। पर दोनों संवादों के प्रति लोगों को जो आकर्षण है, उसके पीछे जो मनोवृत्ति है, वह उतनी कल्याणकारी नहीं है।

धनुष टूटने के बाद परशुरामजी से भगवान राम का जो संवाद हुआ, उसे तो गोस्वामी जी ने 'राम-राम संवाद' के रूप में लिखा है, पर बड़े आश्चर्य की बात यह है कि वह 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' के रूप में विख्यात हो गया है। इस प्रसंग की बात उठने पर व्यक्ति बड़े उत्साहपूर्वक 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' ही कहेगा, उनका यही नाम लेगा।

लक्ष्मण-परशुराम संवाद पर एक सन्त ने बड़ा ही यथार्थ व्यंग्य किया। जब मैं वृन्दावन में रहता था, तो वहाँ प्रति वर्ष रामलीला का आयोजन होता था। जिस दिन यह 'राम-राम संवाद' का प्रसंग था, उस दिन आश्रम में बहुत बड़ी भीड़ एकत्रित हुई थी। किसी भी आयोजन में जब बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो, तो इससे आयोजन-कर्ताओं को आनन्द और सन्तोष होना स्वाभाविक है। लेकिन उस दिन की भीड़ को उन सन्त ने प्रसन्नता के रूप में नहीं लिया, बल्कि उन्होंने कहा कि कल भी तो भगवान राम की ही लीला चल रही थी और कल

भी लीला आगे बढ़ेगी, पर न तो कल इतनी भीड़ थी और शायद कल भी इतनी भीड़ नहीं रहेगी। इससे तो यही पता चलता है कि लोगों को रामायण में भी झगड़ा ही पसन्द है, शान्ति पसन्द नहीं। जहाँ कहीं 'तू-तू, मैं-मैं दिखाई दे, उसी में उन्हें आनन्द आता है। इसलिए इस भीड़ की जो मनोवृत्ति है, इसी में लोगों को सन्तोष और आनन्द मिलता है। यह यथार्थ है। जो साधारण व्यक्ति के रस लेने का केन्द्र है, वह यही है।

कथा या लीला के तीन स्तर हैं–मन का स्तर, बुद्धि का स्तर और चित्त का स्तर। जो विषयी होता है, वह भगवान की लीलाओं या उनके चरित्र का मन के स्तर पर आनन्द लेता है; जो साधक होता है, वह मन के साथ ही बुद्धि के स्तर पर रामकथा का श्रवण करता है या रामलीला के तत्त्व को हृदयंगम करता है और जो सिद्ध पुरुष होते हैं, वे मन-बुद्धि के साथ-ही-साथ चित्त की भूमि में उस लीला का आस्वादन करते हैं। इसलिए गोस्वामी जी मनोरंजन के पक्ष को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते। वे यह कहने में संकोच नहीं करते कि रामकथा बड़ी मनोरंजक है, पर साथ ही वे यह भी कह देते हैं कि विषयी को रामकथा में श्रवणानन्द की अनुभूति होती है और उसके मन को मनोरंजन मिलता है–

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।। ७/५२/४

इस प्रकार यदि हमें रामायण में, भगवान के चरित्र में मनोरंजन का रस प्राप्त होता है, तो इसमें बुराई नहीं है। परन्तु यदि हम मन के स्तर पर ही रुक जाएँ, केवल मनोरंजन को ही उसका सबसे प्रमुख लक्ष्य बना लें, तब तो विद्यार्थियों के समान एक कक्षा से दूसरी कक्षा में प्रवेश पाने की जगह एक ही कक्षा में रुके रहना हुआ। विद्यार्थी यदि एक ही कक्षा में रुका रहे, तो यह तो कोई प्रसन्नता की बात नहीं है। वैसे ही व्यक्ति यदि केवल मन के स्तर पर ही आनन्द ले और बुद्धि तथा चित्त की भूमि में प्रवेश न करे, तो इसका अर्थ है कि उस व्यक्ति की प्रगति रुक गई।

यह 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' और 'अंगद-रावण संवाद' मन के

स्तर पर बड़ा मनोरंजक अवश्य है। इन दोनों ही प्रसंगों में यदि आप बुद्धि की दृष्टि से विचार करें, चित्त की दृष्टि से चिन्तन करें, तो ये दोनों प्रसंग जितने मनोरंजक प्रतीत होते हैं, उतने ही गम्भीर और रहस्यपूर्ण भी हैं। इस 'अंगद-रावण संवाद' के प्रसंग को जिस स्तर पर लिया जाता है, वही सब कुछ नहीं है। वस्तुतः यह संवाद इतने संकेतों से ओत-प्रोत है कि उसको हम चाहें समाज के सन्दर्भ में देखें, या धर्म के सन्दर्भ में, या राजनीति की दृष्टि से उस पर विचार करें, ये दोनों ही प्रसंग बड़ा ज्ञानवर्धक लगेंगे। 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' तो अपने आप में बड़े विस्तृत है। अभी हम 'अंगद-रावण संवाद' पर ही दृष्टि डालेंगे और उसमें विभिन्न स्तरों पर जो संकेत निहित हैं, उन पर गहराई से विचार करेंगे।

भगवान श्री राघवेन्द्र समुद्र पार करके सुवेल शैल पर ठहरे हैं। वे अपने मंत्रिमण्डल के समक्ष यह प्रश्न रखते हैं कि किसे राजदूत बनाकर लंका भेजना चाहिए? यहाँ हनुमानजी और अंगद में थोड़ा भेद दिखाई देता है। जब श्री राघवेन्द्र ने सीताजी के पास सन्देश भेजने का निर्णय लिया, तो वहाँ किसी से भी यह नहीं पूछा कि मैं दूत बनाकर सीता जी के पास किस भेजूँ? वहाँ पर हनुमानजी का चुनाव उसका व्यक्तिगत चुनाव था। हनुमानजी आकर प्रणाम करते हैं और प्रभु उन्हें भार सौंप देते हैं। पर जब लंका में रावण के पास राजदूत भेजने की समस्या आती है, तो प्रभु स्वयं निर्णय नहीं करते। वे यह प्रश्न मंत्रियों के समक्ष रख देते हैं। इसका अभिप्राय क्या है?

रामायण में सेतु की स्थापना है, भगवान राम ने समुद्र पर जिस सेतु का निर्माण किया था, आज उसका अस्तित्व नहीं है। रामेश्वरम् में उस स्थान का पता अवश्य लगता है, जहाँ पर प्रभु ने सेतु की रचना की थी। आज यदि हम उस सेतु को देखना चाहें, तो वह दिखाई नहीं देगा। परन्तु भगवान राम ने केवल समुद्र पर ही सेतु का निर्माण नहीं किया, बल्कि उन्होंने अपने चरित्र के द्वारा इतने सेतु बनाए कि भले ही वह भौतिक सेतु आज दिखाई नहीं देता, पर बड़ी प्रसन्नता की बात है कि यदि प्रारम्भ से लेकर पूरे रामचरित पर दृष्टि डालें, तो आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि भगवान राम का चरित्र असंख्य सेतुओं का

निर्माण करता है। इस सेतु-निर्माण की प्रक्रिया के कई तात्पर्य हैं। उनमें से एक तात्पर्य है दो किनारों को जोड़ना। नदी बह रही है और उसके दो किनारे हैं आमने-सामने, पर बीच में जल की धारा है, इसलिए दोनों में दूरी है। वह दूरी मिटेगी नहीं, क्योंकि धारा तो रहेगी ही, अतः दूरी भी बनी रहेगी। पर उन दोनों किनारों को सेतु के द्वारा जोड़कर एक-दूसरे से मिलाया जा सकता है। जो समस्या नदी के दो किनारों की है, वही समस्या समाज की है। राजनीति, धर्म और व्यवहार के सन्दर्भ में इसी प्रकार की दूरी दिखाई देती है। इस दूरी को देखकर ऐसा लगता है कि यदि हम एक को स्वीकार करेंगे, तो दूसरे को छोड़ना पड़ेगा। लेकिन भगवान राम ने अपने चरित्र के द्वारा मानो यह सामंजस्य स्थापित किया कि विभिन्न विचार-धाराओं में या व्यवहार में यह जो इतनी दूरी है, उसे मिटाया जा सकता है, इसलिए तो गुरु वशिष्ठ ने भगवान राम को सेतु की उपाधि दी—

धर्म सेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम। २/२४८

गोस्वामीजी को यह सेतु का प्रतीक प्रिय है। वे कहते हैं कि भगवान का नाम सेतु है—

नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भव सागर तरहि। ६/मं.

भगवान के सौन्दर्य का वर्णन भी वे सेतु के रूप में करते हैं। जब समुद्र में जलचरों द्वारा सेतु का निर्माण होता है, तो वहाँ भगवान के सौन्दर्य के द्वारा ही इस सेतु का निर्माण होता है। श्रीराम का नाम भी सेतु है, श्रीराम का रूप भी सेतु है और उनका चरित भी सेतु है। उस चरित के लिए वे कहते हैं—

चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु। २/८७

भगवान राम ने अपने चरित के द्वारा सेतु का निर्माण किया। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जब वशिष्ठजी ने श्रीराम को सेतु की उपाधि दी, तो उन्होंने मानो उन्हें सचमुच ही अपने चरित्र के द्वारा सेतु बनाने का यह संकेत सूत्र दिया। जब भरतजी की ओर से गुरु वशिष्ठ श्रीराम से प्रार्थना करते हैं कि आप लौट चलिए, तो वहाँ एक ओर धर्म और सत्य की दृष्टि से उन्हें लगता है कि श्रीराम को वन में ही रहना चाहिए। समस्या तो सचमुच यही है। यदि राम वन में

रह जाते हैं तो सत्य और धर्म की रक्षा होती है, पर भरत का प्रेम तिरस्कृत होता है और यदि भरत के प्रेम के कारण भगवान अयोध्या लौट जाते हैं, तो धर्म दूर हो जाता है। तब गुरु वशिष्ठ ने श्रीराम को सेतु की उपाधि दी। पर यह सेतु बनाने का बड़ा कठिन कार्य उन्होंने भगवान राम को सौंप दिया। वह सेतु क्या था? गुरु वशिष्ठ दो तरह की बातें कहते हैं। एक ओर तो कहते हैं कि राम अयोध्या लौट चलें, फिर कहते हैं कि मैं तो भरत के प्रेम के वशीभूत होकर कह रहा हूँ। तो फिर क्या आज्ञा है? बड़ा कठिन सेतु है। और आगे तो उन्होंने और भी स्पष्ट कर दिया। महत्त्व तो दोनों को दें, पर करें क्या? गुरु वशिष्ठ आदेश देते हैं कि लोकमत, साधुमत, राजनीति और वेद की दृष्टि से जो ठीक हो, वह कीजिए–

करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि। २/२५८

अब आप क्या समझते हैं कि ये जो नन्हें-नन्हें शब्द हैं, इसकी दूरी कोई साधारण दूरी हैं? लोकमत को महत्त्व दें कि साधुमत को? समाज में दोनों है। एक ओर नदी के एक किनारे की तरह महापुरुष हैं, साधुजन हैं ओर दूसरे किनारे की तरह साधारण जन हैं। अब गुरु यह कह देते हैं कि लोकमत ही सर्वोच्च है, तो बात सरल हो जाती। पर गुरु वशिष्ठ कहते हैं कि नहीं, साधुमत की भी रक्षा हो और लोकमत की भी। अब यह कितना कठिन कार्य है? साधुमत परिवर्तनीय है, न बदलनेवाला, अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहनेवाला है और लोकमत इतना परिवर्तनशील है कि देश, काल और परिस्थितियाँ बदलते ही क्षणभर में लोकमत बदल जाता है। किस समय लोक बदल जाएगा, इनको कोई बता नहीं सकता।

गोस्वामीजी ने 'मानस' में सभी पक्षों को उजागर किया है। लोकमत के कई चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। उनमें से एक चित्र जनकपुर का भी है। जनकपुर वाले तो बड़े गम्भीर थे, परन्तु उनमें भी वह लोकमत वाली परिवर्तनशीलता है। जब भगवान श्रीराम और लक्ष्मण जनकपुर आए थे, तो दोनों भाइयों का बड़ा स्वागत हुआ था। जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ उनकी प्रशंसा करते हुए कहती थीं–

लछिमनु नामु राम लघु भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता।।
१/२२०/८

बिप्र काजु करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि।
आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि।। १/२२१

चारों ओर श्रीराम और लक्ष्मण के ऊपर फूल बरसाए जा रहे थे। बड़ा उत्साह था। पर जब परशुरामजी से लक्ष्मणजी का संवाद होने लगा, तो जो इतना गम्भीर लोकमत था, वह भी बदल गया। जितने भी प्रशंसक और फूल बरसाने वाले थे, सबके सब कहने लगे–यह छोटा भाई तो बड़ा खोटा है–

थर थर काँपहिं पुर नर नारी।
छोट कुमार खोट बड़ भारी।। १/२७७/५

अभी तो बड़े सज्जन बता रहे थे और अब कहते हैं कि बड़े खोटे हैं। यह लोकमत का चित्र है। साधुमत में परिवर्तन नहीं होता। विश्वामित्रजी पहले भी लक्ष्मण को श्रेष्ठ मानते थे और अब भी मानते हैं। उनके अन्तःकरण में लक्ष्मण को लेकर कोई प्रश्न नहीं है। प्रश्न है लोकमत में। अब अयोध्या में देखें। वहाँ के नागरिक बड़े अच्छे हैं, पर वही लोकमत की चंचलता वहाँ भी दिखाई देती है। जब भरतजी आए, तो अयोध्यावासियों के मन में भरतजी से इतनी दूरी थी कि वे पास भी नहीं आते, दूर से ही प्रणाम करके चले जाते हैं–

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहि जोहारहिं जाहिं। २/१५८

यह जो भरतजी की उपेक्षा थी, उसके पीछे क्या भावना थी? उन लोगों के मन में एक सन्देह घर कर गया था कि कैकेयी ने जो कुछ किया, उसके पीछे भरत का ही षड्यन्त्र है। अवश्य भरतजी ने ही ननिहाल से सारी योजना भेजकर उसे कैकेयीजी से क्रियान्वित करायी है। इसलिए भरतजी के प्रति उनके मन में रंचमात्र भी सद्भावना नहीं है। केवल दिखावे के लिए दूर से प्रणाम करते हैं, पर भरतजी से वे दूर ही रहते हैं। वे यह बता देना चाहते हैं कि भले ही आप सिंहासन पर बैठें और इस नाते हम आपको प्रणाम करते हैं, पर हमारे आपके बीच यह दूरी मिटने वाली नहीं है। लेकिन बाद में कितना बदलाव आ गया। लक्ष्मणजी के बारे में पहले अच्छे और बाद में खोटे की बात फैल गयी, तथा भरतजी

के विषय में उल्टा हो गया। पहले तो लगा कि भरतजी बड़े षड्यंत्रकारी हैं, पर जब अयोध्या में सभा हुई, गुरु वशिष्ठ ने भरतजी से राज्य लेने का प्रस्ताव किया, सुमन्त और कौशल्याजी ने भी वशिष्ठजी का समर्थन किया, अयोध्या के सारे नागरिक इस सभा के सदस्य थे, यह केवल न्याय मत नहीं था। वशिष्ठजी तो साधुमत के प्रतीक हैं, पर उन्होंने भरतजी से कहा कि उनके पीछे जनमत भी है। एक व्यक्ति ऐसा नहीं है जो तुम्हारे सिंहासन पर बैठने का विरोधी हो।

परन्तु क्या वशिष्ठजी का यह दृष्टिकोण सही था? यदि सचमुच श्री भरत सिंहासन पर बैठ जाते, तो क्या आप जानते हैं कि उसकी क्या प्रतिक्रिया होती? गुरु वशिष्ठ ने यह दिखाने की चेष्टा की कि जनमत यह चाहता है कि भरत सिंहासन पर बैठें। यदि जनता यह चाहती होती, तो खड़ी होकर विरोध कर सकती थी और तब समझ में आ गया कि जनमत का मनोभाव क्या है? अचानक जब श्री भरत ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और यह निर्णय किया कि मैं तो कल प्रातःकाल प्रभु के पास चित्रकूट जाऊँगा। तब अयोध्या का जनमत, जो सचमुच ही भरत का बड़ा आलोचक था, उनके इस निर्णय से इतना प्रभावित हो गया कि भरत सबके प्राणप्रिय हो गये–

प्रात काल चलिहउँ प्रभु पाहीं। २/१८२/२
चलत प्रात लखि निरनउ नीके।
भरतु प्रानप्रिय भे सबही के।। २/१८४/२

इसका अर्थ है कि पहले बिल्कुल नहीं थे। प्राणप्रिय तो क्या, वे तो बहुत दूरी बनाए हुए थे। यदि गुरु वशिष्ठ की बात मानकर वे सिंहासन पर बैठ जाते, तब तो यह दूरी और भी अधिक बढ़ जाती बल्कि जब भरतजी का भाषण शुरू हुआ, तो अयोध्यावासियों पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वशिष्ठजी ने राज्य स्वीकार करने का प्रस्ताव किया और भरतजी जब बोलने के लिए खड़े हुए, तो पहला वाक्य उन्होंने यही कहा कि गुरु, पिता और माता की बात को बिना विचारे ही मान लेना चाहिए–

गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी।। २/१७६/३

इस वाक्य को सुनकर पहले जो भरत को सन्देह की दृष्टि से देख रहे थे, वे बोले–अब भूमिका बँध गयी है। राज्य स्वीकार करने का क्या सुन्दर बहाना बना रहे हैं श्री भरत। यह सब पूर्व नियोजित था। लेकिन जब बात बिल्कुल उल्टी गयी, तो लोगों को प्रतीत होने लगा कि भरत जो बड़े महान सन्त हैं, हम इन्हें समझने में बड़ी भूल कर बैठे। इस प्रकार मिथिला का भी जनमत बदला और अयोध्या का भी और लंका का तो कहना ही क्या? वहाँ की जनता तो और भी विलक्षण है। लंका में जब हनुमानजी को बाँधकर चारों ओर घुमाया जा रहा था, तो लंका के जितने राक्षस थे, वे सब मार्ग के दोनों ओर खड़े थे और हनुमानजी जब उनके सामने से गुजरते थे, तब प्रत्येक राक्षस आकर उन्हें एक लात लगा देता था और उनकी हँसी उड़ाते हुए कहता था, यह चोर है, पकड़ा गया–

मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी। ५/२४/६

पर अगले ही क्षण जब हनुमान जी की पूँछ में आग लगाई गई और सारी लंका जलने लगी, तब वे ही लोग ऐसे बदले, और केवल बदले ही नहीं, साथ में कुछ जोड़ भी दिया, वे सब कहने लगे कि हम तो पहले ही कहते थे कि यह बन्दर कोई साधारण नहीं, अवश्य कोई रूपधारी देवता है–

हम जो कहा यह कपि नहिं होई।
बानर रूप धरें सुर कोई।। ५/२५/४

कब कहा था और किससे कहा था? यह 'कहने' का क्या अर्थ है? कहा तो कभी था ही नहीं। कह तो रहे थे कि यह चोर है और लात मार रहे थे। परन्तु अब कहते हैं कि हमने तो पहले ही कहा था कि यह कोई देवता है। तो यह जनमत कब देवता बना देगा और कब चोर बनाकर लात मारेगा इसका कोई ठिकाना नहीं है।

तो फिर किसे महत्त्व दें? साधुमत को या जनमत को? कोई भी बड़ी सरलता से कह सकता है कि जनमत जाय भाँड़ में, आप तो साधुमत को महत्त्व दीजिए। पर बात इतनी सरल नहीं है। श्रीराम के चरित्र में एक अनोखा तत्त्व है। जब प्रभु रामराज्य की स्थापना करते हैं, तो उनका तत्त्व तो यही है कि लोकमत चाहे जितना भी परिवर्तनशील

क्यों न हो, उसे महत्त्व दिया जाना चाहिए। महत्व देने में तत्त्व यही है।

साधुमत गुणदर्शी होता है। साधु का स्वभाव है दूसरों में गुण देखना और साधारण व्यक्ति का स्वभाव है दोष देखना, पर यह तो हमारे लिए बड़े काम की वस्तु हो सकती है। साधु के द्वारा जो गुण-दर्शन हैं, उससे हमें प्रेरणा मिले और हम उत्साहपूर्वक अपने जीवन में उन गुणों को स्वीकार करें। साधु के गुणदर्शन का अभिप्राय यह है कि यदि उन्होंने कहा कि आप तो बड़े भले हैं, सज्जन हैं, तो इसे सुनकर आपके मन में यह बात आनी चाहिए कि जब साधु ऐसा कह रहे हैं तो हमसे कहीं कोई ऐसा कार्य न हो जाए, जो इनकी प्रशंसा के विपरीत हो। गोस्वामीजी समझाते हैं कि अरे भाई! लोग तुम्हें हंस कहकर पुकारते हैं और तुमने भी हंस का वेष बना लिया है, तो अब बगुले और कौवे की भाँति आचरण तो मत करो–

करि हंस को बेषु बड़ो सबसो,
तजि दे बक बायस की करनी।। कविता–७/३२

इसका अभिप्राय यह है कि साधु ने जो प्रमाण-पत्र दिया, यह सद्‌गुणों की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है, परन्तु लोकमत का 'दोष दर्शन' भी बड़े काम का हैं। क्योंकि साधु तो दोष की ओर दृष्टि डालेगा नहीं, पर व्यक्ति में कमियाँ भी होती हैं। अब लोकमत में यह जो दोष को बढ़ाकर देखने की प्रवृत्ति है, उसका भी सदुपयोग हो सकता है।

शरीर के रक्त आदि की जाँच करनेवाले चिकित्सक क्या करते हैं? जब कोई रोग होता है, तब ये यंत्र के द्वारा रक्त आदि का परीक्षण करते हैं। तब, जो कीटाणु हमें अपने रक्त में दिखाई नहीं देते, वे ही उन्हें न जाने कितने बड़े रूप में दिखाई देते हैं और जब वे इतने बड़े रूप में उन कीटाणुओं को देखते और हमें बता देते हैं कि हमारे शरीर में अमुक रोग के अमुक कीटाणु हैं, तो हमें खुशी होनी चाहिए। मुझे कई चिकित्सकों ने बताया कि जाँच में यदि कुछ न मिले तो प्रसन्न होने की बात नहीं, बल्कि यदि कीटाणु मिल जाए तो प्रसन्न होना चाहिए कि कम-से-कम रोग तो पकड़ में आ गया।

अब जो शरीर के सन्दर्भ मे सत्य है, वही मन के सन्दर्भ में भी

सत्य है। यदि कोई हमारे मन की बुराई को बड़े रूप में देख रहा है, तो वह जाने-अनजाने चिकित्सक की ही भूमिका निभा रहा है। चिकित्सक जैसे रोग के कीटाणुओं को बढ़ाकर देखता है, इसी प्रकार लोक हममें दोष देखता है और बढ़ाकर देखता है, तो मानो यह और भी सावधानी की बात है। लोगों को हममें दोष दिखाई दे रहा है, तो हमें उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। मान लीजिए कि लोग झूठी बात कह रहे हैं, तो इसका अर्थ है कि लोगों के मन में झूठा सन्देह है, तो उसे दूर कीजिए, उनकी बुराई मिटाइए। दोनों तरह से इसी में कल्याण है। क्योंकि यदि सचमुच ही हमारे जीवन में वह बुराई है तो उसे मिटाएँ और यदि उनके मन में सन्देह या ईर्ष्यावश दोष दिखायी दे रहा था तो भविष्य में इस तरह की बुराई हमारे अन्दर न आ जाय, उससे सावधान रहा जा सकता है। इस दृष्टि से लोकमत की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। गुरु वशिष्ठ ने भगवान से यही कहा कि राम, तुम्हें तो साधुमत और लोकमत दोनों को मिलाना है। बड़ा कठिन कार्य था।

वैसे ही श्रीराम ने भी वशिष्ठजी से कहा–राजनीति और वेद की दूरी को मिटाना चाहिए। राजनीति और वेद की दूरी तो स्पष्ट है। पग-पग पर दिखाई देती है। वेद का दृष्टिकोण परमार्थ सत्य का उद्‌घाटन करना है और राजनीति व्यावहारिक सत्ता के लाभ का विषय है। दोनों में दूरी है। वेद कहते हैं–प्रेय का परित्याग करके श्रेय को प्राप्त करो। राजनीति तो श्रेय की बात ही नहीं करना चाहती, उसका लक्ष्य तो मात्र प्रेय की प्राप्ति है, पर यदि विचार करके देखें, तो राजनीति और वेदनीति की दूरी भी मिटाई जानी चाहिए और इस मिटाए जाने का तात्पर्य यह है कि दोनों के लक्ष्य पर दृष्टि डालें, अन्त में दोनों का लक्ष्य क्या है? राजनीति का भी लक्ष्य है व्यक्ति को सुखी बनाना और वेद का लक्ष्य भी वही है। वह भी व्यक्ति को सुखी बनाना चाहता है। अन्तर बस इतना है कि राजनीति की दृष्टि तात्कालिक है और वेद की सार्वकालिक है। वेद की दृष्टि सदा के लिए है और राजनीति मात्र तात्कालिक लाभ ही देखती है।

और जीवन में दोनों का ही महत्त्व है। सिर में दर्द हो रहा है, तो 'क्यों हो रहा है' इसका भी महत्त्व है, पर यदि केवल इसी पर

विचार करने जाएँ, तब तो बेचारा सिरदर्द वाला परेशान हो जाएगा। विचार कब तक चलेगा? अतः कुछ तात्कालिक उपाय भी तो होना चाहिए। तात्पर्य यह कि चाहे आप सिर में ठण्डक लाने के लिए किसी दवा का लेप कर लेते हैं या कोई गोली खा लेते हैं, जिससे थोड़ी देर के लिए आपको सिरदर्द से मुक्ति मिल जाती है। इसके बाद यदि आप बुद्धिमान हैं तो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि गहराई में जाकर पता लगाते हैं कि हमें जो सिरदर्द हो रहा है, वह क्यों हो रहा है? फिर उसके लिए भी दवा करते हैं। वैसे ही राजनीति तो तात्कालिक दवा है। एक ओर यदि राजनीति समस्या का तत्काल समाधान देती है तो दूसरी ओर वेद समस्याओं के मूल कारण पर विचार करके उसे मिटाने के उपायों का सन्देश देता है। अतः यदि विचार करके देखें तो जैसे शरीर के सन्दर्भ में, वैसे ही मन के सन्दर्भ में भी दोनों की उपयोगिता है। राजनीति को न तो वेद का विरोधी होना चाहिए और न वेद को राजनीति का। साधुमत को न तो लोकमत का विरोधी होना चाहिए और न लोकमत को साधुमत का। भगवान राम के चरित्र में इन दोनों का सुन्दर सामंजस्य दिखलाई देता है।

सेतु-निर्माण की इस भूमिका में भगवान राम के चरित्र की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। चित्रकूट में गुरु वशिष्ठ ने जब श्रीराम से यही सामंजस्य करने को कहा, तो उन्होंने भरतजी की ओर देखा और कहा कि भरत! तुम्हारे सहयोग के बिना मैं अकेले इस सेतु का निर्माण नहीं कर सकता। क्या भगवान की इस भूमिका पर आपने ध्यान दिया? श्रीराम स्वयं तो सेतु बनाते ही हैं, पर साथ ही दूसरों से भी बनवाते हैं।

यही तो समुद्र में भी हुआ। पहले उन्होंने बन्दरों द्वारा पुल बनवाया और बाद में उन्होंने स्वयं भी पुल बनाया। भगवान यहाँ मानो एक सूत्र देते हैं कि हम समाज में सेतु का निर्माण करें, दूरी को दूर करें और उसके साथ ही भगवान भी अपनी कृपा और महिमा के द्वारा सेतु का निर्माण करके उसी का एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत करते हैं। श्रीराम के सन्दर्भ में यह दूसरा सूत्र देते हुए गुरु वशिष्ठ ने कहा कि नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ को श्रीराम से बढ़कर कोई नहीं जानता–

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।
कोउ न राम सम जान जथारथु।। २/२५३/५

नीति व प्रीति और स्वार्थ व परमार्थ परस्पर विरोधी हैं। पर श्री राघवेन्द्र इनके साधुमत व लोकमत और राजनीति व वेदनीति के बीच सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं–

करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि। २/२५८

अंगद को राजदूत बनाकर भेजना क्या है? यह नीति है या प्रीति? वह स्वार्थ है या परमार्थ? यह साधुमत है या लोकमत या राजनीति? सचमुच ही यह संवाद ऐसा है कि यदि आप इसे मनोरंजन की दृष्टि से न पढ़ें, तो स्पष्ट दिखाई देगा कि इसमें श्री राघवेन्द्र की महानतम नीति और महानतम प्रीति भी है। उनका यह महानतम परमार्थ है और महानतम स्वार्थ भी है। अंगद को राजदूत बनाकर भेजने में यही सूत्र सामने आता है। यद्यपि भगवान स्वयं निर्णय लेने में पूरी तरह सक्षम और स्वतन्त्र हैं। ईश्वर के रूप में भी वे सर्वज्ञ हैं और व्यक्ति के रूप में भी वे अंगद की योग्यताओं से भलीभाँति परिचित हैं, तो भी जब भगवान ने अपने मंत्रिमण्डल के समक्ष यह प्रश्न रखा कि राजदूत बनाकर किसे भेजा जाए, तो इसमें उनका यही सामंजस्य सूत्र प्रकट होता है।

इसी प्रकार जब विभीषणजी शरण में आते हैं, तब भी भगवान इस प्रश्न को मंत्रिमण्डल के समक्ष रखते हैं कि इन्हें शरण में लें या नहीं? इसका तात्त्विक पक्ष यह है कि भगवान विभीषण को भी शरण में लेंगे, अंगद को भी राजदूत बनाएँगे, पर उनका अभिप्राय यह है कि नीति की दृष्टि से मंत्रियों के मत को भी महत्त्व देना चाहिए। यहाँ मैं इतनी बड़ी सेना लेकर आया हूँ, मंत्रियों को लेकर आया हूँ और यदि सारे निर्णय मैं ही लेता हूँ, तो इसका अर्थ है कि मैंने नीति और लोकमत को महत्त्व नहीं दिया। इस प्रकार भगवान श्रीराम के चरित्र में हमें यह सामंजस्य दीख पड़ता है। वे मन-ही-मन जानते हैं कि विभीषण को शरण में लेना हर तरह से हितकर है, तथापि वे पूछते हैं। इसे आप भगवान राम की रणनीति कहिए या उनका सामाजिक दृष्टिकोण कह लीजिए। विभीषण को शरण में लेने का सुग्रीव ने विरोध किया और इतना ही नहीं उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि प्रभो! राक्षसों

की माया बड़ी विचित्र होती है, न जाने यह दुष्ट मायावी क्यों आया है, सम्भव है कि हमारा भेद लेने आया हो, अतः इसे तो बन्दी बनाकर रख लीजिए–

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया।।
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा।।

५/४२/६-७

परन्तु भगवान ने कैसा सुन्दर सेतु बनाया? नीति और प्रीति के बीच पुल बना दिया। दूसरा कोई होता तो सुग्रीव को बुरी तरह फटकारता। सुग्रीव ने तो कहा था, महाराज, यह रावण का भाई है, इस पर विश्वास मत कीजिए। भगवान कटुभाषी होते, तो व्यंग्य कर सकते थे जब मैंने बालि के भाई पर विश्वास कर लिया, तो रावण के भाई पर क्यों नहीं? कह सकते थे, पहले तुम अपनी ओर तो देखो। बात यही तो थी कि सुग्रीव अपनी ओर नहीं देख रहे थे और विरोध किये जा रहे थे। पर भगवान ने ऐसा कुछ नहीं किया। भगवान राम का नीति-सूत्र क्या है? वे तत्काल कहते हैं वाह, तुम कितने योग्य प्रधानमंत्री हो, कितने अच्छे रानीतिज्ञ हो। प्रभु के मुँह से यही वाक्य निकला नीति की दृष्टि से तुमने बहुत बड़ी बात कही। लेकिन फिर धीरे से अपनी बात कह देते हैं कि परन्तु मेरे भी कुछ आदर्श हैं। मैंने तो प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई संकट में पड़कर मेरे पास शरण लेने आएगा, तो मैं उसकी रक्षा करूँगा–

सखा नीति तुम नीकि बिचारी।
मम पन सरनागत भयहारी।। ५/४२/८

अतः भाई, अब तो ऐसा कोई मार्ग ढूँढ़ निकालना होगा, जिससे तुम्हारी नीति भी रहे और मेरी प्रीति भी। यही सामंजस्य है। इसमें सुग्रीव के मन में भी प्रसन्नता रहती है कि मेरे मत को भी तिरस्कार या उपेक्षा की दृष्टि से न देखकर इतना सम्मान दिया जा रहा है। प्रभु लोगों के सामने सुग्रीव की प्रशंसा भी कर रहे हैं और अन्ततोगत्वा होता वही है जो श्रीराम को अभीष्ट है। पर उसमें समन्वय का भी भाव है।

अंगद के सन्दर्भ में भी, जब श्री राघवेन्द्र स्वयं उनका चुनाव न करके उसे मंत्रिमण्डल को सौंप देते हैं, तो प्रीति की दृष्टि से वे अंगद का चुनाव तो पहले ही कर चुके हैं, पर नीति की दृष्टि से वे सोचते हैं कि सुग्रीव पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? सुग्रीव इसे पसन्द करेंगे या नहीं? फिर मंत्रिमण्डल भी बना हुआ है। राजनीति के अनुसार तो मुझे सबके मत से काम करना चाहिए। इसलिए भगवान ने जान-बूझकर इसे मंत्रिमण्डल के सामने रख दिया, पर जहाँ एक एकान्तिक बात थी, वहाँ भगवान राम ने प्रीति को महत्त्व दिया।

सीताजी के पास दूत भेजते समय सूत्र क्या है? यह बड़ी अच्छी बात है। पति-पत्नी के बीच राजनीति की क्या आवश्यकता है? वहाँ तो शुद्ध प्रेम की भावना है। वहाँ दूत के चुनाव में प्रभु किसी से नहीं पूछते कि सीताजी के पास किसे दूत बनाकर भेजूँ? पर जब रावण से युद्ध करना है, तब स्वयं निर्णय करने में समर्थ होते हुए भी वे स्वयं निर्णय नहीं लेते। भगवान मंत्रिमण्डल से कहते हैं–आप लोग ही बताइए।

श्रीराम और रावण में बस यही अन्तर है। रावण में यह सामंजस्य नहीं था। उसके सामने यदि कोई युवा बोल देता, तो भी वह फटकार देता था और यदि कोई वृद्ध सज्जन बोल दे, तब तो वह न जाने उसे क्या कह डाले। रामायण में रावण के दोनों चित्र आते हैं। उसके मंत्री माल्यवान बूढ़े थे, न जाने कब से मंत्री थे–

रावन मातु पिता मंत्रीबर। ६/४७/५

वे बोले आप सीताजी को लौटा दीजिए। रावण ने चिढ़कर कहा कि बुड्ढे? तेरा दिमाग खराब हो गया है, जा तुझे बूढ़ा समझकर छोड़ देता हूँ, नहीं तो तुझे मार ही डालता। इसे मेरी कृपा ही समझ कि तेरे इतने कहने के बाद भी मैं तेरा सिर नहीं कटवा रहा हूँ–

बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही। ६/४८/३

तो बूढ़े माल्यवान के प्रति रावण का ऐसा व्यवहार है। और रावण के जवान बेटे प्रहस्त ने रावण के सामने बीच वाला मार्ग रखा। वह बोला कि महाराज! आप सीता को ले आए हैं, यह उचित नहीं हुआ; अब ऐसा कीजिए कि सीताजी को लौटा दीजिए और

साथ ही उसने एक वाक्य जोड़ दिया कि हम कोई डर के मारे ऐसा नहीं कर रहे हैं, यदि ये पत्नी को पा कर लौट जाएँगे, तो हमें युद्ध करने की जरूरत नहीं होगी। पर यदि इसके बाद भी वे युद्ध के लिए प्रस्तुत हैं, तो विश्वास मानिए कि हम युद्ध के लिए सन्नद्ध हैं, पीछे नहीं हटेंगे–

नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइअ रारि।
नाहि न सन्मुख समर महि तात करिअ हठ मारि।। ६/९

प्रहस्त का प्रस्ताव बड़ा सन्तुलित था, पर रावण तो उसे भी कसकर फटकारता है, तू क्या मेरा बेटा है? तेरे जैसे पुत्र को पाने से तो निष्पुत्र रहना ही अच्छा था। कहाँ तो मेरे यहाँ की वीर परम्परा और कहाँ तू ऐसी कायरता की बात करता है–

अबहीं ते उर संसय होई।
बेनुमूल सुत भयहु घमोई।। ६/९/३

परिणाम क्या हुआ? माल्यवान बिगड़कर समाज से चले जाते हैं और रावण को कठोर शब्द कहते हुए प्रहस्त भी–

सुनि पितु गिरा परुष अति घोरा।
चला भवन कहि बचन कठोरा।। ६/९/४

इस प्रकार रावण अपने अभिमान के कारण न तो बूढ़ों का सम्मान करता है और न युवकों का, पर भगवान के चरित्र में अच्छा सामंजस्य है। यह बूढ़े-जवान का प्रसंग भगवान राम के सामने कई बार आया। जाम्बवान बूढ़े हैं और अंगद युवा हैं। परशुराम बूढ़े थे और लक्ष्मण युवक। दोनों की प्रकृति बिल्कुल भिन्न-भिन्न थी। श्रीराम किसके पक्ष में हैं? वे दोनों का सामंजस्य करते हैं।

परशुरामजी ने महान कार्य किये। उन्होंने विवाह नहीं किया, सत्ता पर अधिकार नहीं किया, निर्लोभी थे, बड़े त्यागी महापुरुष थे, निष्काम थे और अपराधियों को दण्ड देने में बड़े कठोर थे। परन्तु कभी-कभी वृद्धावस्था में व्यक्ति में एक कमी आने की सम्भावना रहती है। वृद्ध की महिमा देख यदि दूसरे सम्मान करें, तब तो शोभा है, पर सम्मान चाहने से ही सम्मान नहीं मिल जाता। परशुराम की समस्या यही है। उन्हें अपना पूरा इतिहास भूलता नहीं। आदमी जब नया कुछ नहीं कर

पाता, तो पुरानी बातें खूब याद करता है। परशुराम जी में यही मनोवैज्ञानिक दुर्बलता है। लक्ष्मणजी के बोलने पर वे सोचते हैं कि शायद यह मेरा इतिहास नहीं जानता। वे विश्वामित्र जी से कहते हैं कि तुम चुपचाप सुन रहे हो? यदि चाहते हो कि यह बालक न मारा जाए, तो इसे रोको। यह भी कहा, इसे बताओ कि हम कितने क्रोधी हैं, हमारा कैसा प्रताप है–

तुम हटकहु जौं चहहु उबारा।
कहि प्रतापु बलु रोष हमारा।। १/२७३/४

लक्ष्मणजी तो युवक हैं। युवकों में सहने की क्षमता जरा कम ही रहती है। उन्होंने थोड़ा व्यंग्य कर दिया। बोले–

अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाति बहु बरनी।
नहिं संतोषु न पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुःख सहहू।।
१/२७३/६-७

महाराज! अपना गुण सुनाने के लिए आप स्वयं बहुत हैं। सन्तोष न हो तो कुछ और कह डालिए। लक्ष्मणजी परम तेजस्वी हैं। वे उनके इस महत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहते और परशुराम जी को लगता है कि यह बालक बड़ा दुष्ट है।

यहाँ भगवान राम क्या करते हैं? वही सेतु का काम। एक ओर तो वे आँखें तरेरकर लक्ष्मणजी की ओर देखते हुए मानो कहते हैं–यह क्या? पर उन्हें डाँटने के लिए एक शब्द भी नहीं बोलते। उनका संकेत यह है कि 'तुम भले ही वीर हो, तुम्हारी निर्भयता में सन्देह नहीं, पर समाज द्वारा सम्मानित इन महापुरुष का यहाँ सबके सामने अपमान करना ठीक नहीं। हम दोनों ने इन्हें प्रणाम किया है, अतः इनके सम्मान में विनम्र रहना ही हमारा कर्तव्य है।' संकेत पाकर लक्ष्मणजी टेढ़ी वाणी बोलना बन्द करके गुरु विश्वामित्र के पास चले गये–

सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम।
गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम।। १/२७८

पर भगवान राम ने केवल युवा को ही नियंत्रित किया वृद्ध परशुरामजी का बड़ा सम्मान करने के बाद वे बड़ी मीठी भाषा में बोले–महाराज! आपके ही मुँह से तो निकला है, रे नृप-बालक! तो यह बच्चा है, तो

बच्चे से बड़े लोग जैसा व्यवहार करते हैं, वैसा ही आप करें। आप उसे बराबरी का दर्जा क्यों दे रहे हैं? आप बालक पर कृपा कीजिए—

नाथ करहु बालक पर छोहू।
सूध दूधमुख करिय न कोहू।। १/२७६/१

परशुराम की भौंहें टेढ़ी हो गयीं। कितना बड़ा बालक है तुम्हारा? तो कह दिया कि इस सीधे और दुधमुँहे बच्चे पर क्रोध न कीजिए। और उसके बाद भगवान कहते हैं—

जौ पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना।।
जौ लरिका कछु अचगरि करहीं।गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं।।
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी। तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी।।
१/२७६/२-४

यदि यह नासमझ आपका जरा भी प्रभाव जानता, तो क्या आपकी बराबरी करता? बालक यदि कुछ चपलता भी करे, तो गुरु-पिता-माता आनन्द से भर उठते हैं। आप तो समदर्शी, सुशील, धीर तथा ज्ञानी मुनि हैं, अतः इसे शिशु तथा सेवक जानकर इस पर कृपा कीजिए।

अब प्रभु कैसे कहें कि लक्ष्मण भी वही तो कर रहे हैं, आप जो कर रहे हैं। जब उनसे पूछा गया कि आप लक्ष्मण की भूल स्वीकार करते हैं? तो कह दिया महाराज! यह आपका ही तो अनुगमन कर रहा है-"मोहि जानिय आपन अनुगामी"। भगवान बोले कि महाराज! आप जानते हैं कि इस बालक से भूल क्यों हुई? यदि आप मुनिवेष में आये होते, तो यह निश्चित रूप से आपकी चरणधूलि सिर से लगा लेता, पर आपके वेश को देखकर इसे थोड़ा धोखा हो गया—

बेषु बिलोकें कहेसि कछु बालक हूँ नहिं दोसु। १/२८१
जौ तुम औतेहु मुनि की नाई।
पद रज सिर सिसु धरत गोसाई।। १/२८१/३

संकेत यह था कि यदि आप अपने शस्त्र द्वारा इसे उत्तेजित करेंगे, तो यह युवक उत्तेजित हुए बिना नहीं रहेगा। अतः श्रीराम के मतानुसार ऐसी स्थिति में वृद्ध को चाहिए कि वह युवा को क्षमा करे और युवा को चाहिए कि वह वृद्ध का सम्मान करे। यही समन्वय है। यदि वृद्ध

में उदारता न हो और युवक में सन्तुलन न रहे, तो दोनों में टकराहट होगी।

भगवान राम तो सभी निकटस्थों के प्रति समभाव से प्रेम रखते हैं, किसी भी परिस्थिति में वे सबको साथ रखकर चलना चाहते हैं, यहाँ तक कि युद्ध के लिए लंका भी आये तो भी ऐसा नहीं कि केवल युवक और बलशाली बंदरों को ही साथ रखा हो। उन्होंने जाम्बवान जैसे अनुभवी वृद्ध सैनिकों को भी साथ में लिया, ताकि वृद्ध के मनोभाव को यह ठेस न पहुँचे कि अब मैं शरीर से असमर्थ हूँ। रावण अंगद से यही प्रश्न करता है, कि क्या तेरे स्वामी राम की सेना में वह बूढ़ा जाम्बवान भी लड़ेगा—

जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।
सो कि होइ अब समरारूढ़ा।। ६/२२/४

भगवान के पास तो अंगद जैसे तेजस्वी युवक भी हैं और वृद्ध जाम्बवान भी। पर चुनाव कैसा सुन्दर हुआ? चुनाव वृद्ध ने किया, पर युवक का जाम्बवानजी के समक्ष जब प्रश्न उठा कि राजदूत किसे बनाया जाए, तो उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं ही चला जाऊँ। निःसन्देह वे योग्य थे, बड़ी क्षमता भी थी उनमें, पर उन्होंने कहा—मैं समझता हूँ कि इसके लिए बालिपुत्र ही सर्वाधिक उपयुक्त होगा। बालिपुत्र को दूत बनाकर भेजिए। सारे मंत्रिमण्डल ने एक स्वर में समर्थन किया—

मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालिकुमारा।।
नीक मंत्र सबके मन माना। ६/१६/४-५

भगवान के मन की बात दूसरों के मुँह से निकली। प्रभु ने प्रसन्न होकर अंगद को निकट बुलाया। श्रीराम की यह कितनी उत्तम नीति है, मंत्रियों का मत लेने की, बूढ़े जाम्बवान की मंत्रणा से युवक अंगद को राजदूत बनाकर भेजने की। कितनी व्यापक अर्थों वाली नीति है। अंगद को भेजने के कई अर्थ थे। यह जो अंगद को भेजा जा रहा है, इसमें पहले तो व्यक्ति को देखकर ही रावण पर कुछ प्रभाव पड़ना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करें, तो यहाँ श्रीराम की प्रीति भी है और नीति भी।

भगवान राम यदि केवल राजनीतिज्ञ होते और उनका हृदय यदि स्नेह-प्रेम से ओतप्रोत न होता, तो वे शायद इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं कर पाते। क्योंकि उनके मन में तो अंगद के प्रति सन्देह होना स्वाभाविक होता। राजदूत का पद तो ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है, जिस पर पूरी तरह से भरोसा किया जा सके। अब यदि बहिरंग दृष्टि से देखें, तो श्रीराम से किसी को हानि हुई है तो वह है अंगद। अंगद के पिता का वध भी श्रीराम के हाथों हुआ और फिर बालि-पुत्र के रूप में उस राज्य से उन्हें वंचित करके श्रीराम द्वारा वह सुग्रीव को दे दिया गया। इस प्रकार यदि हम देखें, तो कह सकते हैं कि सारी सेना में जिस पर विशेष दृष्टि रखी जानी चाहिए थी, ये थे अंगद। पर भगवान ने जाम्बवान की बात को स्वीकार किया और अंगद पर उतना ही विश्वास किया, जितना कि हनुमानजी पर। हनुमानजी पर उनका विश्वास तो स्वाभाविक है, पर अंगद को जितना बड़ा अधिकार देकर प्रभु ने भेजा, उतना तो उन्होंने हनुमानजी को भी नहीं दिया था। हनुमानजी को तो केवल सीताजी को पता लगाने और सन्देश देने भेजा गया, पर अंगद को तो सीताजी को हार जाने तक का अधिकार दिया गया, श्रीराम को भी हार जाने का अधिकार दिया गया है और उन्होंने इसका प्रयोग भी किया। श्रीराम जितना विश्वास उन्हें देते हैं, उतना ही वे अंगद से भी पाते हैं।

उधर रावण न तो दूसरों का विश्वास करता है, न दूसरों से विश्वास पाता है। जब वह अपने मंत्रिमण्डल से पूछता कि युद्ध कैसे किया जाए, आप लोगों को क्या कहना है? तब वह पूछता तो था, पर उसके मन में पहले से ही रहता था कि सब मेरा ही समर्थन करें, नहीं तो बाद में अच्छी खबर लेंगे। अतः रावण के पूछने पर सारे राक्षस तत्काल एक स्वर में कहते—महाराज! ये भालू बन्दर तो हमारे भोजन हैं। भला यह भी पूछने की बात है कि हम भोजन कैसे करेंगे? वे जरा सामने तो आएँ, बस, फिर तो हम स्वयं ही उन्हें खा लेंगे—

नर कपि भालु अहार हमारा। ६/७/६

पर भगवान राम के विश्वास के मूल में प्रेम है। वे विश्वास करते

हैं और विश्वास पाते भी हैं। उन्होंने लंका में जो दो भेजे, हनुमानजी और अंगद दोनों अकेले ही गये और महान कार्य करके लौटे। पर रावण ने जब श्रीराम की सेना में गुप्तचर भेजे, तो अकेले नहीं, शुक और सारण दोनों को एक साथ भेजा। क्यों? रावण हर किसी को सन्देह की दृष्टि से देखता था। उसने सोचा, गुप्तचर अकेला गया, तो वहाँ जाकर न जाने क्या करेगा, कहीं शत्रु से मिल न जाए, अतः दो को भेजा, ताकि ये शत्रु का भेद लेने के साथ ही एक दूसरे पर भी नजर रखें। रावण विशुद्ध राजनीतिज्ञ था, सदा चौकन्ना और सशंकित रहता था। किसी पर भरोसा नहीं करता था, पर उसकी इतनी चतुराई के बाद भी फल उल्टा ही हुआ।

पर भगवान का हृदय इतना सरल है कि सहज ही सब पर विश्वास हो जाता है। विश्वास कौन नहीं कर पाता? जिसके हृदय में पहले से ही कोई उल्टी बात होती है, उसी को सन्देह होता है। सुग्रीव बोले, विभीषण भेदिया है। सुनकर प्रभु हँसने लगे। कहा—भेद लेने आया है तो चिन्ता कैसी?

सुग्रीव बोले कि महाराज! शत्रु की ओर से कोई भेद लेने आए, तो यह चिन्ता की ही तो बात हैं। प्रभु ने कहा कि भई! अपने पास तो छिपाने लायक कोई भेद ही नहीं है, तो भी यदि कोई आए, तो अच्छा ही है। मैं तो चाहता हूँ कि रावण किसी को भेजे। यदि उसने भेदिया भेजा है, तो यह उसकी सद्‌बुद्धि है, इससे उसे कुछ तो समझेगा। यदि मुझे अपना भेद छिपाना होता, तो मैं अवतार ही क्यों लेता, निराकार तो था ही, सब छिपा ही हुआ था। सब प्रकट करने को ही तो मैं आया हूँ। तुम डरते क्यों हो? हम स्वयं सब कुछ बताने को तैयार हैं—

भेद लेन पठवा दससीसा।
तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा।। ५/४३/६

भगवान राम के मन में कोई कपट, संशय या षड्यंत्र नहीं है। वे पूर्ण विश्वास देते हैं, पर रावण के मन में संशय है। उसने भेदिया भेजे, पर क्या वे काम आए? शुक और सारण बन्दर बनकर आए थे और वे इतने निपुण थे कि श्रीराम की सेना में घुलमिल गये। वे भेद

लेने आए थे। क्या भेद मिला उन्हें? उन्हें श्रीराम के स्वभाव का पता चला। वे श्रीराम के स्वभाव पर मुग्ध होकर उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे अरे, हमारा स्वामी रावण कैसा है और ये श्रीराम कैसे हैं—

प्रगट बखानहिं राम सुभाउ।
अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ।। ५/५१/१

आसपास के बन्दरों ने सुना। बोले अरे, ये तो लंकावाले लगते हैं, पकड़ो इन्हें। पकड़कर सुग्रीव के पास ले गये। उन्हें देख सुग्रीव को बदले की राजनीति सूझी। लंका में हनुमानजी को पकड़कर लाए जाने पर रावण ने कहा था—इस बन्दर का अंग-भंग कर दो। अतः सुग्रीव ने कहा, इनके भी नाक-कान काटकर लंका भेजो, बदला हो जाएगा। रावण के गुप्तचर कहने लगे कि आप लोग भी बड़े विचित्र हैं। जब हम कपट कर रहे थे, तब तो आप पकड़ नहीं सके और जब राम के स्वभाव ने हमें बदल दिया, हम भले बन गये हैं, तब आप हमें दण्ड दे रहे हैं। यह दण्ड बुरा बनने का है या भला बनने का? पर बन्दरों ने कहा कि नहीं, तुम्हें माफ नहीं किया जाएगा। ऐसी बातें तो कोई भी बना सकता है। लक्ष्मणजी ने सुना तो हँसकर सबको पास बुलाया—

सुनि लछिमन सब निकट बोलाए। ५/५१/७

सुग्रीव ने तो सोचा कि शायद मारने के लिए बुला रहे हैं। हमने तो केवल नाक-काट काटने के लिए भी कहा था, पर ये तो शायद प्राणदण्ड ही देंगे। पर उन्होंने तुरन्त छुड़वा दिया—

दया लागि हँसि तुरत छोड़ाये। ५/५१/७

और इतना ही नहीं, लक्ष्मणजी ने कहा—आज से तुम्हीं हमारे राजदूत हो, हमारा सन्देश लेकर रावण के पास जाओ। और सचमुच वे राजदूत इतने प्रभावी सिद्ध हुए कि अंगद और हनुमानजी से जरा भी कम नहीं थे। अंगद ने भी रावण को भगवान की बड़ी महिमा सुनाई-दिखाई और हनुमानजी ने भी, पर इन शुक और सारण ने तो हद ही कर दी। लौटकर रावण के पास जाने पर जब उसने पूछा कि उधर के बड़े-बड़े सेनापतियों के नाम बताओ। तो इन्होंने गिनाना शुरू किया—

द्विविध मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि।
दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि।।।५/५४

रावण ने पूछा कि जो तुमने नाम गिनाए, इनमें उस नगर जलाने वाले बन्दर का क्या नाम है? रावण को हनुमानजी ने अपना नाम नहीं बताया था। रावण ने पूछा—वह द्विविध था, मयन्द था, या नल-नील, कौन था वह? दूत बोले, इनमें से कोई नहीं था; उसका तो वहाँ कोई पता ही नहीं चला। अरे, तुम लोगों ने उसका पता क्यों नहीं लगाया? दूत बोले महाराज! हम तो बड़े-बड़े योद्धाओं के नाम ही पता लगाकर आए हैं। तो क्या वह कोई साधारण बन्दर था? उन लोगों ने कहा—सारी सेना में वही सबसे दुर्बल है—

जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा।
सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा।। ५/५३/७

उस आतंक की कल्पना कीजिए। इन्होंने तो अंगद से भी ज्यादा आतंक पैदा कर दिया। जब सबसे दुर्बल ने ऐसा कर दिया, तो जो वीर लोग हैं, उनके आने पर क्या होगा?

यही भगवान श्रीराम की परिवर्तन की प्रक्रिया है, जिसमें नीति की प्रेरक वृत्ति प्रीति है। वही उनकी नीति की विजय है। उनकी नीति प्रीति से मिलकर बनी हुई है। व्यक्ति के हृदय को बदल देना उनका स्वभाव है, यही उनकी नीति है। अंगद पर उन्होंने जो विश्वास किया, यह उनके चरित्र का महानतम पक्ष है। भगवान श्रीराम का अभिप्राय यह था कि बालि को मारने में मेरा व्यक्तिगत कोई रंचमात्र भी द्वेष नहीं था, कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था। बालि के प्रति भगवान के मन में यदि कोई व्यक्तिगत रोष या स्वार्थ होता तो अंगद को कभी इतना विश्वास देने की यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उनका कार्य इतना पवित्र और कल्याणकारी था कि उन्हें अंगद की ओर से कभी कोई संदेह होने का प्रश्न ही नहीं था कि मैंने उनके पिता का वध किया है। उन्होंने कहा कि अंगद तुम तो मेरे इतने विश्वस्त हो कि मैं तुम्हें स्वाधिकार दे रहा हूँ। हनुमानजी को तो प्रभु ने बता दिया था—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु।। ४/२२/११

पर जब अंगद ने पूछा महाराज! आपने मुझे राजदूत का पद दिया। अब कहिए, मुझे क्या करना है? तब प्रभु ने कहा कि—तुम स्वयं इतने बुद्धिमान हो, इतने विवेकी हो कि कभी अनुचित निर्णय नहीं ले सकते। अतः मैं तुम्हें पूरा अधिकार देता हूँ और यदि तुम पूछते हो, तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि तुम जाओ और जिससे हमारा काम बन जाए वैसा करो—

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहउँ।
परम चतुर मैं जानत अहउँ।। ६/१६/७

"मेरा काम बन जाए' स्वार्थ की भाषा है। पर अगले ही वाक्य में वे बोले कि अंगद! ध्यान रखना कि मेरा काम होना ही सब कुछ नहीं है। वही करना जिसमें रावण का भी हित हो—

काजु हमार तासु हित होई। ६/१६/८

यहाँ भी वही नीति और प्रीति, स्वार्थ और परमार्थ का सामंजस्य है। भगवान ने अंगद को राजदूत के रूप में रावण की सभा में भेजकर मानो अंगद को भी उत्तर दिया। अंगद के मन में जो ग्लानि थी कि प्रभु ने मुझे सीताजी के पास सन्देश ले जाने का कार्य नहीं सौंपा। पर जब अंगद को राजदूत बनाकर भेजा, तो मानो प्रभु का संकेत था कि हनुमान को तो सीता को सन्देश देने का काम सौंपा था, पर तुम्हें तो सारा हारने-जीतने का अधिकार देकर भेज रहा हूँ। तुम्हारा अधिकार उनसे कम नहीं, बल्कि अधिक है। यदि आप सचमुच ही रावण-अंगद संवाद को इस दृष्टि से देखें तो वहाँ भगवान की नीति और प्रीति की कितनी बड़ी विजय है। इसमें कितना दिव्य परमार्थ तत्त्व है। इसमें ऐसा स्वार्थ है, जो परमार्थ का विरोधी नहीं है। यही सूत्र पूरे संवाद में है।

अंगद को राजदूत बनाकर भेजने में कितनी बड़ी राजनैतिक सूझ थी। अंगद को भेजने का अर्थ यह है कि बालिपुत्र को देखते ही रावण को बालि की याद आ जाएगी और वह देखेगा कि यह बालिपुत्र किसका दूत बनकर आया है। उनका उद्देश्य रावण को यह याद दिलाना था कि पहले भी उसकी पराजय हो चुकी है। मानो उनका संकेत था—रावण, यदि तुम बुद्धिमान हो, तो सोच लो कि बालि को जिसने एक बाण से

मार दिया, उस व्यक्ति से विरोध करना क्या तुम्हारे हित में है?—

बालि बध्यो जेहि एक सर। ६/३३

रावण ने हनुमानजी से भी यह पूछा था। पर रावण-हनुमान संवाद लोगों को उतना पसन्द नहीं आता। उसमें तू-तू, मैं-मैं जरा कम दिखती है। हनुमानजी तो लगे भक्ति की भाषा में बोलने। रावण द्वारा परिचय पूछने पर वे अपना और अपने पिता का नाम नहीं बताते। वे तो सीधा सृष्टि से प्रारम्भ करते हुए कहते हैं, मैं उन प्रभु का दूत हूँ, जिनके बल से माया ने विश्व का निर्माण किया; जिनकी शक्ति से ब्रह्मा-विष्णु-महेश सृजन-पालन-संहार करते हैं और जिन्होंने राम के रूप में अवतार लिया है—

सुनु रावण ब्रह्माण्ड निकाया।
पाइ जासु बल बिरचति माया।। ५/२०/४
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।। ५/२१

रावण ने पूछा कि किसके बल से तुमने वाटिका उजाड़ी? हनुमानजी बोले कि रावण, हमारे और तुम्हारे पीछे दो बल थोड़े ही हैं। जिसके बल से तुमने संसार को जीता है, उसी के बल से मैंने बाग उजाड़ दिया। हममें और तुममें बस इतना ही अन्तर है कि बल तो तुम्हें भी और मुझे भी ईश्वर का ही मिला है, पर तुमने बल का दुरुपयोग किया और मैंने सदुपयोग। रावण ने कहा कि मैंने दुरुपयोग क्या किया? हनुमानजी बोले—कि जिनसे तुम्हें शक्ति मिली है, उन्हीं की प्रिया को तुम हरण कर लाए, इससे बढ़कर बल का दुरुपयोग क्या हो सकता है? मैं तो उनका दूत बनकर, सन्देश लेकर आया हूँ। यह हनुमानजी की बड़ी तात्त्विक और दार्शनिक भाषा है।

इधर अंगद तो शुरू करते हैं राजनीति से। रावण पूछता है—रे बन्दर, तू कौन है? और अंगद कहते हैं—हे रावण, मैं रघुवीर का दूत हूँ। ऐसा नहीं कि वे केवल सांकेतिक भाषा भी बोलते हैं। रावण ने यह नहीं पूछा कि तुम किसके बेटे हो, अंगद ने स्वयं अपनी ओर से बता दिया कि मेरे पिताजी से तुम्हारी मित्रता थी। अतः मैं तुम्हारे हित के लिए आया हूँ—

मम जनकहि तोहि रही मिताई।
तव हित कारन आयउँ भाई।। ६/१६/२

इस पर अंगद सीधे न कहकर बोले कि मैं बालि का बेटा अंगद हूँ। क्या उनके साथ कभी तुम्हारी भेंट हुई थी? इस वाक्य में अंगद का व्यंग्य था कि लगता है तुम अपनी पुरानी मित्रता को भी भुलाना चाहते हो। रावण ने भी व्यंग्य के द्वारा ही अपनी राजनैतिक चातुरी का परिचय दिया कि आजकल कहाँ है बालि? उनका कुशल समाचार भी तो कुछ सुनाओ। तब अंगद उलटकर कह देते हैं कि दस दिन बाद जाकर मित्र से मिलना और तब वे बता देंगे कि राम के विरोध करने का क्या फल होता है। तुम्हें खूब सुनने को मिलेगा--

दिन दस गएँ बालि पहिं जाई।
बूझेहु कुसल सखा उर लाई।।
राम बिरोध कुसल जस होई।
सो सब तोहि सुनाइहि सोई।। ६/२०/८-६

अंगद को पहले से ज्ञात था कि जब हनुमानजी ने रावण को सम्मान देने की चेष्टा की थी, तो वह सचमुच ही उसे अपनी महानता मान बैठा था। हनुमानजी का उद्देश्य था कि रावण से ऐसी भाषा में बात की जाए कि उसका सम्मान भी बना रहे और वह मेरी बात मानकर बैर-बिरोध छोड़ दे। रावण बड़े गर्व से फूला हुआ है। हनुमानजी उसे याद दिलाना चाहते हैं कि वह जीवन में सदा अपराजेय नहीं रहा है, पर हनुमानजी बड़ा सँभाल कर बोलते हैं। वे रावण से कहते हैं—मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ। तुम्हारा सहस्रबाहु से युद्ध हुआ था और बालि से युद्ध करके भी तुमने बड़ा यश कमाया—

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई।।
समर बालि सन करि जसु पावा। ५/२१/१-२

हनुमानजी की बात पर रावण खूब हँसने लगा। हँसने की क्या बात थी? रावण बड़ा प्रसन्न हुआ कि बन्दर ने दो का नाम तो लिया, पर हार शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं किया। अतः यह बन्दर तो मेरी प्रशंसा ही कर रहा है। मेरा इतिहास ही बड़ा अद्वितीय है।

पर वही बात जब अंगद कहते हैं, तब लगता है कि वह व्यंग्य है। कहावत है—'लात के देवता बात से नहीं मानते।' अंगद जानते थे कि रावण को सम्मान देने से इसका सिर फिर जाएगा। अतः वे दूसरी शैली को अपनाकर कई रावणों का इतिहास सुनाते हैं। कहते हैं, मैंने जिन सब रावणों के बारे में सुना है, उनमें से तुम कौन-से हो? एक को तो पाताल लोक के लड़कों ने घुड़साल में बाँध लिया था। और दूसरे को सहस्रबाहु ने जलचर समझकर पकड़ लिया था। आगे और भी याद दिला दिया—

बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला।।
खेलहि बालक मारहि जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई।।
एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा।।
६/२३/१३-१५

फिर बोले कि मुझे पूछने में तो बड़ा संकोच-सा लग रहा है, पर पूछना पड़ रहा है। इनमें से तुम कौन से रावण हो? —

एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख।
इन्ह महुँ रावण तैं कवन सत्य बदहिं तजि माख।। ६/२४

उद्देश्य दोनों का एक ही है। हनुमानजी का उद्देश्य है कि यदि प्रेम से समझ लेता है तो प्रेम से समझाऊँ और अंगद का उद्देश्य है कि जो सीधे से समझने का अभ्यस्त नहीं है, सम्मान पाकर उसका अहंकार और बढ़ेगा। अतः इसके अहं को तो इस सभा में ही समाप्त कर देना चाहिए। अहंकार मिट जाने पर शायद कुछ बदले। अंगद की भाषा में सर्वत्र आप यही पाएँगे। उनकी भाषा बड़ी विचित्र है। रावण कहने लगा कि तुम्हारी सेना में तो कोई वीर है ही नहीं। कहते-कहते अचानक उसके मुँह से निकल गया, बस, एक वीर है। कौन? उस बन्दर का नाम तो पता नहीं है, पर जो नगर जला गया था, हमें तो बस वही वीर लगता है—

आवा प्रथमु नगर जेहि जारा। ६/२२/६

अंगद बोले, कहते क्या हो, क्या सचमुच किसी बन्दर ने तुम्हारा नगर जला दिया? अंगद ऐसे बोल रहे हैं, मानो उन्हें कुछ पता ही न हो। बोले—रावण, वह जो बन्दर आया था, क्या उसे तुम बहुत वीर

समझ रहे हो? जो बड़ा तेज चलता है, वह कोई बहुत वीर थोड़े ही होता है। उसे तेज चलने का अभ्यास है, इसलिए उसे हमने खबर लेने भेज दिया था-

चलइ बहुत सो बीर न होई।
पठवा खबरि लेन हम सोई।। ६/२२/१०

इस प्रकार बोलकर अंगद ने रावण पर जो व्यंग्य किया, उसमें भी वही आध्यात्मिक तत्त्व है। वे रावण से कह सकते थे–तुम श्रीराम को पहचानते नहीं। वे तो हमारे पिता की, हमारी और तुम्हारी भी अन्तरात्मा हैं। यदि तुम उन सर्वव्यापक, सभी प्राणियों की अन्तरात्मा रूपी अद्वैत रूप तत्त्व को पहचान लेते, तो शायद संघर्ष ही मिट जाता। पर अंगद कहते हैं–

सुनु सठ भेद होइ मन ताके।
श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके।। ६/२०/१०

अंगद भी उसी सत्य की याद दिलाना चाहते हैं, रावण को बदलना चाहते हैं, पर वे कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं। फिर अंगद द्वारा हनुमानजी को छोटा कहे जाने में भी उनकी बड़ी चतुराई है। आगे देखिए, अंगद कितने गम्भीर हैं।

रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि जब मैंने किसी योद्धा की प्रशंसा की तो इसे भी स्वीकार करना चाहिए था। पर इसके कहने से तो ऐसा लग रहा है कि, जैसे उसका कोई महत्त्व ही न हो, पर अंगद के दो उद्देश्य हो सकते हैं। एक तो यह कि यदि रावण के मन में ऐसी धारणा हो जाएगी कि हनुमान ही सबसे वीर हैं, तो वह सोचेगा कि ठीक है, मैं तो उस बन्दर के बल की थाह ले ही चुका हूँ, उसे तो मेरे बेटे ने बन्दी बना लिया था। ऐसा सोचकर वह युद्ध की दिशा में ही बढ़ेगा, पर इसके मन में किसी तरह यह छाप पड़ जाए कि वह बन्दर तो सामान्य योद्धा है, वास्तव में श्रीराम की सेना में सभी योद्धा उनसे भी अधिक वीर हैं, तो शायद इसके मन में युद्ध से विरत होकर सन्धि करने की वृत्ति आए।

पर अंगद का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण संकेत यह था, जो आगे चलकर उन्होंने प्रकट किया। अंगद ने तो यहाँ तक कह दिया कि उस

बन्दर को तो नगर जलाने की आज्ञा भी नहीं दी गयी थी। उसने बिना आज्ञा नगर जला दिया, इसलिए वह डर के मारे लौटकर सुग्रीव के पास गया ही नहीं–

फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहि भय रहा लुकाइ। ६/२३

इसमें संकेत क्या है? कभी निन्दा में प्रशंसा होती है और कभी प्रशंसा में भी निन्दा होती है। बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है–"असमझवार सराहिबो समझवार को मौन"। नामसझ यदि प्रशंसा करे और समझदार यदि मौन रह जाए तो सुजन, कवि या कलाकार व्यक्ति का हृदय विदीर्ण होने लगता है।

यदि किसी कलाकार की कोई मूर्खतापूर्ण प्रशंसा करे, तो क्या वह प्रसन्न होगा कि बड़ा गुणग्राही मिला? वह तो सिर पीट लेगा कि कहाँ से ऐसा मूर्ख श्रोता मिला। एक सज्जन एक गायक की प्रशंसा करते हुए एक राग का नाम लेकर बोले कि आपने यह राग बड़ा अच्छा गाया, तो उस गायक ने अपना सिर पीट लिया कि मैंने तो यह राग गाया ही नहीं। अब इसे प्रशंसा मानें या निन्दा? हनुमानजी की प्रशंसा करते समय रावण के मुख से जो वाक्य निकला, उसे सुन हनुमानजी जरा भी प्रसन्न नहीं हुए। आगे हनुमानजी ने कहा कि बराबरी तो हमारी-तुम्हारी है, आज निर्णय हो जाए। रावण बोला ठीक है। पहले रावण ने मुक्का चलाया। हनुमानजी ने पृथ्वी पर घुटने टेककर उसका प्रहार झेल लिया और जब हनुमानजी ने मुक्का चलाया तो रावण मूर्छित हो गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद रावण उठकर हनुमानजी की प्रशंसा करने लगा, अरे बन्दर, तू तो बड़ा बलवान है। बड़ी शक्ति है तुझमें–

मुरुछा गै बहोरि सो जागा।
कपि बल बिपुल सराहन लागा।। ६/८३/३

हनुमानजी को तो बड़ा प्रसन्न होना चाहिए था कि आज शत्रु मेरे बल की धाक मान रहा है, पर वे गम्भीर होकर बोले–धिक्कार है, धिक्कार है। रावण चिढ़कर बोला अरे! मै तुम्हारी प्रशंसा कर रहा हूँ और तुम मुझे धिक्कार रहे हो? हनुमानजी बोले तुम्हें नहीं, स्वयं को धिक्कार रहा हूँ। स्वयं को क्यों धिक्कार रहे हो? बोले–मेरा

मुक्का खाकर भी तुम जीवित हो, तो फिर मेरे मुक्के में क्या विशेषता हुई?—

धिग-धिग मम पौरुष धिग मोही।
जौं तैं जियत रहेसि सुरद्रोही।। ६/८३/४

इसका सांकेतिक अभिप्राय है। हनुमानजी मूर्तिमान वैराग्य हैं और रावण मूर्त्तिमान मोह। हनुमानजी का तात्पर्य था कि वह वैराग्य का मुक्का भी किस काम का, जिसे खाने के बाद भी मोह जीवित हो। वैराग्य का मुक्का तभी सार्थक है, जब उसके प्रहार से मोह पूर्णतः मिट जाए, पर तुम तो ज्यों के त्यों बचे हो, तो वह मुक्का तो किस काम का। मैं तुम्हारी प्रशंसा से जरा भी प्रभावित नहीं हूँ।

अंगद ने रावण की बात को कब बुरा मान लिया? जब उसने हनुमानजी को बन्दर कह दिया—

है कपि एक महा बलसीला।
आवा प्रथम नगर जेहिं जारा।
सुनत बचन कह बालिकुमारा।। ६/२२/५-६

अंगद मन-ही-मन चिढ़ गए। बोले—कैसा मूर्ख है। देख लिया कि हनुमानजी ने पूरे नगर को जला दिया, उसके बाद भी उन्हें बन्दर ही कह रहा है। इसलिए अंगद ने रावण से पूछा, अच्छा यह बता कि गंगा भी कोई नदी हैं?

किसी ने गंगा की प्रशंसा में कह दिया कि गंगा सर्वश्रेष्ठ नदी है, तो बड़ी सूक्ष्म वृत्ति वाले व्यक्ति ने सिर पकड़ लिया। उन्होंने पूछा—आप गंगा की प्रशंसा कर रहे हैं कि निन्दा? गंगा को नदी कहने से बढ़कर गंगा का क्या सम्मान होगा? कहते हैं कि एक व्यक्ति ने निर्जला एकादशी का व्रत किया था। बिना पानी पीये रहने का एकादशी व्रत और वे गंगा के दिव्य प्रवाह में भर-पेट जल पी रहे थे। किसी ने पूछा कि यह कैसा निर्जला व्रत है, आप तो जल पीये जा रहे हैं? वह बोले कि यह जल है या अमृत? मैंने जल न पीने की प्रतिज्ञा की है, अमृत न पीने की प्रतिज्ञा नहीं की है। ब्रह्म का जो द्रव रूप है, वह गंगा है।

अंगद ने यही बात रावण के सामने दुहराई। वे कहते हैं—

धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। ६/२५/५-६

एक ओर तो तू हनुमानजी की प्रशंसा कर रहा है और फिर उन्हें बन्दर भी कह रहा है। यदि तुममें थोड़ी भी बुद्धि होती तो उनके लिए बन्दर शब्द का प्रयोग न करता। क्या वे सचमुच बन्दर हो सकते हैं? उन्होंने तुम्हारे पुत्र का बध कर दिया, लंका जला दी, तो भी तुम उनके स्वरूप को नहीं पहचान पाए? यह दुर्भाग्य है तुम्हारा। तुम उनकी प्रशंसा भी कर रहे हो तो बन्दर कहकर।

अंगद ने प्रारम्भ में जो वाक्य हनुमानजी के लिए कहे, वह भले ही रावण पर व्यंग्य करने के लिए कह रहे हों, पर उनका अन्तिम लक्ष्य सर्वदा गम्भीर था। वे तो हनुमानजी को इतना आदर देते थे कि हनुमानजी के लिए बन्दर शब्द सुनते ही उनको चोट लगती है और वे रावण को फटकारते हैं। रावण की सभा में यह जो अंगद का पैर रोपना और यह कहना कि तुम्हारी सभा में यदि किसी ने भी मेरा पैर हटा दिया तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जाएँगे। अंगद की इस घोषणा के बाद रावण की सभा के सभी व्यक्तियों के प्रयत्न करने पर भी अंगद का पैर न हटना इसका अभिप्राय क्या है? इस एक कार्य के द्वारा ज्ञान की दृष्टि से, अंगद इतने महान सन्देश दे रहे थे कि गोस्वामीजी ने इसे बड़े भावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। पैर रोपने के पीछे अंगद का उद्देश्य शक्ति प्रदर्शन अथवा आत्मश्लांघा बिल्कुल नहीं थी। जब रावण की सभा में कोई भी राक्षस उनका पैर नहीं हटा सके, तब अन्त में वह स्वयं उठा। अंगद यदि आत्मश्लांघा से भरे होते, तो उसे भी पैर हटाने का अवसर देते। पर नहीं, आत्मविज्ञापन उनका लक्ष्य नहीं था। रावण ज्योंही अंगद के पैर की ओर झुका, तो वे कहते हैं—तुम इतने नीचे गिर गये कि बन्दर का पैर पकड़ रहे हो। अरे, तुम्हें ईश्वर का पैर पकड़ना चाहिए—

मम पद गहें न तोर उबारा।
गहसि न राम चरन सठ जाई। ६/३४/२-३

अंगद ने पैर खींच लिया। पता चल गया कि अंगद अपना अहं प्रदर्शित नहीं कर रहे थे। वे तो किसी तरह से रावण को समझाना

भर चाहते थे कि वस्तुतः तुमने श्री सीताजी को न शान्तिरूप में पाया है, न भक्ति रूप में पाया है और न शक्ति रूप में। तुम तो एक भारवाहक की तरह लंका की समृद्धि को ढो रहे हो और प्रभु से प्राप्त कृपा का दुरुपयोग कर रहे हो। यदि तुमने पा लिया होता तो आज तुम्हें मेरे पैर पकड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। रावण यदि तुम श्री सीताजी को पाना ही चाहते हो तो प्रभु श्रीराम के शरणागत हो जाओ। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

अष्टम

भगवान श्री सीताराम की महती अनुकम्पा से रामकथा के माध्यम से जो सूक्ष्म और तात्विक रहस्यों की चर्चा चल रही है, आइए! अब कुछ समय के लिए उसमें अवगाहन करने की चेष्टा करें। प्रसंग के रूप में अंगद का चरित लिया गया है और पिछले दिनों में आपके समक्ष अनेकों दृष्टियों से अंगद चरित को प्रस्तुत किया गया। पिछले प्रसंगों को जोड़कर आज हम पुनः आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहे हैं।

अंगद विविध संकेतों तथा वाक्यों के द्वारा यही प्रयत्न करते हैं कि किसी तरह से रावण की दृष्टि बदल जाए और वह अपने दुर्गुणों को छोड़कर भगवान की शरण में चला जाए। वैसे रावण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि जो अधिक से अधिक प्रयत्न किया जा रहा है, इसका तात्त्विक सामाजिक सन्दर्भ में तात्पर्य यह है कि हर व्यक्ति में सुबुद्धि और कुबुद्धि दोनों विद्यमान हैं–

सुमति कुमति सब के उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं।। ५/३६/५

रावण के हृदय में जो सुप्त सद्‌बुद्धि है, उसे यदि किसी प्रकार से जगाया जा सके और वह अपनी कुमति का परित्याग करके सुमति के संकेत को हृदयंगम कर ले, तो इससे बढ़कर रावण के लिए और संसार के लिए कल्याण की बात और कुछ हो नहीं सकती।

रावण के हृदय में भी सुमति है। उसका परिचय रामायण के कई प्रसंगों में मिलता है। जब सूर्पणखा के द्वारा रावण को यह समाचार मिलता है कि राम और लक्ष्मण ने खर तथा दूषण का संहार कर दिया है, तो उस समय रावण के हृदय में पहले सुमति का सन्देश ही तो

आया और वह सुमति तो रावण को प्रेरित कर रही थी, वह सोचने लगा कि यह क्या हुआ? खर और दूषण का वध? ये दोनों तो मेरे ही समान बलवान थे और मेरे इन भाइयों को भगवान के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं मार सकता, इससे लगता है कि साक्षात् भगवान ही अवतार ले श्रीराम के रूप में आए हुए हैं–

खर दूषन मोहि सम बलवंता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता।। ३/२२/२

यह सुमति का संकेत था, जो रावण को प्रारम्भ में मिला, पर रावण की समस्या यह है कि उसका हृदय मोह से इतना मलिन है कि वह इस सत्य को धारण करने में समर्थ नहीं है। उसका अहंकार इतना प्रबल है कि उस सुमति के संकेत को भी आत्म-प्रवंचना करके अस्वीकार कर देता है।

'मानस' में इस सूत्र को वर्षा और भूमि के दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है। वर्षा का जल बिल्कुल स्वच्छ रहता है, पर जब वह भूमि पर गिरता है तो भूमि पर पड़ी गन्दगी से मिलकर गन्दा हो जाता है। मगर भूमि यदि खूब स्वच्छ हो, पत्थर का फर्श लगा हो तो वहाँ पर जो वर्षा का जल गिरेगा, वह स्वच्छ ही रहेगा, गन्दा नहीं होगा। पर इतने से ही नहीं होगा। भूमि में दो गुण होने चाहिए, भूमि स्वच्छ हो और उसमें गहराई हो। भूमि स्वच्छ रहेगी, तो जल स्वच्छ रहेगा, परन्तु यदि भूमि में गहराई नहीं होगी, तो जल टिकेगा नहीं, बह जाएगा। वैसे ही बुद्धि की भूमि भी स्वच्छ होनी चाहिए और हृदय में गहराई होना आवश्यक है-

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू।।
बरषहिं राम सुजस बर बारी।
मधुर मनोहर मंगलकारी।। १/३५/३-४

बुद्धि स्वच्छ हो पवित्र हो और हृदय की गहराई हो, इन दोनों के सामंजस्य की अपेक्षा है। बुद्धि यदि मलिन होगी, तो व्यक्ति से जो बात कही जाएगी, उसे वह समझ नहीं सकेगा, पर बुद्धि यदि सूक्ष्म और स्वच्छ भी हो तो समझाने पर व्यक्ति समझ तो लेगा, लेकिन यदि

उसके हृदय में धारण करने की क्षमता नहीं है, तो तत्काल उसे बहा देगा। इसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों के सामंजस्य की अपेक्षा है, बुद्धि पैनी और हृदय विशाल हो।

अब रावण की समस्या क्या है? वैसे उसकी बुद्धि तो पैनी दिखाई दे रही है। भगवान के अवतार का संकेत उसे सचमुच ही मिल गया, पर उसका हृदय मोह से इतना मलिन है कि वह सत्य को धारण करने में समर्थ नहीं है। उसका अहंकार इतना प्रबल है कि सुमति के इस संकेत को वह अपने कुतर्क से उड़ा देता है और स्वयं को भुलावा देता है तथा उस सत्य को स्वीकार नहीं करता। रावण के चरित्र का सबसे बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह है कि बड़ी पैनी बुद्धि के होते हुए भी अपने हृदय की मलिनता के कारण वह कल्याणकारी पक्षों की सदा उपेक्षा करता रहा और उसका आचरण वस्तुतः सुमति के संकेत से प्रेरित न होकर वासनाओं तथा दुर्गणों से प्रेरित था।

इसका अभिप्राय यह है कि रावण के हृदय में जब सत्य का प्रकाश हुआ कि भगवान का अवतार हो गया है, तो यह सत्य भी रावण के हृदय में अन्तर्यामी ईश्वर ही बता रहे थे और अप्रत्यक्ष रूप से भी विविध माध्यमों से ईश्वर ही संकेत कर रहे थे। हनुमानजी के द्वारा तथा अंगद को दूत बनाकर भेजना, इन सबका उद्देश्य यही था कि रावण अपने हृदय की दुर्वासनाओं का परित्याग कर दे।

श्री राघवेन्द्र रावण के विरुद्ध जो युद्ध करते हैं, वह यदि केवल दो राजाओं का संघर्ष होता, तो श्रीराम यही प्रयत्न करते कि यथाशीघ्र रावण का विनाश हो, पर भगवान जब जान-बूझकर विलम्ब करते हैं, तो इसका उद्देश्य वस्तुतः रावण को अवसर देना था। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के विरुद्ध कोई व्यक्ति बुरा नहीं होता, उसके अन्तःकरण की वासनाएँ ही उसे अन्धकार की दिशा में ले जाती हैं। श्रीराम का रावण से जो व्यक्तिगत सम्बन्ध है, उसमें रंचमात्र भी द्वेष नहीं है, बल्कि रावण को बचा लेने का ही प्रयत्न हो रहा है, पर रावण का दुर्भाग्य यह है कि वह अन्तिम प्रयास करने पर भी अपना मार्ग बदल नहीं सका और अपनी कमियों का ही समर्थन करता रहा।

सबसे पहले भगवान श्रीराम हनुमानजी को भेजते हैं, बाद में

विभीषणजी द्वारा भी रावण के सुमति को चैतन्य करने की चेष्टा की जाती है, शुक और सारण के द्वारा भी रावण को बदलने की चेष्टा की जाती है और उसके बाद सुवैल शैल से भगवान श्रीराम ने बाण चलाकर उसके छत्र, मुकुट आदि गिरा दिये। वह मानो प्रभु के बाण द्वारा दिया गया सन्देश था, जिसे मन्दोदरी ने हृदयंगम किया, पर जब रावण इन सारे सन्देशों की उपेक्षा करता रहा, तो सबसे अन्त में अंगद को भेजा गया।

इसका अभिप्राय यह है कि इतने प्रयत्न के बाद भी यदि रावण अपनी बुराइयों को छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं है, तब क्या होगा? जैसे किसी अंग में फोड़ा हो जाता है, तो पहले तो उस फोड़े को ही मिटाने की चेष्टा की जाती है, लेकिन वह फोड़ा कभी-कभी इतना घातक हो जाता है कि सारे अंग को ही अपने विष से दूषित कर देता है। तब शल्य-चिकित्सक को यह निर्णय लेना पड़ता है कि यदि शरीर को बचाना है तो दूषित अंग को काटना ही पड़ता है। अतः जब अंगद राजदूत बनाकर भेजे गये, तो यह रावण को बदलने का अन्तिम प्रयास था। इस प्रक्रिया में अंगद ने चतुराई, नीति और संकेतों के माध्यम से रावण को समझाने की चेष्टा की। उन्होंने रावण को यह बताना चाहा कि वस्तुतः अचल क्या है और चल क्या है? अंगद ने पहले मुष्टि प्रहार के द्वारा रावण को बताया कि रावण, जिस सिंहासन और जिस सत्ता पर तुम्हें इतना गर्व है, वह सिंहासन और सत्ता अचल नहीं है कि ज्यों-की-त्यों बनी रहे। व्यक्ति गर्व करता है कि यह अचल है। इस तरह से पहले तो अंगद ने दिखा दिया कि जिस सत्ता को तुम अचल समझ बैठे हो, वह कितनी चंचल है। समय की प्रतिकूलता आ जाने पर, ईश्वर की अनुकूलता न होने पर बड़े-से-बड़ा सत्ताधीश भी सिंहासन से मुँह के बल गिर पड़ता है।

उसके बाद अंगद ने एक कार्य और किया। रावण जब मुँह के बल गिरा तो उसके सिर पर जो मुकुट थे, वे भी उछल कर नीचे आ गिरे। तब अचानक अंगद और रावण ने उन मुकुटों की ओर हाथ बढ़ाए। वहाँ पर दस मुकुट थे। रावण हाथ के हाथ में छः मुकुट आ गये और अंगद के हाथ में चार। अब रावण के हाथ में जब छः मुकुट

आ गये, तो उसने इसका अपने स्वभाव के अनुकूल ही अर्थ निकाला। उसने बड़े गर्व से अपनी सभा के सदस्यों की ओर देखा। अब कोई रावण से पूछे कि अपने मुकुट छिन जाने से आपको इतनी प्रसन्नता क्यों हो रही है? तो रावण कहता है कि शास्त्र कहते हैं कि यदि किसी का सर्वस्व जा रहा हो और यदि वह उसमें से आधा भी बचा ले, वह महान पण्डित है। रामायण में उसी का अनुवाद किया गया है—

अरध तजहिं बुध सरबस जाता। २/२५५/२

रावण का अभिप्राय यह है कि यदि मैं पाँच मुकुट भी बचा लेता, तो पण्डित कहलाता, पर मैंने तो छः बचा लिए, तो मुझसे बड़ा पण्डित कोई है ही नहीं।

इसका तात्पर्य यह है कि रावण इस घटना का ऐसा अर्थ लेता है जो अंगद के संकेत से बिल्कुल विपरीत है। संकेत का अर्थ लगाना तो आपके हाथ में है, आप उसका मनमाना चाहे जो अर्थ लगा लीजिए। रावण ने इसी में अपना पाण्डित्य देखा। इतना ही नहीं, रावण ने बड़ी हड़बड़ी में उन मुकुटों को उठाकर अपने सिर पर लगा लिया। कितना बेढंगा दृश्य रहा होगा? रावण के दस सिर हैं। अब दसों सिर खुले रहें, तो भी ठीक, यह भी एक पद्धति है। या फिर दसों पर मुकुट हों तो भी शोभा है, पर अब छः के ऊपर मुकुट और चार सिर खाली हों, तो कितना बेतुका लग रहा होगा।

इसका अर्थ है कि रावण तो सत्ता में इतना आसक्त है कि उसकी दृष्टि अपनी इस अशोभनीयता पर भी नहीं जाती। उसे सत्ता को पकड़ने की इतनी हड़बड़ी है, इतनी व्यग्रता है कि वह मुकुट को उठाकर तुरन्त सिर पर लगा लेता है। भले ही वह दृश्य देखने में भद्दा लगे, पर उसे रंचमात्र भी लज्जा और संकोच की अनुभूति नहीं होती। परन्तु अंगद की दृष्टि यहाँ कितनी सुन्दर है। उनके पास तो चार मुकुट आ गये। अब अंगद भी अगर अहंकारी होते तो व्याख्या कर लेते कि चलो, मेरा तो एक ही सिर है और मुकुट चार हाथ लग गए, बहुत अच्छा हुआ, अब ये मुकुट रोज अदल-बदलकर लगाते रहेंगे, आज एक, कल दूसरा, परसों तीसरा। लेकिन अंगद ने जो कार्य किया, वह स्वयं अंगद के लिए भी सन्देश था।

उन मुकुटों को अंगद ने अपने सिर पर नहीं लगाया, अपितु उन्हें उठाकर जहाँ पर भगवान राम विराजमान थे, जोरों से उसी ओर फेंक दिया। मुकुट इतने तेजोमय थे कि देखकर लग रहा था मानो सूर्य का दिव्य प्रकाश हो रहा हो। बन्दर उसे देखकर पहले तो भयभीत हो गये कि कहीं रावण ने हम लोगों को मारने के लिए कोई शस्त्र तो नहीं चला दिया। प्रभु ने मुस्कराकर कहा–नहीं, नहीं आप लोग डरिए मत, ये रावण के मुकुट अंगद की प्रेरणा से आ रहे हैं–

ए किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालितनय के प्रेरे।। ६/३१/१०

वह शब्द भी कितना सार्थक है? भगवान राम यह भी कह सकते थे कि अंगद ने फेंका है, पर बोले–अंगद की प्रेरणा से आ रहे हैं। अब प्रेरणा और आने की बात तो चैतन्य के सन्दर्भ में ही की जाती है, परन्तु जड़ वस्तु के लिए तो 'फेंकना' ही कहा जाता है। लेकिन भगवान राम ने उसे चैतन्य के सन्दर्भ में ही लिया। उन्होंने उसकी जड़मूलक व्याख्या नहीं की। भगवान ने उन मुकुटों में चैतन्यता देखी।

जड़ और चेतन की परिभाषा क्या है? कुछ वस्तुओं को हम लोग जड़ मानते हैं। जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी–इन्हें स्वभाव से ही जड़ माना जाता है–

गगन समीर अनल जल धरनी।
इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी।। ५/५८/२

वह विभाजन क्या ठीक है? गोस्वामीजी कहते हैं कि नहीं क्योंकि कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो चैतन्य दिखाई देते हुए भी आचरण से जड़ हैं और जिन्हें हम जड़ कहते हैं, उनमें भी ऐसी स्थिति आ सकती है कि वह चैतन्य हो उठे। वस्तुतः यह जड़ और चेतन का विभाजन वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि इस जड़त्व में भी चैतन्य तत्त्व जो विरामजान है ही। जहाँ पर यह चैतन्य तत्त्व प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, उसे हम जड़ कहते हैं, पर उसमें भी चैतन्य तत्त्व छिपा हुआ है। उस चैतन्य तत्त्व का साक्षात्कार करने की, उसे प्रकट करने की शक्ति हममें नहीं है।

हमारे यहाँ मूर्तिपूजा की परम्परा है, इसका अर्थ क्या है? प्रत्यक्ष

रूप में देखें तो मूर्ति जड़ है और कितना विचित्र लगता है कि पूजा करने वाला व्यक्ति तो चैतन्य दिखाई दे रहा है और जिसकी पूजा की जा रही है, वह मूर्ति जड़ दिखाई दे रही हैं। तो क्या वह चैतन्य के द्वारा जड़ की पूजा है? ऐसा तो केवल उसी को दिखाई देता है, जो केवल बहिरंग दृष्टि से देखने वाला है, पर उसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि सच्ची चैतन्यता की जो समग्र अनुभूति है, वह जब तक बँटी हुई है, तब तक तो हमने सत्य को देखा ही नहीं। अब जो प्रश्न है कि जो वस्तुएँ हमें जड़ के रूप में दिखाई देती हैं, उनमें चैतन्य तत्त्व है या नहीं? इसका एक संकेत मैं यहाँ पर देना चाहूँगा।

हमारे यहाँ जो मूर्तिपूजा की परम्परा है, उसमें पहले तो मूर्ति बनाई जाती है। अब आप मूर्ति-निर्माण की जो पद्धति है, उस पर विचार कीजिए। एक पत्थर के टुकड़े को छेनी-हथैड़ी से तोड़-तोड़कर टुकड़े-टुकड़े भी किया जा सकता है, कंकड़ के रूप में परिणत किया जा सकता है। उस पत्थर के टुकड़ों को चाहे आप मकान या सड़क बनाने अथवा चाहे जैसा उपयोग कर सकते हैं, लेकिन पत्थर जो कंकड़ बनकर साधारण व्यवहार में आता है, वही यदि एक मूर्तिकार को दे दिया जाए, तो वह उसी छेनी-हथौड़ी से उस पत्थर से एक मूर्ति को व्यक्त कर देगा। इस मूर्ति को व्यक्त करने की शैली क्या है? मूर्ति पहले बाहर प्रकट होगी कि भीतर? वस्तुतः मूर्ति पहले मूर्तिकार के हृदय में आएगी। पहले वह हृदय में रूप धारण करेगी। अब मूर्तिकार के पास एक विशेष कला यह है कि वह अपने हृदय में जिस मूर्ति की कल्पना कर रहा है, देख रहा है, उसे वह बाहर प्रकट कर सकता है। वैसे वह कोई सरल कार्य नहीं है, बड़ा कठिन कार्य है। हम लोग मन तक तो जा सकते हैं, हम लोगों से यदि कहा जाए कि आप एक सुन्दर व्यक्ति की कल्पना कीजिए, तो सुन्दर व्यक्ति की कल्पना तो हम कर लेंगे, पर यदि कहा जाए कि आपके अन्तःकरण में जो सुन्दर मूर्ति है, उसे चित्र या मूर्ति के रूप में प्रकट करके दिखाइए, तो व्यक्ति बेचारा कहेगा कि भाई, यह क्षमता तो हममें नहीं है।

वैसे ही ईश्वर तो अन्तर्यामी के रूप में विद्यमान है, उनका रूप, उनकी मूर्ति, जब भी प्रकट होगी, तो पहले मूर्तिकार या भक्त के हृदय

में प्रकट होगी। वह पहले बाहर मूर्ति में प्रकट नहीं होता, पहले भक्त के हृदय में प्रकट होता है। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की भावना उस अव्यक्त ईश्वर को व्यक्त कर देती है। जैसे मूर्तिकार के पास यह कौशल है कि वह छेनी-हथौड़ी के द्वारा उस मूर्ति को बाहर प्रकट कर देता है, भगवान शंकर, विष्णु या राम, कृष्ण आदि रूपों में उन्हें प्रकट कर देता है। उसके हृदय में जिस चैतन्य तत्त्व की भावना थी, उसका जो रूप था, वह उस पत्थर के टुकड़े के भीतर पहले से ही छिपा हुआ था। अब प्रकट हो गया। उसी मूर्ति में मानो चैतन्य छिपा हुआ था। उस पत्थर का आप कंकड़ बना लीजिए, उसका साधारण व्यवहार कीजिए और यदि आपको चैतन्य तत्त्व का भान हो, तो उसमें वही ईश्वर दिखाई देगा, वही प्रकट होगा।

मूर्ति बनाने के बाद उसमें जो प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, उसका क्या अभिप्राय है? यह कि भक्त के अन्तःकरण में जो भावना है, जो श्रद्धा है, जो इस सत्य को जानता है कि केवल जड़ ही दिखाई देना भ्रान्ति है। जड़ तत्त्व में भी सर्वत्र चैतन्य ही प्रकाशित हो रहा है। इस सर्वव्यापी चैतन्य की ओर इंगित करना ही प्राण-प्रतिष्ठा का तात्पर्य है।

रामायण में एक संकेत पर आपका ध्यान गया होगा। वहाँ बताया गया है कि भगवान राम समुद्र से वार्तालाप कर रहे हैं। जब हनुमानजी आग से लंका को जलाने लगे तो सारी लंका जल गयी, पर विभीषण का घर नहीं जला। इसका अभिप्राय क्या हुआ? अग्नि को तो जड़ कहा जाता है तो क्या यहाँ पर अग्नि ने यह जड़ता का कार्य किया? समुद्र ने हनुमानजी को जाते हुए देखा। तो समुद्र हम लोगों को छलाँग लगाते हुए देख सकता है। पर यदि हम और आप समुद्र में छलाँग लगाएँ, तो सीधे आत्महत्या की स्थिति होगी। परन्तु हनुमानजी छलाँग लगा रहे हैं और समुद्र ने उन्हें श्री रघुनाथ का दूत समझकर तत्काल मैनाक पर्वत से कहा कि तू इनकी थकावट दूर कर दे—

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी।
तैं मैनाक होहि श्रम हारी।। ५/०/६

अब यह मैनाक पर्वत जड़ हैं या नहीं? इस सारे यात्रा क्रम में यह बताया गया कि इन जड़ तत्त्वों ने हनुमानजी से जो व्यवहार किया,

वह जड़ तत्त्वों की तरह नहीं, बल्कि चैतन्य की तरह किया। समुद्र ने हनुमानजी का स्वागत किया। इसीलिए तो विभीषण ने भगवान राम से जब कहा कि महाराज! आप समुद्र के किनारे बैठकर प्रार्थना कीजिए, तो विभीषणजी का यह विश्वास था कि जब समुद्र ने भगवान के भक्त का इतना स्वागत किया, तो भगवान का तो करेगा ही। यद्यपि यह अनुभव कुछ समय के लिए उल्टा लगा।

हनुमानजी का स्वागत तो समुद्र ने बड़े उत्साह से किया, पर जब भगवान आसन पर बैठे थे, तब वह तीन दिन तक कहीं दिखाई नहीं दिया। यह तो एक अलग विषय है, पर इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि जड़ और चेतन का यह बहिरंग विभाजन केवल स्थूल व्यवहार की दृष्टि से किया गया है, आध्यात्मिक दृष्टि से तो चैतन्य तत्त्व के पूर्ण बोध की अवस्था में वे सभी चैतन्य दिखाई देने लगते हैं। उस चैतन्य भावना से जिन्हें हम जड़ पदार्थ कहते हैं, वे भी चैतन्य हो उठते हैं।

ऐसी स्थिति में अंगद ने जब मुकुट फेंके, तो साधारण दृष्टि से तो वे मुकुट सोने, हीरे, मोती के बने हुए हैं, जिन्हें हम जड़ कहते हैं।

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि जो लोग चेतन होकर भी भगवान से दूर जाते दिखाई दे रहे हैं, वे कौन हैं? वे जड़ जीव तो अपनी आत्मा की हत्या करने वाले हैं—

ते जड़ जीव निजात्मक घाती। ७/५२/६

जो जड़ होकर भी चैतन्य की तरह भगवान के शरणागत हैं। वे धन्य हो जाते हैं। मानो भगवान कहते हैं कि मुकुटों को अंगद ने प्रेरणा दी और उनकी प्रेरणा पाकर, स्पर्श पाकर ये मुकुट चैतन्य हो गये। अंगद ने प्रेरणा देकर इन मुकुटों को मेरी ओर भेजा है। उस समय वहाँ पर बड़ा विलक्षण दृश्य हुआ। उस दृश्य से अंगद और श्री हनुमानजी के भावनात्मक तादात्म्य का परिचय मिलता है। अंगद ने जो मुकुट फेंके, वे नीचे गिर तो पड़ते, परन्तु ज्योंही प्रभु ने कहा—ये तो रावण के मुकुट हैं, जो बालिपुत्र की प्रेरणा से आ रहे हैं—

ए किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालितनय के प्रेरे।। ६/३१/१०

सुनते ही हनुमानजी उछल पड़े। हनुमानजी की भावना क्या थी? जो भगवान के पास आ रहा है, उसे तो गिरना ही नहीं चाहिए। हनुमान जी ने उछलकर उन्हें बीच में ही पकड़ लिया। इसका अभिप्राय यह है कि एक सन्त ने प्रेरणा दिया और दूसरे सन्त ने सद्गुरु के रूप में उन्हें अपना लिया, अपने हाथों में ले लिया और प्रभु के चरणों मे रख दिया।

अंगद ने मुकुटों को फेंक दिया? अंगद से किसी ने पूछा कि–आप तो युवराज हैं, सिंहासन पर बैठने के लिए वे मुकुट रख क्यों नहीं लिए? इस पर अंगद बोले कि जब मैंने देख लिया कि यह मुकुट रावण के सिर पर नहीं टिका, तो और किसी के सिर पर भी क्या टिकेगा? यह मुकुट टिकने वाली वस्तु नहीं है। इसलिए इसे तो भगवान के चरणों में ही अर्पित कर देना चाहिए। वस्तुतः अंगद का उद्देश्य यह था कि इन मुकुटों का भी कल्याण हो।

अपने राजपद का चिह्न मानकर मुकुट धारण करना एक बात है और सत्ता के पद को भगवान के पद से जोड़ देना, यह दूसरी मनोवृत्ति है। अंगद ने मानो यही संकेत किया कि सत्ता जब तक संसार में केवल प्रदर्शन की वस्तु है, जब तक वह ईश्वर से दूर है, तब तक वह चल ही रहेगी। उसमें अचलता तभी आएगी, जब हम उसे ईश्वर के चरणों में अर्पित कर दें। ऐसी स्थिति में वह मुकुट जो अब तक केवल प्रदर्शन की वस्तु थी, वह भगवान के चरणों से जुड़कर धन्य हो जाती है। इस प्रकार जहाँ रावण में छीना-झपटी की वृत्ति है, वहीं अंगद में समर्पण की वृत्ति है।

समाज में दोनों प्रकार के लोग होते हैं। कुछ लोग निरन्तर सत्ता की छीना-झपटी में विश्वास करते हैं और दूसरी ओर अंगद की यह दृष्टि है कि वस्तुतः व्यक्ति को सेवक बनकर कार्य चलाना चाहिए, स्वामी बन कर नहीं। अंगद युवराज के रूप में राज्य चलाते हैं, पर कभी भी स्वयं को स्वामी मानकर नहीं; सेवक मानकर ही वे अपना कर्तव्य निभाते हैं।

अंगद ने स्वयं रावण को भी संकेत दे दिया कि तुम जिसे अचल मानते हो, वह अचल नहीं है, देख लो, वह कितना चल है। रावण

के मुकुट को उन्होंने प्रभु के चरणों की ओर प्रेरित कर दिया और हनुमानजी ने उन्हें प्रभु के चरणों में पहुँचा दिया। अंगद की भावना कितनी सुन्दर थी। जब अंगद लौटकर आए, तो प्रभु ने पूछ दिया–कि अंगद! बड़ा आश्चर्य है, तुमने इतना अद्‌भुत कार्य कैसे किया? रावण के सिर से तुमने मुकुट उतार लिए। और फिर उतारे तो चार ही क्यों उतारे, उसके तो दस सिर थे? अंगद ने कहा, नहीं महाराज, उतारे तो पूरे दस थे, पर बँटवारा हो गया। कैसे? बोले हर व्यक्ति में अच्छाई और बुराई होती है। रावण में छह बुराइयाँ थीं, जो उसके पास वापस चली गईं और राजा में जो राजनीति के चार गुण होने चाहिए, वे साम, दाम, दण्ड और भेद उसका त्याग कर आपके चरणों में आ गये, क्योंकि रावण इन चारों का दुरुपयोग ही करता था–

मुकुट न होहिं भूप गुन चारी।
साम दान अरु दण्ड बिभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।।
नीति धर्म के चरन सुहाए। ६/३७/८-१०

वही चैतन्य की भावना। अंगद ने कहा–प्रभो! मैंने नहीं भेजे। इसका अभिप्राय क्या है? भले ही सन्त प्रेरणा देकर ईश्वर की दिशा में जाने के लिए कहें, पर वे स्वयं को उद्धारक मान लें तो उनमें गर्व आए बिना नहीं रहेगा। अंगद ने कहा कि महाराज! ऐसी बात नहीं कि उन्हें मैंने आपके पास पहुँचा दिया हो। उसमें मेरा कोई प्रयत्न नहीं था। ये गुण तो स्वयं ही रावण को छोड़ने के लिए इतने व्यग्र थे कि वे स्वयं ही उसका परित्याग करके आपके पास चले आए।

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह था कि राजा में राजनीति के ये चार गुण होने चाहिए। लेकिन राजनीति के चार गुणों का तात्पर्य क्या है? समाज में अलग-अलग प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों से काम लेने के लिए भिन्न-भिन्न नीतियों का प्रयोग होना चाहिए। कुछ लोग बुद्धिमान होते हैं, जो समझाने पर समझ जाते हैं। उन्हें साम-नीति से प्रेरणा देनी चाहिए। कुछ लोग स्वभाव से ही लोभी होते हैं। उन्हें दाम नीति के द्वारा प्रलोभन देकर सही दिशा में ले जाने की चेष्टा की जानी चाहिए। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो बिना

दण्ड के अच्छा काम या सदाचरण नहीं करते। ऐसे लोगों के प्रति दण्ड का व्यवहार करना चाहिए। और कुछ लोग स्वयं तो उतने बुरे नहीं होते, पर बुरे लोगों के साथ हो जाने पर समूह रूप में वे समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होते हैं। वे आपस में मिल न पायें, इसके लिए राजा को भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए। रावण ने चारों नीतियों का प्रयोग किया, पर उसका दुर्भाग्य यह था कि उसे जहाँ पर जिस नीति का प्रयोग करना चाहिए, वहाँ पर न करके, जो नहीं करना चाहिए था, उसका प्रयोग किया।

अंगद के चरण को गोस्वामीजी ने कई सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है। यहाँ पर तीन प्रकार से उसकी व्याख्या की गयी है—ज्ञान के सन्दर्भ में, भक्ति के सन्दर्भ में और धर्म के सन्दर्भ में। धर्म के सन्दर्भ में उन्होंने दोहावली रामायण में कहा—

भूमि रुचिर रावन सभा अंगद पद महिपाल।
धरम राम नय सील बल अचल होत सुभ काल।। ५१६

यह पृथ्वी ही मानो रावण की सभा है और राजसत्ता ही अंगद का पद है। सीता मूर्तिमती नीति हैं और राम मूर्तिमान धर्म। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब किसी राजा को धर्म और नीति दोनों का संयुक्त बल प्राप्त हो जाता है, तो उसका पद अचल हो जाता है।

सीताजी को गोस्वामीजी ने शान्ति के, भक्ति के और दोहावली में नीति के रूप में भी प्रस्तुत किया है।

अब यहाँ दो पात्र हैं—सूर्पणखा और श्री सीताजी। सूर्पणखा लंका की नीति की प्रतीक है और सीताजी अयोध्या की। सूर्पणखा का वर्णन इसी रूप में किया गया है। सूर्पणखा लंका का प्रतिनिधित्व करती है। वह दोनों राजकुमारों को—श्रीराम और लक्ष्मण को देखकर व्याकुल हो गयी—

देखि बिकल भइ जुगल कुमारा। ३/१६/४

वह नकली मुस्कुराहट, नकली आचरण के द्वारा श्रीराम को अपनी ओर आकृष्ट करके वासना की दिशा में प्रेरित करने की चेष्टा करती है और श्रीराम से विवाह का प्रस्ताव रखती है। यहाँ पर भगवान राम के व्यवहार में भिन्नता दिखाई पड़ती है। उन्होंने सूर्पणखा के प्रस्ताव

को स्वीकार नहीं किया।

इस सन्दर्भ में मुझे एक ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति की याद आती है, जिन्होंने अपने एक लेख में लिख दिया कि श्रीराम को राजनीति का ज्ञान नहीं था, क्योंकि यदि वे एक अच्छे राजनीतिज्ञ होते तो सूर्पणखा से विवाह कर लेते। इसमें दो राष्ट्रों का भारत और लंका के बीच एक महान सम्बन्ध स्थापित हो जाता। यह कैसी विचित्र बात है? मुझे यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस भले मानुष को यह पता नहीं कि जिसके साथ सूर्पणखा का विवाह हुआ, उसका सिर तो स्वयं रावण ने ही काट लिया था। विवाह हो जाने से दो राष्ट्रों की बात तो दूर, रावण ने तो सूर्पणखा के पति के ही सिर को काटने में संकोच नहीं किया। अब ऐसे लोग, जो श्रीराम में राजनीति न देखकर रावण में ही राजनीति देखते हैं, उन पर मैं अधिक आश्चर्य नहीं करता। वस्तुतः दृष्टि ही इतनी बदली हुई है।

श्रीराम की नीति तो सीताजी हैं। इसलिए सूर्पणखा जब विवाह का प्रस्ताव करती है, तब भगवान राघवेन्द्र—**सीतहि चितई**। मुस्कुराकर सीताजी की ओर देखते हैं। लंका की राजनीति का उत्तर भगवान श्रीराघवेन्द्र के सामने हैं। अयोध्या की, मिथिला की नीतिरूपा सीताजी भगवान के सामने हैं, श्रीराम की दृष्टि उन्हीं में निबद्ध हैं। भगवान राम ने सूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजा, लक्ष्मणजी ने भगवान राम के पास भेजा। दोनों ओर से उसे उपेक्षा मिल रही है। तब सूर्पणखा—"रूप भयंकर प्रगटत भई" अर्थात् अपने भयानक रूप में प्रगट हो गयी। इसका अभिप्राय यह है कि राजनीति का यह रूप पहले तो अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए कृत्रिम उपायों का आश्रय लेता है और उसमें सफलता न मिलने के बाद में उसे अत्यन्त वीभत्स और भयानक बनाने में भी संकोच नहीं होता। सूर्पणखा अपना भयानक रूप प्रकट करती है और सीताजी को खा जाने के लिए आगे बढ़ती है। नीतिशतक में भर्तृहरिजी कहते हैं कि राजनीति वेश्या की भाँति अनेक रूपों वाली होती है-

वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा। (४७)

लंका की राजनीति ऐसी ही है। सूर्पणखा की ऐसी ही वृत्ति है।

राजकुमारों को देखकर मुग्ध हो जाना, दोनों में से कोई भी मुग्ध हो जाए, इसके लिए प्रयत्न करना और अन्त में अत्यन्त उग्र व वीभत्स रूप में प्रकट हो जाना। सीताजी बड़ी भयभीत दिखने लगीं, स्तम्भित हो गयीं। श्रीराम के समक्ष सूर्पणखा की विकृति प्रकट हो जाने पर वे लक्ष्मणजी को संकेत करते हैं–

सीतहि सभय देखि रघुराई।
कहा अनुज सन सयन बुझाई।। ३/१६/२०

लक्ष्मणजी उनका संकेत समझकर उसे तत्काल नाक-कान से रहित कर देते हैं–

लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि।। ३/१७

यह सूर्पणखा पर नहीं, वरन् रावण की राजनीति पर प्रहार था, रावण की राजनीति का विरूपीकरण था। भगवान राम का मुख्य उद्देश्य था रावण को चुनौती देना। श्रीराम मानो लक्ष्मण के माध्यम से रावण को चुनौती देते हैं। भगवान की राजनीति का जो श्रीगणेश हुआ, वह यहीं से हुआ। भगवान श्रीराघवेन्द्र सूर्पणखा के प्रति दण्डनीति का प्रयोग करते हैं।

यहाँ पर सूर्पणखा के सन्दर्भ में गोस्वामीजी का संकेत बड़ा समझने योग्य है। जैसे शरीर के सभी अंगों की रक्षा करने तथा उन्हें बचाने की आप चेष्टा करें, यह तो ठीक है, लेकिन शरीर में कुछ अंग ऐसे भी हैं, जो हैं तो शरीर के ही अंग, पर जिन्हें हमें काटना पड़ता है, जैसे कि नाखून। हम यह ध्यान रखते हैं कि कहीं अँगुली न कट जाए। बुद्धिमानी इसी में हैं। अँगुली बची रहे, पर नाखून जरूर कटते रहें। सूर्पणखा के इस नाम का अर्थ ही यह है कि जिसके नाखून सूप के समान बड़े-बड़े हों। तात्पर्य यह कि सूर्पणखा ने कभी नाखून कटवाए ही नहीं, इसे स्थूल अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि मन की वासनाएँ नाखूनों की तरह हैं। अँगुली बची रहे और उसमें नाखून भी अपनी सीमा में रहें, जहाँ तक नाखून को बचाए रखना पड़ता है, वहाँ तक वह उपयोगी भी है, पर उस सीमा से आगे बढ़ने वाला नाखून बड़ा विषैला और दुखदाई है।

इसका तात्पर्य यह है कि जीवन में व्यवहार में, जितनी वासना की आवश्यकता है, उस सीमा तक उसे स्वीकार कर लेना बिल्कुल ठीक है, व्यावहारिक है, पर वासना जब व्यावहारिक मर्यादा की रेखा पार कर जाए, तब उस वासना के नाखून का काटना ही उचित है। इसका अर्थ है कि मन में जब वासना का अतिरेक हो जाए, तब उसे जरूर काटिए। तब यह संकोच बिल्कुल न करें कि यह भी तो मेरी उँगली का ही एक अंश है। लेकिन रावण और सूर्पणखा वासना को काटने में विश्वास नहीं करते। वे वासना को मनमानी छूट देते हैं। सूर्पणखा के नाक-कान काटने के पीछे अभिप्राय क्या है? यही कि जो नाखून नहीं काटते, ऐसे न जाने कितने ही लोगों के नाक-कान रोज कटते रहते हैं, वासना के कारण। नाक-कान केवल त्रेतायुग में ही नहीं कटे, केवल सूर्पणखा के नहीं कटे, आज भी तो, जो कोई भी वासनाओं को मनमानी छूट देता है, उसका मान-सम्मान क्या बचता है? यही तो नाक-कान का कटना है। निन्दा अर्थात् कान का कट जाना। निन्दा होने लगी तो कान कट गया। मुँह दिखाने योग्य नहीं रह गए तो नाक कट गयी। वासना के अनियंत्रित तथा उच्छृंखल प्रयोग के लिए भगवान लक्ष्मणजी को आदेश देते हैं कि इसको मारना मत, केवल इसके नाक-कान काट देना। भगवान का अभिप्राय यह है कि वासना जब अनियंत्रित रूप में आए, तो उसके लिए दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए। यही भगवान राघवेन्द्र की राजनीति है।

रावण की राजनीति क्या है? उसका तो बड़ा विचित्र जीवन दर्शन है, भगवान राम से बिल्कुल उल्टा। सूर्पणखा ने पहले तो भगवान राम से लड़ने के लिए खर-दूषण को प्रेरित किया, परन्तु जब वे मारे गए तो वह रावण के पास पहुँची। अच्छे-भले लोगों ने प्रेम से, आदर से, सम्मानपूर्वक रावण को समझाया, लेकिन रावण ने किसी को लात मारा, किसी को सभा से निकाला, पर उसे सूर्पणखा ने जितना फटकारा, उतना किसी ने भी नहीं फटकारा। पर बड़ी विचित्र बात है कि रावण यदि किसी को महत्त्व देता है, तो वह है सूर्पणखा। वहाँ तो लगता है और कई लोग कहते हैं कि रावण कितना सहिष्णु था। वासना के प्रति सहिष्णुता का भाव होना वासनायुक्त व्यक्ति का स्वभाव है। सूर्पणखा

रावण को फटकार रही है। और आक्षेप भी कैसा?–

करसि पान सोवसि दिनु राती।

सुधि नहिं तब सिर पर आराती।। ३/२०/७

"तू शराब पीकर रात-दिन सोता रहता है और मैं तेरी सुरक्षा के लिए इतनी सजग हूँ। अतः देख, मेरी कैसी दुर्दशा हुई है। मेरी यह दुर्दशा इसलिए हुई कि मैं चैतन्य हूँ। राजनीति का यह लक्षण है कि उसे सदा सावधान रहना चाहिए। तू भले ही सो गया, पर मैं नहीं सोई थी। मैं गई थी और पता लगा रही थी कि कोई शत्रु लंका के लिए कठिन स्थिति उत्पन्न करने वाला तो नहीं है? वहाँ जाकर सचमुच मैंने देखा और उनको नियंत्रित करने की चेष्टा की। इसी के चलते बड़े भाई का संकेत पाकर छोटे भाई ने मेरे नाक-कान काट लिए।

इस तरह से सूर्पणखा जब रावण को फटकारती है, तो रावण को लगता है कि सामनीति का यदि कोई सबसे उपयुक्त पात्र है, तो वह सूर्पणखा ही है। रावण सूर्पणखा को बड़े प्रेम से समझाने की चेष्टा करता है। हो गयी न उल्टी बात। श्रीराम ने जहाँ पर सूर्पणखा को दण्ड का पात्र समझा, उसके लिए दण्ड का प्रयोग किया, वहाँ रावण उसे बड़े सम्मानपूर्वक समझा रहा है। सज्जनों को चाहिए सामनीति और दुर्जनों को चाहिए दण्डनीति। सज्जन विभीषण थे, उनको तो रावण ने लात से मारा और अनियंत्रित सूर्पणखा को बड़े सम्मानपूर्वक समझा रहा है कि तुम घबराओ नहीं, तुम्हारे सम्मान की रक्षा मैं करूँगा। इस तरह रावण राजनीति का दुरुपयोग करता है। नीति वही है, पर उस नीति का प्रयोग हम किस उद्देश्य से कर रहे हैं। यदि सामनीति का प्रयोग बुरे लोगों के प्रति किया जाएगा, तो बुरे व्यक्ति को उससे प्रोत्साहन ही मिलेगा, उन्हें बुराई करने की प्रेरणा भी मिलेगी। इसी प्रकार सूर्पणखा की प्रेरणा के पीछे चलने वाले खर-दूषण का विनाश हो गया, लंका का विनाश हो गया। इसका अभिप्राय यह है कि लंका की राजनीति के पीछे जो व्यक्ति चलेगा, अन्ततोगत्वा उसका विनाश ही होगा। रावण के जीवन में नीति यही है कि सूर्पणखा के लिए वह साम का प्रयोग कर रहा है और दाम का प्रयोग किसके लिए कर रहा है? रावण जब सीताजी को लंका में ले आया तो उसने अपनी सभी रानियों से कहा

कि तुम लोगों के पास जितने भी मूल्यवान वस्त्र-आभूषण हैं, वह सब पहन लो और मेरे साथ अशोकवाटिका में चलो। उसके मन में क्या भावना थी? यही कि जब सीताजी लंका का ऐश्वर्य–इतने मूल्यवान रत्न-आभूषण और इतनी रानियाँ देखेंगी, तो मेरी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सकेंगी–

तेहि अवसर रावनु तहँ आवा।

संग नारि बहु किए बनावा।। ५/८/२

रावण श्री सीताजी को आकृष्ट करने की चेष्टा करता है और कहता है, यदि तुमने एक महीने के भीतर मेरा कहना न माना, तो मैं तलवार निकालकर तुम्हें मार डालूँगा–

मास दिवस महुँ कहा न माना।

तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना।। ५/९/६

रावण की यह चेष्टा दोनों दृष्टियों से व्यर्थ है। सीताजी महालक्ष्मी हैं, तो उनको लोभ दिखाना और वे महाशक्ति हैं, तो भय दिखाना, ये कैसी व्यर्थ की चेष्टाएँ हैं? पर रावण सीताजी के साथ दोनों ही तरह का व्यवहार करता है, प्रलोभन भी दिखाता है और भय भी। कहता है कि मन्दोदरी आदि समस्त रानियों को मैं तुम्हारी सेविका बना दूँगा–

मन्दोदरी आदि सब रानी।

तव अनुचरी करउँ पन मोरा। ५/८/४-५

इस प्रकार रावण सूर्पणखा के लिए सामनीति का, सीताजी के लिए दामनीति का और विभीषण के लिए दण्डनीति का प्रयोग करता है।

भगवान श्रीराम ने अंगद से पूछा कि इन मुकुटों ने आने में देर क्यों की? अंगद बोले–इन चारों ने सलाह कर लिया था कि जब हम चारों का दुरुपयोग होगा, तो हम साथ चलेंगे। रावण ने पहले साम का दुरुपयोग किया, फिर दाम का, फिर दण्ड का और अन्ततः बचा हुआ था भेद। उसके द्वारा उसने मुझमें ओर आप में भेद उत्पन्न करने की चेष्टा की, जीव को ईश्वर से अलग करने की चेष्टा की। तब इन चारों नीतियों ने निर्णय किया कि अब यहाँ से चल देना चाहिए, अतः

महाराज ये चारों मुकुट ही नहीं, राजनीति के चार गुण हैं, जो रावण को छोड़कर आपके चरणों में आ गए हैं। इन्होंने समझ लिया कि रावण धर्महीन और प्रभु के चरणों से विमुख हो गया है, अतः वे उसका परित्याग करके आपके पास चले गए हैं–

धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल बिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस।। ६/३८

इस प्रकार अंगद ने उस सन्दर्भ में रावण को समर्पण का संकेत किया। अंगद में समर्पण की वृत्ति है। उनमें इतना पौरुष और पराक्रम है कि जमीन पर मुक्का मारने से रावण का सिंहासन हिल गया, रावण मुँह के बल गिर पड़ा और अंगद ने उसके मुकुट छीन लिए, पर इतना होते हुए भी उनमें इतनी निराभिमानिता है कि वे इसे अपना पौरुष या पराक्रम नहीं मानते। इसमें उन्हें प्रभु का ही बल दिखाई देता है। उनके अन्तःकरण में जरा भी आत्मश्लाघा नहीं है। यह बोध उन्हें कैसे हुआ? गोस्वामीजी कहते हैं कि अंगद की चतुराई भरी बातें सुनकर उदार रामचन्द्र हँसने लगे–

परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे रामु उदार। ६/३८/ख

तो फिर चतुराई होनी चाहिए या नहीं? रामायण में दोनों तरह की बात मिलेगी। एक प्रसंग में तो लिखा गया–मन, वचन तथा कर्म से चतुराई छोड़कर भजन करने पर ही रघुनाथजी की कृपा होगी–

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई।
भजत कृपा करिहहिं रघुराई।। १/१९९/६

अतः चतुराई का त्याग कर दो। पर कई प्रसंगों में और यहाँ अंगद के प्रसंग में है कि अंगद की चतुराई देख भगवान प्रसन्न हो गए। इसी प्रकार जब सुतीक्ष्णजी से प्रभु की बातें हुई और सुतीक्ष्ण जो भगवान से बड़ी अनोखी पद्धति से बोले, तो मुनि की चतुराई देखकर कृपामूर्ति प्रभु ने उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई हँस पड़े–

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई।
लिए संग बिहसे द्वौ भाई।। ३/११/४

तो रामायण में चतुराई का क्या अर्थ है? चतुराई का एक अर्थ तो वह है जो समाज में प्रचलित है। वह चतुराई यहाँ अभीष्ट

नहीं है। उस चतुराई को तो छोड़ना पड़ेगा। गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया–कि कलियुग में सबसे चतुर और सबसे सयाना कौन माना जाता है? वही व्यक्ति जो चतुराई से, छल-कपट से, दूसरों के धन को अधिक से अधिक हर ले। हम कहते हैं कि वह बड़ा बुद्धिमान है, बड़ा चतुर है और जो अपने जीवन में जितना दम्भ कर सके, प्रदर्शन कर सके, वही सबसे बड़ा धर्म का आचरण करनेवाला माना जाता है–

सोई सयान जो परधन हारी।
जो कर दम्भ सो बड़ आचारी।। ७/९७/५

तो जिस चतुराई से, छल-कपट से, होशियारी से दूसरों का धन छीनकर, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की चेष्टा की जाती है, वह चतुराई तो त्याज्य है। पर अंगद वाली चतुराई? वह तो बड़ी सार्थक है। बुद्धि की इससे बढ़कर सार्थकता क्या होगी? वैसी ही सुतीक्ष्ण जी की चतुराई भी है। गोस्वामीजी ने कहा कि ये तो बड़े चतुर निकले। अंगद चतुर इसलिए हैं कि उनमें भगवान के चरणों के प्रति समर्पण हैं, उनमें कर्तृत्व की स्वीकृति नहीं है। उनमें 'मैंने किया' यह वृत्ति नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि विवेक का सच्चा फल तो तब है, जब व्यक्ति के जीवन में कर्तृत्व का अभाव आ जाए, कर्तृत्व अभिमान की वृत्ति मिट जाए और जो कुछ है उसको भगवान के चरणों में समर्पित करने की वृत्ति आ जाए। चतुराई का, बुद्धि का इससे बढ़कर और कोई सदुपयोग नहीं है।

सुतीक्ष्ण ही चतुर क्यों है? भगवान ने उनसे कह दिया–मुनिजी, मैं बड़ा प्रसन्न हूँ, जो माँगना हो माँग लीजिए–

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही।
जो बर मागहु देउँ सो तोही।। ३/१०/२३

तब मुनिजी क्या बोले? उनकी चतुराई शुरू हो गई। बोले, महाराज! मैंने तो अब तक कभी वरदान माँगा ही नहीं। मुझे पता नहीं कि क्या सच है, क्या झूठ? तो क्या कुछ नहीं लोगे? बोले, महाराज! जब आप देने को इतने उत्सुक हैं, तो यही कहूँगा कि आपको जो अच्छा लगे, वही दे दीजिए–

तुम्हहि नीक लागै रघुराई।
सो मोहि देहु दास सुखदाई।। ३/१०/२५

वे तुरन्त बोले कि महाराज, आपने जो दिया, वह तो मिल गया और अब आप मुझे वह दीजिए, जो मुझे प्रिय है—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा।
अब सो देहु मोहि जो भावा।। ३/१०/२७

प्रभु बोले अभी तो आप कह रहे थे कि आपको माँगना नहीं आता, अब कैसे माँग रहे हैं? बोले, बात यह है कि पहले तो मैं बुद्धिहीन था, परन्तु अब तो आपने विज्ञान दे दिया है। अब बुद्धि आ गयी है तो उसका सदुपयोग तो कर ही लेना चाहिए। इसलिए अब आपसे यह प्रार्थना है कि—

तदपि अनुज श्री सहित खरारी।
बसतु मनसि मम कानन चारी।। ३/१०/१८

माँगा भी तो एक साथ ही तीन वर माँग लिया। बोले, आप जो वनवासी प्रभु हैं, उसी रूप में मेरे हृदय में निवास कीजिए। फिर थोड़ी देर रुककर बोले, महाराज! जो अध्योया के राजा राम हैं, वे मेरे हृदय को अपना घर बनाएँ। फिर रुक गए। क्यों? उन्होंने कहा कि जो वनवासी प्रभु हैं वे मेरे हृदय में रहें। तो जो वनवासी प्रभु हैं, वे तो वन में रहेंगे, इसलिए मुनिजी का जो निमंत्रण था वह यह कि मेरा मन तो वन है और आप वनवासी हैं, अतः आइए, मेरे इस मन के वन में निवास कीजिए। पर बाद में डर गए कि मैंने वनवासी को वन में बुलाया है, तो जब वे वन से अयोध्या चले जाएँगे, क्योंकि वे अयोध्या के राजा हैं, तब मैं वन में क्यों रहूँगा? तो तत्काल कह दिया—कोई बात नहीं, जब आप वन से राजमहल में जाएँगे, तो हम अपने हृदय में राजमहल बना लेंगे, तब हम आपको वन में नहीं रखेंगे—

जो कोसलपति राजिव नयना।
करउ सो राम हृदय मम अयना।। ३/१०/२०

अयोध्या में भी तो भगवान राम ग्यारह या तेरह हजार वर्ष रहेंगे, उसके बाद मेरे हृदय-अयोध्या से निकलकर चले न जाएँ, इसलिए थोड़ी देर रुककर वे फिर बोले कि महाराज! अभी और बाकी है। अब क्या बाकी है? बोले—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम।। ३/११

बोले, जैसे चन्द्रमा आकाश में उदित रहता है, वैसे ही आप मेरे हृदय-आकाश में सदा रहिए। यह दूसरा प्रस्ताव, मानो ईश्वर सदा पास रहे, कभी दूर न हो, चाहे जो भी स्थिति हो, अपने अन्तःकरण को उसी रूप में परिणत कर ईश्वर को सदा अपने हृदय में रखने की कामना है।

इसके बाद प्रभु ने पूछा कि आपकी माँग पूरी हो गयी? सब मिल गया न? हाँ, महाराज, मुझे सब मिल गया। तब प्रभु ने कहा कि अब मैं महर्षि अगस्त्य का दर्शन करने के लिए उनके पास जाऊँगा। तब सुतीक्ष्ण जी बोले कि महाराज! मैं भी साथ चलूँ? क्यों, आप क्यों जाना चाहते हैं? बोले महाराज, मुझे तो गुरुजी के पास जाना ही था, अब संयोग से आप भी जा रहे हैं तो क्यों न आपके साथ ही चलूँ—

अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं।
तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं।। ३/११/३

गोस्वामीजी ने कहा—मुनि की चतुराई देखकर कृपामूर्ति प्रभु ने उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई हँस पड़े—

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई।
लिए संग बिहसे द्वौ भाई।। ३/११/४

हर रूप में भगवान को पकड़े रहने की यह एक अद्भुत शैली है, एक अद्भुत चेष्टा है। यह जो सबसे बड़ी चतुराई और बुद्धिमत्ता सुतीक्ष्ण जी के जीवन में दिखाई देती है, वही चतुराई अंगद के जीवन में भी दिखलाई देती है। अंगद ने इसी चतुराई से ईश्वर के चरणों में अपने अहंकार और स्वयं अपने आप को समर्पण करने में सफलता पाई।

अंगद ने दो कार्य किये, एक तो उन्होंने जमीन पर मुक्का मारकर रावण को उसके सिंहासन से मुँह के बल नीचे गिरा दिया और दूसरा रावण की सभा में अपना पैर रोप दिया। इन दोनों में बड़ा सुन्दर संकेत है। मुक्का मारकर रावण को मुँह के बल नीचे गिरा दिया, इसका अर्थ क्या है? अंगद को याद आ गयी अरे, 'मेरी भुजाएँ क्या ऐसी-वैसी भुजाएँ हैं? ये तो वही भुजाएँ हैं, जिन्हें मेरे पिता ने अन्तिम क्षणों में

प्रभु के हाथों में पकड़ाया था और उन्होंने पकड़ लिया था। जिन भुजाओं को प्रभु ने पकड़ लिया है, उन भुजाओं में तो प्रभु का ही बल है। रावण को मैं बता देना चाहता हूँ कि इस बन्दर की भुजाओं के पीछे जो भगवान का बल है, उसे तुम पहचानने की कोशिश करो समझने की चेष्टा करो। यह तो ईश्वर का बल है। और जो रावण की सभा में पैर रोप दिया, उसमें हैं सन्त की वाणी में विश्वास। हनुमानजी ने कहा था कि प्रभु चरणों को हृदय में धारण करने पर अचलता आ जाती है–

राम चरन पंकज उर धरहू।

लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२२/१

ईश्वर का बल और सन्त की वाणी में अचल विश्वास, इन दोनों की आस्था लेकर अंगद ने दो कार्य किए। अब रावण के सभासदों द्वारा अंगद का पैर हटाने की चेष्टा करना, फिर भी न डिगा पाने का अर्थ क्या है? गोस्वामीजी ने अलग-अलग सन्दर्भों में इससे अलग-अलग अर्थ लिया है। एक अर्थ तो उन्होंने इसी प्रसंग में दिया है। वे कहते हैं कि अंगद के पैर को राक्षस उसी प्रकार नहीं हिला पा रहे थे जैसे कुयोगी या विषयी लोग मोहरूपी वृक्ष को नहीं उखाड़ पाते–

पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी।

मोह बिटप नहि सकहि उपारी।। ६/३३/१४

अंगद का पैर क्या है? यह मोह बिटप है। यह प्रसंग बड़ा जटिल है। इसे भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में गोस्वामी जी ने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि अंगद का पैर मोह का वृक्ष है और रावण तथा लंका के राक्षस सभी कुयोगी हैं। जैसे कुयोगी मोह का वृक्ष नहीं उखाड़ सकता वैसे ही ये राक्षस अंगद के पैर को हटाने में समर्थ नहीं हुए। इस पंक्ति के तात्पर्य पर विचार कीजिए। रामायण में सबसे महान योगी–ज्ञानयोगी या कर्मयोगी महाराज जनक हैं। उनके योग की सबसे बड़ी सफलता क्या है? श्रीराम और सीताजी को मिला देना। अब गोस्वामीजी उसे एक दूसरे रूप में यों कहते हैं। योग के ग्रन्थों में कहा गया है कि व्यक्ति जब तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर चौथी तुरीय अवस्था में जाता है, तो उसका फल है–ब्रह्म-साक्षात्कार

या आत्म-साक्षात्कार। जनक भी योगी हैं। कैसे? उन्होंने पहले तो सीताजी को पाया। योग की दृष्टि से सीताजी मूर्तिमती तुरीया अवस्था हैं। गोस्वामीजी कहते हैं जिन चारों राजकुमारियों का चारों राजकुमारों के साथ विवाह हुआ, वस्तुतः वे चारों अवस्थाएँ हैं। जाग्रत्, सुषुप्ति, स्वप्न, ये तो माण्डवी, उर्मिला तथा श्रुतिकीर्ति हैं और यह चौथी तुरीयवस्था ही सीताजी हैं–

सुन्दरी सुन्दर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।

जनु जीव उर चारिउ अवस्था

बिभुन सहित बिराजहीं।। १/३२४/छं.-४

ध्यान रहे, ये बड़े सूक्ष्म संकेत हैं। ये जो तीन कन्याएँ थीं, इनका जन्म तो माताओं के गर्भ से हुआ, पर सीताजी का जन्म सुनयनाजी के गर्भ से नहीं हुआ। इसका अभिप्राय क्या है? जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का सम्बन्ध तो शरीर से है, पर शरीर से ऊपर उठे विना तुरीयावस्था में प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए सीताजी के जन्म में न तो महाराज जनक के शरीर के संस्पर्श हैं और न सुनयनाजी का। वह दिव्य तुरीय के रूप में सीताजी का एक प्राकट्य है।

इसका अभिप्राय यह है कि जनक जैसे योगी ने तुरीयावस्था को पाया और तुरीयावस्था को पाने का चरम फल यह हुआ कि श्रीराम का आगमन हुआ, ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ। योगी के योग की जो सच्ची समग्रता थी, वह जनकजी के जीवन में आयी। अब गोस्वामीजी कहते हैं कि लंका वाले भी योगी ही हैं। योग के विषय में तो आजकल बड़ी चर्चा रहती हैं, योग के छोटे-मोटे चमत्कारों की चर्चा रहती हैं, पर रावण के जीवन में तो इतनी चामत्कारिक सिद्धियाँ थीं, उनके जीवन में चमत्कारों की ऐसी अद्भुत अभिव्यक्तियाँ हुई थीं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। रावण के जीवन में ये चमत्कार कैसे आए?

इसका तो एक ही रहस्य है, मन की एकाग्रता। एकाग्रता के विना यह सिद्धि नहीं आती। रावण में यह क्षमता थी कि वह मन को अधिक से अधिक एकाग्र कर सकता था। इसलिए रावण के बारे में कहते हैं कि जब वह जिसका संकल्प करता था, तब उसका वही रूप हो जाता था। यह योग का ही चमत्कार है, पर महत्त्व चमत्कार का नहीं,

उद्देश्य का होता है। तात्पर्य यह कि यदि कोई यह मानकर योगाभ्यास करे कि शरीर स्वस्थ रहे, यहाँ तक तो ठीक है, पर इससे आगे बढ़कर कोई यह सोचे कि योग से शक्ति मिले और उससे हम अधिक से अधिक भोग करें, तो यह बड़ा अनर्थ होगा। योग का फल यदि जीवन में भोग हो जाए, तब तो यह एक उच्चतर स्थिति से स्वयं को एक निम्न, एक अधोगामी स्थिति में डालना हो गया।

रावण के जीवन में योग का उद्देश्य अन्तःकरण की शुद्धि तो थी नहीं। वह तो अन्तःकरण की शुद्धि से बड़ा घबराता है। बड़ी प्रसिद्ध कथा है कि कुम्भकर्ण ने जब रावण से कहा कि सीताजी को जब तुम हरण करके ले ही आए हो, तो राम का रूप बना लेते, सीताजी को भ्रम हो जाता। रावण बोला, मैंने प्रयत्न तो किया तो क्या हुआ? क्या सीताजी ने तुम्हें पहचान लिया? रावण ने कहा—सीताजी के पास जाने की स्थिति ही नहीं आयी। क्यों? बोला—राम का रूप बनाने के लिए पहले राम का ध्यान तो करना ही पड़ता है। मैं एकान्त में बैठकर राम का ध्यान करने लगा। पर ज्यों-ज्यों मेरा मन राम के ध्यान में एकाग्र होता गया, त्यों-त्यों मेरा मन पवित्र होने लगा और सारे संसार की स्त्रियाँ मुझे माता दिखाई देने लगीं। मैं तो डर गया कि यदि थोड़ी देर और ध्यान करूँगा, तो कहीं मुझे अपने राज्य से ही विराग न हो जाए। इसलिए मैंने ध्यान करना छोड़ दिया—

> **आनीता भवता यदि पतिरता साध्वी धरित्री सुता**
> **स्फूर्जलद-राक्षसात् मायया न च कथम्।**
> **रामांगभंगीकृतं कस्तुश्चेत श्रीरामरूप गमनम्।**
> **दुर्वादलश्यामलं तुच्छं ब्रह्मपदं परवधूप्रसंगः कुतः॥**

अतः रावण के योग का उद्देश्य क्या है? अमर हो जाना, कभी बूढ़ा न होना, अनन्त काल तक संसार के समस्त भोगों को भोगना। और हुआ भी यही था। योग के द्वारा रावण इतनी शक्ति पा गया था कि युद्ध में भगवान राम जब उसके सिर और भुजाएँ काट देते थे, तो वे फिर निकल आती थीं। रावण किसी तरह मर ही नहीं रहा था। भगवान विभीषण से पूछते हैं कि यह मरेगा कैसे? विभीषण जी ने कहा—

> **नाभीकुंड पियूष बस जाकें।**
> **नाथ जियत रावनु बल ताकें।। ६/१०१/५**

यह तो योग की सिद्धियों का दुरुपयोग ही हुआ न। योगी तो विदेह नगर वाले हैं, जो सीता और राम को मिलाते हैं। पर रावण से बढ़कर कुयोगी कौन है जो श्रीसीता रूपी तुरीया अवस्था को श्रीराम से अलग करने की चेष्टा करता है। योग का फल है—तुरीय और ब्रह्म में एकत्व। पर जहाँ योग का उद्देश्य केवल शक्ति पाना हो और ब्रह्म को जीवन से दूर कर दिया जाए, वही लंका का दर्शन है और यह योग नहीं कुयोग है। सीताजी रूपी तुरीय को पाने के लिए ये दो स्थान या दो मार्ग हैं—एक जनकपुर और एक लंका। जनकपुर में जो शिव का धनुष है, वह मूर्तिमान समष्टि अहंकार है ओर यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं कि अंगद का जो चरण है, वह मोह है। अब दोनों के लिए अलग-अलग शब्द चुना गया। धनुष को तोड़ना है, पर अंगद के पैर को तोड़ना नहीं, उखाड़ना है।

अंगद का पैर मोह है और शिव का धनुष अहंकार। साधना और योग का चरम फल क्या है? धनुष का टूटना अर्थात् अहंकार का टूटना। इसका अभिप्राय है कि अहंकार को तोड़ना पड़ेगा और मोह तोड़ने की नहीं, उखाड़ने की वस्तु है। क्यों? इसका संकेत क्या है?जो वस्तु बाहर है, उसे आप तोड़ दीजिए। वृक्ष का मूल तो भीतर है न। वह तो तभी नष्ट होगा जब उसे जड़ से उखाड़ा जाएगा। अहंकार तो इसी जीवन में किसी न किसी कारण से होता है। पद मिला तो अहंकार हो गया, धन मिला तो अहंकार हो गया, बुद्धि मिली तो अहंकार हो गया, धन मिला तो अहंकार हो गया, बुद्धि मिली तो अहंकार हो गया। इसलिए इस अहंकार को तोड़ना है, जो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। पर मोह की विचित्रता यह है कि वह जितना बाहर दिखाई देता है, उससे अधिक भीतर होता है। वह तो पूर्व जन्मों से अभ्यास के रूप में अन्तःकरण में संचित है। अहंकार वर्तमान मे जन्म लेता है और मोह न जाने कब से व्यक्ति के अन्तःकरण में संस्कार के रूप में संचित है। इसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि शान्तिरूपा या तुरीयारूपा सीताजी तब मिलेगी, जब हम अहंकार तथा मोह पर विजय प्राप्त कर

लेगें अहंकार खण्डित हो जाए और मोह उखड़ जाए। हनुमानजी ने लंका की वाटिका के वृक्षों को उखाड़ दिया, मोह को उखाड़कर उसका ध्वंस कर दिया और सीताजी को पा लिया। जो मोह का ध्वंस कर देता है, मोह को उखाड़कर फेंक देता है, जो अहंकार को खण्डित कर देने को तैयार है, वही व्यक्ति शान्तिरूपा, तुरीयरूपा सीताजी को पाने में समर्थ है। रावण उन्हीं सीताजी को श्रीराम से अलग करके पाना चाहता है। अंगद का तात्पर्य था कि तुम तो स्वयं मोहग्रस्त हो, तुम सीताजी को कैसे पाओगे? जब तुम मोह पर विजय पा लोगे, मोह को मूल से मिटाओगे, तब तुम्हें सीताजी के रूप का ज्ञान होगा, तब तुम्हें सीताजी मिलेंगी। पर तुम्हारे लिए यह सम्भव नहीं है। गोस्वामीजी एक रूप में यह कहते हैं कि मानो यह जो मोहग्रस्त रावण है, वह शान्तिरूपा सीताजी को पाया हुआ दिखाई देते हुए भी उन्हें सही अर्थों में पाया नहीं है और न ही उन्हें पाने में समर्थ है। इसी को गोस्वामीजी भक्ति के सन्दर्भ में, धर्म के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं।

⇔

।। श्री रामः शरणं मम।।

नवम

आइए! अब कुछ समय के लिए शान्तचित्त से अंगद चरित के माध्यम से मानस में वर्णित उस प्रसंग की चर्चा करें जो पिछले आठ दिनों से आपके समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। प्रसंग चल रहा था कि अंगद रावण की सभा में पहुँचे हुए हैं और हनुमानजी का परिचय बन्दर के रूप में सुनकर वे रावण के ऊपर क्रुद्ध होकर व्यंग्य बाणों से उसे भेदना शुरू कर देते हैं। अंगद की प्रतिक्रिया तब और अधिक उग्र हो गयी, जब रावण ने भगवान श्रीराम को मनुज कहकर सम्बोधित किया।

उस क्रोध की प्रतिक्रिया यह होती है कि वे भगवान राम के प्रताप का स्मरण करके रावण की सभा में अपना पैर रोप देते हैं और उसे चुनौती देते हुए कहते हैं कि रावण! तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी सदस्य यदि मेरे पैर को हटाने में समर्थ हो जाएगा, तो मैं वचन देता हूँ कि मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जाएँगे। सारे राक्षस अंगद की इस प्रतिज्ञा को सुनकर चकित हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि यह कार्य तो बड़ा सरल है। शुरू में तो रावण स्वयं न उठकर राक्षसों को आदेश देता है–तुम लोग केवल इसके पैर को ही मत खींचो, अपितु इसे भूमि पर पटक भी दो–

पद गहि धरनि पछारहु कीसा। ६/३३/१०

रावण यह दिखाने की चेष्टा कर रहा था कि यह कार्य तो इतना सरल है कि इसे करने में हमारी सभा का कोई भी सदस्य सक्षम हो सकता है। पर वे योद्धा एक बार ही नहीं, बार-बार प्रयत्न करते हैं, पर अंगद का चरण हिला तक नहीं पाते और अन्त में जब रावण स्वयं अंगद का चरण उठाने के लिए तैयार होता है, तो अंगद उस पर

व्यंग्यपूर्वक कह देते हैं कि रावण! मेरे चरण पकड़ने से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। यदि चरण ही पकड़ना है, तो भगवान श्रीराम के चरण क्यों नहीं पकड़ लेते। रावण बड़ी लज्जा का अनुभव करता है और बिना चेष्टा किए ही लौटकर सिंहासन पर बैठ जाता है।

गोस्वाजी जी ने यह जो दृश्य प्रस्तुत किया है, बहिरंग दृष्टि से बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है, पर उन्होंने इसे तीन अलग सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है। ज्ञान के सन्दर्भ में, भक्ति के सन्दर्भ में और कर्म के सन्दर्भ में। तीनों सन्दर्भों में वे अंगद के पैर और उसके न हटने का अलग-अलग अर्थ बताते हुए अलग-अलग व्याख्या करते हैं। यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं कि अंगद की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में राक्षसों की दशा वैसी ही हुई जैसे कुयोगी व्यक्ति मोह के वृक्ष को उखाड़ने में समर्थ नहीं होता—

पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी।
मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी।। ६/३३/१४

यहाँ अंगद के पैर को मोह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि भक्ति के सन्दर्भ में उसे दूसरे रूपों में प्रस्तुत किया गया है, पर यदि ज्ञान की दृष्टि से विचार करके देखें तो सीताजी को पाने की प्रक्रिया पहले विदेहनगर में सम्पन्न होती है। वहाँ भी सीताजी को पाने के लिए अणित राजा एकत्रित हुए हैं। स्वयं रावण और बाणासुर भी उस सभा में आए, पर जहाँ अन्य राजाओं ने प्रयत्न किया, वहीं रावण उस धनुष को केवल देखता है और चुपचाप लौट जाता है। अन्य ग्रन्थों में तो यह भी लिखा है कि रावण ने अपनी वाक्चातुरी के द्वारा सीताजी को पाने की चेष्टा की। इसका अर्थ यह है कि भगवान श्रीराघवेन्द्र तो वहाँ पधारे ही हुए हैं और सीताजी से उनका मिलन तो होगा ही, पर रावण का आचरण और चरित्र हर दृष्टि से भगवान से भिन्न है।

जहाँ तक सीताजी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न का प्रश्न है, उनकी उपलब्धि का जो लक्ष्य है, वह दोनों में समान रूप से दिखाई दे रहा है। सीताजी भगवान श्रीराम की तो प्रिया ही हैं, उनकी अभिन्न शक्ति ही हैं, लेकिन रावण के मन में भी सीताजी के प्रति तीव्रतम आसक्ति है। रावण निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करता रहता है। यहाँ तक कि

लंका के युद्ध के दौरान भी रावण सीताजी की याद में डूबा हुआ रहता है, ऐसा संकेत त्रिजटा ने सीताजी से किया था। इसका तात्त्विक संकेत यह है कि रावण लंका का निवासी है और यदि इसे अध्यात्म की भाषा में कहें तो लंका है देहनगर। देहाभिमान—जहाँ जीवन का लक्ष्य केवल भोग है और शरीर को ही आत्मा मानकर उसी की पूजा हो रही है, उस नगर का नाम है लंका। और जहाँ जनकनन्दिनी सीताजी का प्राकट्य हुआ था वह है विदेहनगर। इसका अभिप्राय यह है कि चाहे कोई विदेहनगर का निवासी हो या देहनगर का, श्रीसीताजी की उपलब्धि ही सबके जीवन का लक्ष्य है। सीताजी शान्ति हैं, तो ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जो शान्ति न चाहता हो। बड़ा से बड़ा ज्ञानी भी शान्ति पाना चाहता है और घोर से घोर मोहग्रस्त व्यक्ति भी, जो निरन्तर शरीर से ही संलग्न हैं, वे भी शान्ति पाना चाहते हैं। पर उसे पाने की जो सही पद्धति है, उसे बहुत कम लोग ही जानते हैं। जनकपुर के धनुषयज्ञ में सीताजी को पाने के लिए अगणित लोग एकत्र हुए थे। पर शान्तिरूपा सीताजी सर्वप्रथम किसे मिलीं? महाराज जनक को। क्यों? उत्तर बड़ा सरल है—सीताजी यदि मूर्तिमती शान्ति हैं, तो महाराज जनक की विशेषता यह है कि वे देह से ऊपर उठे हुए हैं और आत्मतत्त्व के ज्ञाता हैं। जनकजी के जीवन की दूसरी विशेषता यह है कि वे निष्काम हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम सीताजी को पाया। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जिनके जीवन में निष्कामता है, जो देह से ऊपर उठ चुके हैं, उनके लिए शान्ति की उपलब्धि अत्यन्त सरल है। इसलिए महाराज जनक ही सबसे पहले शान्तिरूपा सीताजी को पाते हैं। पाना सभी चाहते हैं, पर उन्हें पाने की जो पद्धति है उसे न जानकर अच्छे और बुरे हर तरह के राजा वहाँ एकत्रित हुए हैं। रावण तो हर पद्धति से सीताजी को पाने की चेष्टा करता है।

ज्ञानदीपक के प्रसंग में गोस्वामीजी ने एक रूपक प्रस्तुत किया कि दीपक जल रहा है। बड़े परिश्रम से दीपक जलाया गया है। वहाँ गोस्वामीजी ने बताया है कि माया किस प्रकार उस ज्ञानदीपक को बुझाने की चेष्टा करती है। और उसे बुझाने के लिए माया अत्यन्त निकट आकर तीन प्रकार से प्रयत्न करती है कल से, बल से, और

छल से। इन तीनों पद्धतियों से वह ज्ञानदीपक को बुझाने का प्रयत्न करती है–

कल बल छल करि जाहिं समीपा।

अंचल बात बुझावहिं दीपा।। ७/११७/८

रावण के जीवन में भी सीताजी को पाने के प्रयत्न में इन्हीं तीनों का प्रयोग मिलता है। वह कला के द्वारा भी सीताजी को पाने की चेष्टा करता है, छल के द्वारा और बल के द्वारा भी प्रयास करता है। पहले तो अपने बोलने की कला के द्वारा, वाक्चातुर्य के द्वारा सीताजी को पाने का प्रयास करता है। इसका तो बड़ा व्यंग्यात्मक वर्णन आता है। रावण ने महाराज दशरथ से प्रस्ताव किया कि जनक! तुम सीताजी का विवाह मुझसे कर दो, धनुष तो मैं बाद में तोड़ दूँगा। मेरा बल तो तुम जानते ही हो, मैं कैलाश पर्वत को उठा चुका हूँ फिर इस धनुष में क्या रखा है? इसलिए तुम चिन्ता मत करो, पहले विवाह कर दो। महाराज जनक ने कहा, मैंने तो प्रतिज्ञा की है कि धनुष टूटने के बाद ही विवाह होगा। रावण ने कहा–यह तो तुम्हारी बुद्धिमत्ता नहीं है; तुम्हारी यह प्रतिज्ञा तो अविवेकपूर्ण है।–क्यों? रावण तुरन्त ज्योतिष का आश्रय लेकर बोला कि 'तुम ज्ञानी होकर ऐसी अविवेकपूर्ण बातें कह रहे हो। क्या तुमने ज्योतिष नहीं पढ़ा है? **आदौ कन्या ततो धनुः।** गणना में छठी राशि कन्या है और नवीं राशि है धनु। पहले कन्या और बाद में धनु। तो क्या तुम्हारी बुद्धि उल्टी हो गई है कि पहले धनु और बाद में कन्या की बात करते हो। इसका अभिप्राय क्या है? यदि चालाकी से ही सीताजी मिल जाएँ, तो चालाकी ही सही। रावण ने वेश बनाने की कला का भी प्रयोग किया। आगे चलकर दण्डकारण्य में जब वह साधु बनकर आता है तो छल के द्वारा सीताजी पर अधिकार करना चाहता है और अन्त में बलपूर्वक अपने रथ पर बैठकर ले जाने की चेष्टा करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि अनगिनत ऐसे व्यक्ति हैं जो सीताजी को किसी न किसी रूप में पाना तो चाहते हैं, लेकिन उन्हें पाने के लिए इन्हीं तीन पद्धतियों का प्रयोग करते है–कला का, बल का अथवा छल का, पर सीताजी को पाने का क्या सही मार्ग यही है? मन्दोदरी

ने रावण को कठोर शब्दों में कहा था कि यदि हमें कोई वस्तु बहुत प्रिय लगे तो इसका क्या यही अर्थ है कि हम उसे चुरा लें? सीताजी को पाने के लिए आपके पास मार्ग था, आप उन्हें धनुष तोड़कर भी पा सकते थे और तब समाज में कोई आपकी निन्दा भी नहीं करता, पर आप तो उन्हें चुराकर ले आए, आपने चोरी की है, उस समय धनुष तोड़कर सफलता प्राप्त करने की चेष्टा आपने क्यों नहीं की?–

तब संग्राम जितेहु किन ताही। ६/३५/११

इस पर रावण फिर वही पाण्डित्य दिखाता है, जो उसके चरित्र में पग-पग पर दिखाई देता है। मन्दोदरी के सामने भी उसने यही कहा कि तुम कैसी नासमझी की बात करती हो? मेरे लिए धनुष उठाने और तोड़ने में कोई कठिनाई थी क्या? यदि केवल धनुष उठाने की बात होती तब तो मैं धनुष उठा ही देता, पर क्या कहूँ, जनक ने कह दिया कि धनुष तोड़ना पड़ेगा और तुम तो जानती हो कि वह धनुष हमारे गुरुदेव का था। मैं तो अपने गुरुजी का इतना भक्त हूँ कि उनके धनुष को कैसे तोड़ता? इसलिए मैंने नहीं तोड़ा और लौट आया। अंगद रावण के इस जीवन के व्यंग्य से परिचित थे। इसलिए कहा कि अच्छा रावण! अब तुमसे तोड़ने के लिए नहीं केवल उठाने के लिए ही कहता हूँ। अब तुम्हारे ही नगर में एक बार फिर वही प्रतिज्ञा दुहराए देता हूँ। सीताजी को पाने के लिए तुम्हें फिर से चुनौती दे रहा हूँ और अब की बार तोड़ना नहीं केवल उठाना भर है और यह कोई गुरुजी की वस्तु भी नहीं है। जिसमें तुम्हें कोई संकोच हो। बस, मेरा पैर उठा दो। अब तो कोई समस्या नहीं है क्योंकि हमारा-तुम्हारा न तो गुरु-शिष्य का नाता है और न ही तोड़ने की कोई समस्या है।

सीताजी को पाने के मार्ग में ये दो बाधाएँ है। इन्हें पार करने के बाद ही उनकी प्राप्ति होती है। एक तो धनुष और दूसरा है अंगद का चरण। या तो धनुष को तोड़ने के बाद सीताजी प्राप्त होती हैं या अंगद के चरण उठाने के बाद। दोनों ही प्रसंगों में एक-एक अनिवार्य शर्त है। और वे दोनों शर्तें या बाधाएँ हैं–अहंकार और मोह। कुछ लोगों की मान्यता है कि मनुष्य का सबसे प्रबल शत्रु अहंकार है और कुछ की मान्यता है कि मोह सबसे बड़ा शत्रु है। यह साधना-पद्धति

पर निर्भर करता है कि कौन सबसे प्रबल शत्रु है। ज्ञान की पद्धति में मोह सबसे बड़ी बाधा है और भक्ति के मार्ग में अभिमान।

जीव के बन्धन में फँसे होने का कारण यह है—मानो कोई व्यक्ति अँधेरे में बैठा हुआ हो और उसे उलझी हुई रस्सी को सुलझाने के लिए कह दिया जाए। तो वह जितनी ही उसे सुलझाने की चेष्टा करेगा, उतनी ही वह और भी उलझती चली जाएगी। इसी प्रकार जीव की समस्या यह है कि वह अँधेरे में बैठा हुआ है और वह ऐसी ग्रन्थि को सुलझाने की चेष्टा कर रहा है, जो बड़ी विचित्र पद्धति से उलझ गयी है। ग्रन्थि कौन-सी है? गोस्वामीजी के अनुसार यह ग्रन्थि मूलतः जड़ है, जहाँ चेतना जड़ से बँध गई है और यह अँधेरा? इसके लिए कागभुशुण्डिजी ज्ञानदीपक प्रसंग में एक सूत्र देते हैं कि जीव के हृदय में मोहरूपी सघन अन्धकार फैला हुआ है और जब उसमें ग्रन्थि ही नहीं दिखाई दे रही है, तो फिर उसे भला सुलझाया कैसे जा सकता है—

जीव हृदय तम मोह बिसेषी।
ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।। ७/११६/७

और दूसरे प्रसंग में यह भी कहा गया है कि—ऐसे कौन-कौन हैं, जिन्हें मोह ने अन्धा न किया हो—

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। ७/६६/७

बड़ी विचित्र बात है। यदि अन्धकार हो तो भी गाँठ खुलने में कठिनाई है और कहीं बहुत उजाला हो, पर व्यक्ति अन्धा हो तो वहाँ भी उसे खोलना सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह कि यदि अन्तःकरण में मोह का अन्धकार हो तो भी और आत्मसाक्षात्कार के लिए जिस दृष्टि की आवश्यकता है, वही न रह जाए, तो भी इस जड़ ग्रन्थि को खोलना असम्भव है। मोह दृष्टि को हर लेने की चेष्टा करता है, ऐसी स्थिति में जीव उस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में 'मानस' में एक तीसरी बात भी कही गई है—सभी लोग मोह की रात्रि में सो रहे हैं और तरह-तरह के स्वप्न देख रहे हैं—

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिय सपन अनेक प्रकारा।। २/९२/२

परन्तु समस्या यह है कि हमारे-आपके जीवन में एक ऐसी स्थिति

होती है, जब हम अनुभव ही नहीं करते कि हम सो रहे हैं और वह स्थिति कब होती है? जब हम गहरी नींद में स्वप्न देख रहे होते हैं, तब वह स्वप्न हमें बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है। तब ऐसा नहीं लगता कि हम स्वप्न देख रहे हैं और यह स्वप्न तो मिथ्या है। अब इस स्वप्न में व्यक्ति जो दृश्य देखता है, जिन व्यक्तियों को, जिन पदार्थों को देखता है, वे उसे सत्य प्रतीत होते हैं। इसका तीसरा अभिप्राय यह हुआ कि यदि मोहग्रस्त व्यक्ति को कहा जाए कि सारे विषय तो मिथ्या हैं, तो जैसे स्वप्नकाल में देखनेवाले व्यक्ति को स्वप्न के मिथ्यात्व की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही अनुभव करता हुआ वह मोहग्रस्त व्यक्ति तत्काल कहेगा कि अपने समक्ष इतने प्रत्यक्ष रूप से दिख रहे संसार को मैं मिथ्या कैसे मानूँ? जिसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और उसे प्रमाण मानूँ या किसी के भाषण में कही गई बात को प्रमाण मानूँ।

इसी प्रकार मोह के सम्बन्ध में ये तीन बातें कही गयीं हैं—पहला मोह के द्वारा अन्धा या दृष्टिहीन बना देना, दूसरा अन्धकार फैला देना और तीसरा व्यक्ति को सुलाकर उसे स्वप्न दिखाते हुए उस स्वप्न को सत्य जैसा प्रतीत करा देना।

अब जो चौथी बात कही गई, उसमें मोह की तुलना वृक्ष से की गई है। वृक्ष का एक भाग तो वह है, जो ऊपर दिखाई देता है, पर दूसरा भाग उसकी जड़ें जो पृथ्वी के भीतर गहराई में होती हैं। बस, मोह की समस्या यही है। सम्पूर्ण संसार का जड़ या मूल मोह है, परन्तु यथार्थ की दृष्टि से इसका अस्तित्व है ही नहीं—

मोह मूल परमारथु नाहीं। २/९१/८

मोह का फल भी व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, परन्तु मोह स्वयं अदृश्य है, छिपा है। जब तक हम इस संसार रूपी वृक्ष को मोह रूपी जड़-मूल के साथ उखाड़कर फेंक नहीं देंगे, तब तक हमें मोह के वृक्ष से कभी मीठे और कभी कड़वे फल मिलते ही रहेंगे। मोहग्रस्त व्यक्ति को लगता है कि मैं बड़ा सुखी हूँ और कभी लगता है कि मैं बड़ा दुःखी हूँ। मोह के सम्बन्ध में इसकी परिभाषा की ओर संकेत करने के लिए गोस्वामीजी द्वारा इतने अधिक दृष्टान्त लेने का कारण यह है कि उन्हें ऐसा कोई एक दृष्टान्त नहीं मिल पा रहा है,

जिसमें मोह की सारी बुराइयों को वे एक साथ प्रकट कर सकें।

मोह ज्ञान का सबसे बड़ा शत्रु है और मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी समस्या भी है। गोस्वामीजी कहते हैं कि रावण मूर्तिमान मोह है और यह भगवान राम का सबसे बड़ा विरोधी है, जहाँ ज्ञान का सन्दर्भ है, वहाँ पर मोह उसका सबसे बड़ा शत्रु है, परन्तु जहाँ भक्ति का सन्दर्भ है, वहाँ अहंकार भक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। अभिप्राय यह कि अहंकारी व्यक्ति तो कभी भक्त हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि व्यक्ति को जब अपने में कमी दिखाई दे और भगवान में विशेषता दिखाई दे, तब तो उसके जीवन में भक्ति आएगी। परन्तु जो अपने में ही विशिष्टता देख रहा है, वह तो अभिमानी है, वह कभी भक्त नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानदीपक और भक्तिमणि दोनों ही प्रसंगों में इन्हीं दो शत्रुओं—मोह और अभिमान की चर्चा की गई है।

और अन्त में जब ज्ञानदीवक जल उठता है, तब क्या होता है? गोस्वामीजी कहते हैं कि जैसे दिया जलने पर कीट-पतंगे आकर उसमें जलकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही साधक के जीवन में जब दिव्य ज्ञान का दीपक जल उठता है, तब मोह का अन्धकार तो मिटता ही है, पर साथ ही ये जो अहंकार आदि पतंगे हैं, वे भी जलकर नष्ट हो जाते हैं—

जरहिं मदादिक सलभ सब। ७/११७घ

इसका तात्विक अभिप्राय यह है कि जीव को जब सत्य का बोध हो गया तो जैसे पतंगे जलकर नष्ट हो गए, वैसे ही व्यक्ति जो अपने आप को न जाने क्या-क्या मान बैठा है, उसका वह अभिमान टूट जाता है, क्योंकि जब अखण्ड वृत्ति का उदय हो गया, तो सीमित अहंकार का नष्ट हो जाना स्वाभाविक है—

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। ७/११७/१

इस प्रकार ज्ञानदीपक प्रसंग में मोह व अभिमान दोनों को जोड़ा गया है। फिर भक्तिमणि के प्रकाश में तो मोह का अन्धकार स्वयं ही मिट जाएगा। गोस्वामीजी कहते हैं—मोह रूपी दरिद्रता तो उस मणि के पास तक नहीं फटकती—

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।
लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।। ७/११९/४

इस प्रकार जिस व्यक्ति के हृदय में भक्ति का उदय हुआ, भगवत्कृपा से उसका अभिमान नष्ट हो जाता है और व्यक्ति जब ज्ञानदीपक जलाता है, तो मोह का अन्धकार मिट जाता है। इस प्रकार मोह और अन्धकार ये दो ही बड़े शत्रु हैं।

लेकिन एक और बात है—यदि कहीं मोह और अभिमान दोनों एक साथ आ जाएँ, तब तो बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो जाएगी। यदि व्यक्ति के जीवन में मोह हो, पर अभिमान न हो तो उस व्यक्ति को पता रहेगा मुझे मोह है। पर यदि मोह के साथ अभिमान हो गया, तो इसमें सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह मोहग्रस्त होकर भी अभिमान के कारण अपने मोह को न देख, स्वयं में ही सारी बुद्धिमत्ता और श्रेष्ठता देखता है।

मोहग्रस्त होने का वर्णन रामायण के कई पात्रों के जीवन में है। सतीजी को मोह हो जाता है, गरुड़जी को मोह हो जाता है और महाभारत में अर्जुन को भी मोह हो गया। लेकिन ये जितने पात्र हैं, इनके जीवन में भले ही मोह आ गया हो, पर अभिमान नहीं आया। मोह जाने के बाद उनके जीवन में उसका दुष्परिणाम अधिक काल तक नहीं रहा। अर्जुन के जीवन में मोह भले ही आ गया हो, परन्तु उन्हें यह ठीक बोध है कि धर्म की दृष्टि से मेरा उचित कर्तव्य क्या है, शायद इस विषय में मेरी ही बुद्धि भ्रमित हो गई है, अतः वे भगवान से प्रार्थना करते हैं कि मैं शरण में हूँ—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। २/७

यह शरणागति तो अभिमानी व्यक्ति को होती ही नहीं है। शरणागति का तो अर्थ ही है कि जब व्यक्ति को ऐसा लगता है कि मैं असमर्थ हूँ, तब शरण में जाता है। अर्जुन की जो स्थिति है और जितने पात्र रामायण में मोहग्रस्त होते हैं, वे कुछ समय के लिए तो मोहग्रस्त होते हैं, पर निरभिमान होने के कारण वे अन्त में मोह से मुक्त हो जाते हैं। अभिमान उनमें पहले से ही नहीं होता। परन्तु रावण की समस्या क्या है? वह तो मोह और अभिमान दोनों से ही ग्रस्त है।

प्रभु से मिलन होने पर हनुमानजी ने जब उनसे पूछा कि आप कौन हैं तो प्रभु ने अपना परिचय दिया कि हे विप्र! हम कोशलनरेश महाराजा दशरथ के पुत्र हैं, उनकी आज्ञा के अनुसार वन में आए हैं। यहाँ राक्षसों ने हमारी पत्नी वैदेही का हरण कर लिया और हम उन्हीं को खोजते फिर रहे हैं–

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए।।
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजन तेही।।
४/१/१,३

और इतना परिचय देने के बाद प्रभु ने हनुमानजी से कहा कि हे ब्राह्मण देवता, हमने तो अपना चरित्र आपको गाकर सुना दिया, अब आप भी अपनी कथा सुना डालो–

आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।। ४/१/४

तब हनुमानजी ने अपना बड़ा विचित्र सा परिचय दिया। उन्होंने अपनी मोहग्रस्तता स्वीकार करते हुए कहा कि महाराज! मेरा परिचय यह है कि मैं मन्द हूँ मोह के वशीभूत हूँ कुटिल हृदय हूँ और अज्ञान हूँ–

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान। ४/२

प्रभु ने हनुमानजी की ओर देखा और बोले कि ये जो चार विकार तुम अपने में देख रहे हो, इनमें से तुम्हें सबसे अधिक दुःख किसका है? मोहग्रस्त होने का, या मन्द होने का या कुटिल-हृदय होने का या फिर अज्ञान होने का? हनुमानजी ने कहा कि महाराज! ये चारों मेरे लिए समस्या नहीं है, इन चारों ने मुझे उतना दुःख नहीं दिया जितना आपने दे दिया। प्रभु बोले कि अरे! मैंने क्या दुःख दे दिया? हनुमानजी कहने लगे कि महाराज! मैं तो बहुत दिनों से ऐसा ही था, पर आज आपने जो यह पूछ दिया कि 'ब्राह्मण देवता, तुम कौन हो' तो आपका यह प्रश्न मेरे लिए सबसे अधिक दुःखदाई है कि जीव बेचारा तो ईश्वर को भूला ही हुआ था, पर ईश्वर भी जीवन को भूल जाए, तो उसकी क्या गति होगी?–

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान।। ४/२

प्रभु हनुमानजी से पूछ सकते थे–ब्राह्मण देवता, जब आप मुझसे पूछ रहे हैं कि आप कौन है तो मुझे भी पूछना चाहिए कि आप कौन हैं? हनुमानजी बोले–नहीं, महाराज! जीव का पूछना उचित है, पर ईश्वर का पूछना उचित नहीं। क्योंकि प्रभु, आपकी बलवती माया ही ऐसी है, जिससे ग्रस्त होकर मैं आपको पहचान नहीं सका–

मोर न्याउ मैं पूछा साईं।
तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।।
तव माया बस फिरउँ भुलाना।
ता ते मैं नहि प्रभु पहिचाना।। ४/१/८-९

हनुमानजी ने प्रभु को अपना नाम बिल्कुल नहीं बताया। इसका क्या कारण था? कभी-कभी आप लोगों में से भी किसी को दूसरों से भेंट होती होगी। कई लोग तो अत्यधिक आशा रखते हैं कि आप उन्हें पहचान लें। मुझे कई बार ऐसा अनुभव होता है, किसी अन्य नगर के ऐसे व्यक्ति दूसरे नगर में मिल जाते हैं, जो मुझसे कभी मिले होते हैं और वे आशा रखते हैं कि मैं उन्हें याद रखूँ। वह उनका दोष नहीं है। इसमें मेरी तो बड़ी समस्या है कि यदि कोई मुझसे पूछ दे कि मुझे पहचाना या नहीं? तो उनको क्या उत्तर दिया जाए? नहीं कहने से उनको चोट लगेगी, अरे, मुझे नहीं पहचानते? क्योंकि उन्हें लगता है कि हम इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इन्हें याद रखना ही चाहिए था और जब कह देता हूँ कि हाँ पहचानता हूँ तो यह असत्य बात हुई और इतने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। वे पूछ बैठते हैं कि यदि आप मुझे पहचानते हैं तो मेरा नाम बताइए? बिना परीक्षा लिए वे छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। हम तो तब मानेंगे जब आप हमारा नाम बताएँगे। अब संसार में ऐसे कई लोग स्मरण-शक्ति वाले व्यक्ति होते हैं, जिनको अधिक-से-अधिक लोगों का नाम याद रहता है, पर कितना भी स्मरणशक्ति वाला व्यक्ति क्यों न हो, संसार में सबका नाम तो याद नहीं रख सकता। अगणित व्यक्ति हैं, फिर इस जन्म में जितने व्यक्तियों के नाम याद रखते हैं, पहले अनेक जन्मों से न जाने कितने व्यक्तियों से नाते रह चुके हैं, निकट से निकट के नाते रह चुके हैं, वे सब तो बिचारे को न तो नाते याद हैं, न नाम।

पर यह समस्या तो ईश्वर के साथ नहीं है कि ईश्वर कुछ लोगों को याद रखे और कुछ लोगों को भूल जाए। हनुमानजी ने अपना परिचय क्यों नहीं दिया? उनका अभिप्राय यह है—प्रभो, जब आप जान-बूझकर भूलने का अभिनय कर रहे हैं, तब तो मैं उलाहना दिए बिना नहीं रहूँगा। और उसके बाद हनुमानजी को पूरा सन्तोष कब हुआ? जब हनुमानजी को उपदेश देते हुए प्रभु ने उनका नाम लिया—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त। ४/३

हनुमानजी गद्‌गद हो गए। बोले कि महाराज! मेरा भ्रम मिट गया। मुझे लग रहा था कि आप मुझे भूल गए हैं, पर जब आपके मुँह से अपना नाम सुना तो सन्तोष हुआ कि आपको याद है और तब?—प्रभु को अनुकूल देखकर हनुमानजी महाराज बड़े प्रसन्न हो गए, हृदय में हर्ष छा गया और सारे दुःख जाते रहे—

देखि पवनसुत पति अनुकूला।
हृदय हरष बीति सब सूला।। ४/३/१

व्यक्ति में चाहे जितनी भी बड़ी कमी क्यों न रहे, पर ईश्वर अपनी कृपा के द्वारा सामनेवाले व्यक्ति की बुराइयों को, कमियों को दूर कर देते हैं, पर व्यक्ति को यदि ईश्वर की ही स्मृति न रह जाए तो बेचारा वह अकेले अपने दुर्गुणों से कैसे लड़े? हनुमानजी स्वयं को मोहग्रस्त कहते हैं, कुटिल कहते हैं, मन्द और अज्ञानी कहते हैं, पर प्रभु तो सुनकर हँस रहे हैं कि हनुमान! तुम कितने सरल हो। क्या कभी कोई कुटिल व्यक्ति कह सकेगा कि मैं कुटिल हूँ? वह तो अपनी कुटिलता को छिपाने की चेष्टा करेगा। पर तुम तो इतने सरल हो कि स्वयं अपने सारे दोष बता रहे हो और कह रहे हो कि कुटिल हूँ। नहीं, नहीं, कुटिल तो तुम बिल्कुल नहीं हो। तुम तो साधु हो। प्रभु ने हनुमानजी को हृदय से लगा लिया। हनुमानजी ने कहा—कि प्रभो! मैं जब ब्राह्मण के वेश में आया, तब तो आप दूर से बता कर रहे थे और जब मैंने अपने दोषों को बता दिया, तब आपने मुझे अपने हृदय से लगा लिया। हनुमानजी की बातें सुनकर प्रभु को बड़ा आनन्द आ रहा है। बोले कि हनुमान! यह जो तुमने कहा कि मैं मोहग्रस्त हूँ, मन्द हूँ, कुटिल हूँ और अज्ञान हूँ, तो यह तुम्हारा अज्ञान भी बहुत बढ़िया है। जिसने

अपने दोषों को, अपनी अपूर्णता को जान लिया, उसका अज्ञान तो ज्ञान से भी धन्य है। तुमने ईश्वर को भी पहचान लिया, अपनी अपूर्णता और ईश्वर की पूर्णता को भी जान लिया, यह तो बड़ा उत्कृष्ट ज्ञान है। और तुम्हारी कुटिलता भी बहुत बढ़िया है, जो अपने दोष और कुटिलता को स्वयं बता रहे हो। तुम्हारी यह कुटिलता तो सरलता की पराकाष्ठा है और जब यह कहते हो कि मन्दबुद्धि हूँ, तो बुद्धि की सार्थकता और क्या हो सकती है? अपने दोष और भगवान के गुण को जान लेना ही तो बुद्धि की सार्थकता है। अब इसे तुम मन्द कहते हो तो धन्य है तुम्हारी मन्दबुद्धि।

भगवान श्रीराम और हनुमानजी के इस वार्तालाप में बड़ा सांकेतिक तत्त्व है। बड़ा सुन्दर शब्द विनिमय हुआ। भगवान ने अपनी कथा सुनाई और हनुमानजी ने अपनी दीनता। जीव ने अपनी दीनता भगवान को सुना दी तथा उनकी पूर्णता को जान लिया। जीवन की समग्रता इसी में है कि व्यक्ति की व्यथा भगवान सुन लें और भगवान की कथा जीव सुन ले, क्योंकि जीव अपनी व्यथा भगवान को सुनाएगा, तब भगवान के हृदय में करुणा का उदय होगा और जब वह भगवान की कथा सुनेगा, तब उसके हृदय में आनन्द की अनुभूति होगी। प्रभु ने हनुमानजी से कहा, हनुमान! मैंने तो तुमसे कहा था—'हे विप्र, तुम अपनी कथा समझाकर कहो—

कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।। ४/१/४

पर तुम तो कथा के स्थान पर व्यथा सुनाने लगे। हनुमानजी ने कहा कि महाराज! जीव के पास तो व्यथा की ही कथा है और कोई कथा तो है नहीं। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि जीव अपूर्ण है, अल्पज्ञ है, मोहग्रस्त है, पर इतना होते हुए भी यदि उसे अपनी अपूर्णता, अल्पज्ञता का ज्ञान है और जैसा कि हनुमानजी भगवान से कहते हैं कि प्रभु! मैं मन्द हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल हूँ और अज्ञानी हूँ', यदि व्यक्ति में इतनी सरलता और निरभिमानिता आ जाए, तो वहाँ सारी समस्याओं का समाधान होने में देर नहीं लगती।

रावण की समस्या क्या है? उसके जीवन में जितना तीव्र मोह और अन्धकार है, उतना भला और कहाँ होगा? हनुमानजी जब रावण

की सभा में उपदेश देते हैं, रावण को समझाते हैं, तो रावण से इन्हीं दोनों को छोड़ने के लिए कहते हैं। वे रावण से हाथ जोड़कर कहते हैं कि रावण तुम मेरी बात मानो, तुम इन दो वस्तुओं को छोड़ दो, तुम्हारे जीवन में मोह और तमोमय अभिमान है, इनका त्याग कर दो–

मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान। ५/२३

इसका सीधा अर्थ यह है कि व्यक्ति साधन करता हुआ भगवान की कृपा से इस मोह और अभिमान पर विजय प्राप्त कर ले, तो जीवन में शान्ति और भक्ति संभव है और जब तक जीवन में मोह और अभिमान–ये दोनों शत्रु विद्यमान हैं, तब न भक्ति आ सकती है न शान्ति।

जनकपुर में धनुर्भंग के प्रसंग में और यहाँ लंका में अंगद के चरण-रोपण के प्रसंग में गोस्वामीजी मानो यह कहना चाहते हैं कि विषयी मोहरूपी वृक्ष को नहीं उखाड़ सकता–

मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी। ६/३३/१४

धनुषयज्ञ के प्रसंग में जनकजी की जो प्रतिज्ञा है, उसे यदि बहिरंग दृष्टि से देखें तो बड़ी विचित्र-सी लगती है। इसी विचित्रता के कारण परशुरामजी ने जनक जैसे ज्ञानी को जड़ की उपाधि दे दी। धनुष टूटने के बाद जब परशुरामजी आए, तो उन्होंने जनकजी से यह नहीं कहा कि महाराज जनक! यह बताइए कि इस धनुष को किसने तोड़ा? उन्होंने जनकजी के लिए जो शब्द कहा, अरे मूर्ख जनक, यह धनुष किसने तोड़ा?–

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा। १/२६६/३

इसका अर्थ क्या है? यह कि तोड़ने वाले को हम बाद में देखेंगे, पर तुम्हें तो हम पहले ही यह उपाधि दे दें, तू बड़ा भारी मूर्ख है। क्यों? इसलिए कि इस धनुष के टूटने में मूल कारण तो तू ही है। तूने यह कैसी मूर्खतापूर्ण प्रतिज्ञा कर दी। आज तक विश्व के इतिहास में जिस किसी ने धनुष द्वारा परीक्षा ली, तो उसने धनुष चलवाकर देखा। यह तो कभी नहीं सुना कि धनुष तुड़वाना भी परीक्षा की कोई विधि है, धनुष तोड़ना भी किसी योग्यता का प्रमाण है।

यदि धनुष के द्वारा ही परीक्षा लेनी थी, तो तुम बाण चलवाकर,

कोई लक्ष्य-वेध कराकर परीक्षा ले लेते। जो धनुष से बाण चलाकर लक्ष्य-वेध कर देता, वह धनुर्विद्या में अपना पाण्डित्य प्रमाणित कर देता है और जो लक्ष्य-वेध नहीं कर पाता, वह अयोग्य सिद्ध होता। द्रौपदी के विवाह के संदर्भ महाराज द्रुपद ने इसी पद्धति का आश्रय लिया। महाराज द्रुपद ने यह प्रतिज्ञा की थी कि निरन्तर घूम रही एक यंत्रमयी मछली के नीचे एक पात्र में तेल भरा हुआ है। अब धनुष पर बाण चढ़ाकर, उस तेल में मछली का प्रतिबिम्ब देखते हुए उस घूमती हुई मछली की एक आँख को अपने बाण से जो बींध देगा, उसे द्रौपदी वरण कर लेगी। इस प्रयत्न में अन्य कोई राजा सफल नहीं होते हैं और कर्ण भी व्यंग्य सुनकर बैठ जाता है। अन्त में अर्जुन के द्वारा ही वह लक्ष्य-वेध होता है और द्रौपदी अर्जुन के गले में जयमाल पहनाती हैं, पर द्रौपदी के विवाह की प्रक्रिया दूसरी है। द्रौपदी अर्जुन की पत्नी हैं। अर्जुन नर हैं, भगवान श्रीकृष्ण नारायण हैं। यहाँ भी भगवान श्रीराम साक्षात् नारायण हैं। नर और नारायण की योग्यता की परीक्षा एक ही पद्धति में नहीं होगी। नर की योग्यता की परीक्षा तो उसकी एकाग्रता में है। चंचल मछलीरूपी लक्ष्य का वेध करना। इसे यदि सांकेतिक रूप में देखें, तो गोस्वामीजी मन की तुलना मछली से करते हैं और भगवान से अनुरोध करते हैं–

बिषय बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहु पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।।

(विनय. १०२/३)

महाराज! यह मेरा मछली रूपी मन विषय के जल में ही निरन्तर डूबा रहता है। जैसे मछली को जल से अलग कर दिया जाए तो मछली को ऐसा लगता है कि जैसे उसका प्राण चला जाएगा, इसी प्रकार से मन विषय में इतना रस लेता है कि यदि एक क्षण के लिए विषय दूर हो जाए तो मन को ऐसा लगने लगता है जैसे उसकी मृत्यु हो जाएगी।

इसलिए द्रुपद ने जो पद्धति अपनाई इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में द्रौपदी को जो पाने का मार्ग है, वह तो है लक्ष्यवेध का। लक्ष्यवेध अर्थात् मन की एकाग्रता। अर्जुन में कितनी एकाग्रता है,

इसकी परीक्षा होती है। अर्जुन की इस एकाग्रता की परीक्षा पहले भी गुरु द्रोणाचार्य द्वारा ली जा चुकी है। वहाँ भी समस्त कौरव-पाण्डवों के बीच अर्जुन में ही यह विशेषता परिलक्षित होती है। गुरु द्रोणाचार्य ने जब अन्य शिष्यों की परीक्षा लेते समय द्रोणाचार्य पक्षी बनाकर एक-एक करके शिष्यों से पूछने लगे, क्या तुम्हें वृक्ष दिखाई दे रहा है? शिष्य कहता था हाँ। वृक्ष की डालें? हाँ, पत्ते? हाँ। पर जब उन्होंने यही प्रश्न अर्जुन से किया तो अर्जुन ने कहा, नहीं। तो तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है? बोल, आँख। आँख को बींधना ही लक्ष्य था। द्रोणाचार्य प्रसन्न हो गये। अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया। और यहाँ द्रुपद की परीक्षा-विधि भी वही है। द्रौपदी के स्वयंवर में इसी एकाग्रता की परीक्षा थी और वह विलक्षण एकाग्रता अर्जुन में दिखाई देती है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी विजय वही है, जो अर्जुन ने करके दिखाया और वह विजय यही है कि मनुष्य अपने मन को एकाग्र करके लक्ष्यवेध कर ले। यही उसके जीवन का परम साधन है।

परन्तु यहाँ महाराज जनक धनुष पर बाण रखकर चलाने के लिए लक्ष्यवेध करने के लिए नहीं कहते। वे तो कहते हैं कि जो धनुष तोड़ देगा, उसी को सीता वरण करेंगी। जनकजी ने धनुष क्यों नहीं चलवाया? परशुरामजी से तो वे डर के मारे सही बात तक नहीं कह पाते, पर जब परशुरामजी ने कहा कि तू कितना जड़ है कि तूने शंकरजी से धनुष लिया और उस धनुष की अनेक वर्षों तक पूजा की और अब न जाने तेरी कैसी बुद्धि हो गयी कि तुमने कह दिया कि इस धनुष को तोड़ दो।

महाराज जनक बोले, महाराज! मैं धनुष को चलवाकर कैसे देखता, क्यों? बोले कि शंकरजी ने यदि धनुष के साथ बाण भी दिए होते, तो मैं चलवाकर देखता। पर बाण तो उन्होंने दिए नहीं, केवल धनुष दे दिया। अब इस बाणरहित धनुष को चलवाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। चलवा नहीं सकते थे, तो तुड़वाना जरूरी था क्या?

यहाँ पर दूसरी दार्शनिक भाषा यह है कि शंकरजी ने धनुष तो दिया, पर बाण क्यों नहीं दिए? बाण के द्वारा ही तो लक्ष्य-वेध होता है, इस धनुष के साथ जो बाण था, उसके द्वारा लक्ष्यवेध हो चुका

था। उसके बाद कोई लक्ष्य शेष नहीं है।

शंकरजी का यह धनुष मूर्तिमान अहंकार है। यह अभिमान कोई साधारण अभिमान नहीं है। अहंकार की भी कई कोटियाँ हैं। हनुमानजी रावण से भी नहीं कह सके कि तुम पूरा अभिमान छोड़ दो। हनुमानजी तो प्रारम्भ यहीं से करते हैं—अच्छा ऐसा करो, तुम सतोगुणी अभिमान मत छोड़ो, रजोगुणी अभिमान भी मत छोड़ो, लेकिन कम-से-कम तामसिक अभिमान तो छोड़ दो। हनुमानजी का यह वाक्य आपने ध्यान से पढ़ा होगा, वे कहते हैं कि—

मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान। ५/२३

हनुमानजी रावण का स्वभाव समझ गये थे। उन्होंने सोचा, चलो यहीं से श्रीगणेश किया जाए। अभिमान छोड़ देना क्या इतना सरल है? इसमें एक क्रम है और इसकी सीढ़ी यही है कि हम तमोगुणी अभिमान से रजोगुणी अभिमान में जाएँ, रजोगुणी अभिमान से सत्वगुणी अभिमान में जाएँ और अन्त में सत्वगुणी अभिमान के द्वारा साधना का लक्ष्य पूरा हो जाए, तो उसका भी त्याग हो जाना चाहिए। साधक के जीवन में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण अध्याय है कि वह क्रमशः साधना करते समय किसी भी प्रकार के अहंकार से रजोमय, सत्वमय और सत्वमय अहंकार से भी जब अभीष्ट लक्ष्य पूर्ण हो जाए, तब अभिमान से पूरी तौर से ऊपर उठने की आवश्यकता है।

शंकरजी के इस धनुष से लक्ष्यवेध हो चुका है और उससे बढ़कर कोई लक्ष्यवेध नहीं हो सकता। वह लक्ष्य क्या था? त्रिपुरासुर नाम का वह दैत्य। जिसका चमत्कार यह था कि आकाश में तीन नगर बने हुए थे, एक सोने का, एक चाँदी का और एक लोहे का। जब कभी त्रिपुरासुर पर आक्रमण होता, तो वह एक नगर को छोड़कर दूसरे में चला जाता था। जब पता चला कि उसका विनाश तो तभी होगा, जब कोई इन तीनों नगरों को एक ही बाण से एक साथ नष्ट कर दे। इसे यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो यह त्रिपुरासुर हम सभी के जीवन में है। हमारा मन ही त्रिपुरासुर है और उसके ये तीन नगर हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसमें सोने का नगर लोभ का प्रतीक है। जब आप लोभ को जीतने की चेष्टा करेंगे तो कुछ क्षणों के लिए ऐसा लगेगा

कि लोभ समाप्त हो गया, पर एक ओर जहाँ लोभ नहीं दिखाई दे रहा है, वहीं दूसरी ओर क्रोध दिखाई देने लगता है, तीसरी ओर काम दिखाई देने लगता है। इन तीनों नगरों को एक साथ नष्ट करने का अर्थ यह है कि जब तक इन तीनों बुराइयों में से किसी एक बुराई से लड़ते रहेंगे, तब तक हम कभी सफल नहीं होंगे जरूरत किसी ऐसे दिव्य बाण की है, जिसके द्वारा ये तीनों नगर एक साथ जलकर नष्ट हो जाएँ और विजय तभी मिलेगी।

समस्या यह थी कि त्रिपुरासुर को कोई मार नहीं पा रहा था। काम, क्रोध, लोभ तीनों को एक साथ मारने में सभी देवता असमर्थ हैं। अन्त में सबने मिलकर भगवान शंकर से प्रार्थना की कि महाराज! आप ही कृपाकर इस त्रिपुरासुर का संहार कीजिए। पुराणों में तो बड़े गम्भीर और बहुत ही विलक्षण पद्धति से इसका वर्णन हुआ है। संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ मिलाकर धनुष बनाया गया और उसके बाद सर्वश्रेष्ठ शक्तियों को नियोजित करके बाण बनाया गया। तब शंकरजी ने धनुष का बाण चढ़ाकर उस एक ही बाण के द्वारा उन तीनों पुरों को जलाकर नष्ट कर दिया और त्रिपुरासुर के संहार से सारे संसार के जीव सुखी हो गये। इसके तात्त्विक संहार से सारे संसार के जीव सुखी हो गये। इसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि जीवन में जितने पवित्रतम साधन हैं–तप, यज्ञ, दान आदि सबको नियोजित करके वेदों अर्थात् सद्ग्रन्थों का आश्रय लेकर उसकी समस्या का समाधान पा लें तो ऐसी स्थिति में इससे बढ़कर महान कोई सफलता नहीं होगी। लेकिन उसके बाद?

भगवान शंकर की महानता क्या है? काम, क्रोध, लोभ को जीतने के बाद एक ही डर है कि व्यक्ति अपने आपको इन तीनों का विजेता न मान बैठे। नारदजी तो इसी चक्कर में पड़ गए थे। जब वे तपस्या कर रहे थे और इन्द्र ने अप्सराओं को भेजा तो नारद जी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसके बाद काम भयभीत हो गया कि नारदजी कहीं क्रोध में आकर हमें शाप न दे दें। वह नारदजी के चरणों में गिर पड़ा। पर नारदजी को क्रोध नहीं आया। कामदेव ने सफाई दी महाराज! इन्द्र को यह डर लगा कि आप स्वर्ग का सिंहासन छीनना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने आपको तपस्या से विरत करने का आदेश मुझे दिया। तब नारद

ने मुस्कुराकर यह कहा कि नहीं, नहीं मेरे मन में स्वर्ग का कोई लोभ नहीं है और ऐसा लगा कि इन्होंने तो काम के साथ क्रोध तथा लोभ को भी जीत लिया है। शंकरजी भी तीनों के विजेता हैं।

लेकिन अगले ही क्षण नारद जी और शंकरजी का जो अन्तर है, वह दिखाई दे गया। शंकरजी ने जिस धनुष-बाण के द्वारा त्रिपुरासुर पर विजय पायी, उस धनुष बाण का परित्याग कर दिया। बाण का कार्य तो पूरा हो गया और बचा हुआ है धनुष। उसे भी उन्होंने जनकजी को सौंप दिया। पर नारदजी की समस्या क्या थी? काम जब उनके चरणों में प्रणाम करने लगा, तो जाते-जाते उसने नारद के कान में एक बात कह दी, महाराज, संसार में बड़े-बड़े महापुरुष हुए, पर आपके जैसा महान् तो कोई हुआ ही नहीं। यह सुनकर नारद को बड़ा अभिमान हुआ। वाह! कैसा अद्वितीय मेरा व्यक्तित्व है, जो कार्य कोई नहीं कर सका, वह मैंने कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उस अभिमान ने उनके सारे पराक्रम को समाप्त कर दिया। इसका अभिप्राय यह है कि हम सात्त्विक अहंकार के द्वारा ही साधना और सत्कर्म करते हैं, पर जब साधना का उद्देश्य पूरा हो गया, तब अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि व्यक्ति कर्तृत्व भाव से मुक्त हो जाए।

भगवान शंकर की विशेषता यही है कि उन्होंने जनक को बाण इसलिए नहीं दिया कि अब कोई लक्ष्य बाकी ही नहीं रहा। लक्ष्य तो पूरा हो गया। अब बचा क्या है? मन के द्वारा काम, क्रोध, लोभ तीनों का समाधान हो गया, पर त्रिपुरासुर जिस धनुष के द्वारा मारा गया, उस धनुष को जनक को क्यों दे दिया? जैसे लोहे के द्वारा लोहा काटा गया, पर जिस लोहे से काटा गया, वह तो बच ही गया। परन्तु भगवान शंकर बोले कि नहीं भाई! अब इस धनुष को ढोते रहना उचित नहीं है। यह ढोते रहना शब्द बड़े महत्त्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जब अपनी विशेषताओं का अभिमान नहीं छोड़ पाता, तो वस्तुतः वह उसे ढोता ही रहता है, हर समय प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है कि मैं कितना महान हूँ, मैं कितना बड़ा कार्य किया हूँ, यही अभिमान को ढोना है। शंकरजी की विशेषता यही है कि उन्होंने त्रिपुरासुर पर विजय प्राप्त करने के बाद इस अभिमान का यह बोझ उतार दिया

और केवल उतार ही नहीं दिया, बल्कि धनुष और भगवान शंकर में बड़ा मीठा संवाद हुआ। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा, यह धनुष इतनी आसानी से टूट कैसे गया? गोस्वामीजी बोले कि भाई! यह धनुष शंकरजी के पास था और शंकरजी ने इसके कान में एक पाठ दे दिया था। गीतावली में गोस्वामीजी कहते हैं कि मानो शंकरजी ने इस धनुष को पाठ पढ़ाया–

जनु हुतो पुरारि पढ़ायो।। १/६३/२

धनुष ने कहा कि महाराज! आपने त्रिपुरासुर को जीत लिया मेरे द्वारा और सबको तो मुक्ति दे दी, परन्तु मेरे साथ आपका व्यवहार बिल्कुल उल्टा है। क्या? संसार को तो आप मुक्ति देते हैं, पर मुझे बाँधते क्यों हैं? अब धनुष को जब तक डोरी से कसकर न बाँधा जाए, तब तक चलेगा नहीं। भगवान शंकर ने मुस्कुराकर कहा कि अन्य वृत्तियों को जीत लेना, यह तो मुक्ति का उपाय है ही, पर जब तक तुम धनुष रहोगे, तब तक बाँधे जरूर जाओगे। अच्छे काम के लिए बाँधे जाओगे। अब एक ही उपाय है, मैं तुम्हें जनक को दे रहा हूँ और जब साक्षात भगवान जनकपुर पधारें, तब तुम ऐसा प्रयत्न करना कि किसी तरह टूट जाओ। जिस दिन तुम टूट जाओगे, बन्धन भी छूट जाएगा। तुम जरा भी भूल मत करना, तत्काल टूट जाना, टूटने में देर न करना, प्रसन्न होकर टूट जाना। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि अन्तिम विजय अहंकार पर विजय है और यह विजय तो ईश्वर के सामर्थ्य से ही सम्भव है। व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ तक को तो अपने साधन के द्वारा जीत सकता है, पर अपने 'मैं' को जीतने का एकमात्र उपाय वही है, जो शंकरजी ने धनुष को बताया।

भगवान शंकर ने धनुष जनकजी को दे दिया और जनकजी उसकी पूजा करने लगे। श्रेष्ठतम महापुरुष वह है जो बुराइयों पर विजय पा लेने के बाद अभिमान से मुक्त हो जाए। पर वह धनुष पूजा का पात्र है और जनकजी ने इतने दिनों तक उसकी पूजा की, इसका अर्थ यह है कि जिस महापुरुष एवं साधन-पद्धति के द्वारा दुर्गुणों पर विजय प्राप्त हुई, ऐसे महापुरुष का चरित्र भी पूजनीय है, उसकी साधना-पद्धति भी पूजनीय है और ऐसा अभिमान भी पूजनीय है जो साधना और सत्कर्म

के लिए प्रेरणा दे। पर अन्ततोगत्वा उसकी अन्तिम परिणति क्या है? महाराज जनक के मन में आया कि इतने दिनों तक मैंने इसकी पूजा की, यह तो बड़ी अच्छी बात है, पर अब इस पूजा का अन्तिम फल क्या है? हम पूजा सात्त्विक अहंकार लेकर ही तो करते हैं, पर इस पूजा का अन्तिम फल यही है कि इससे वह सात्त्विक अभिमान भी पूरी तौर से टूट जाता है।

इतने दिनों तक जनकजी ने जो पूजा की, वह भी सार्थक है, क्योंकि वह तमोमय, रजोमय नहीं, अपितु समष्टि का दिव्य अहंकार है। यह त्रिपुरासुर को मारने वाला अहंकार है, पर अब जनकजी की विशेषता यही है कि वे चाहते हैं कि धनुष टूटे और शायद इससे बड़ी बात दूसरी कुछ नहीं होगी। मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता, सबसे बड़ी समस्या क्या है? हम चाहते हैं कि चाहे सब कुछ टूट जाए, परन्तु अभिमान न टूटने पाए। यहाँ तो हम भगवान से भी यही प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! मुझे नीचा न देखना पड़े। हमें हर क्षण यही चिन्ता लगी रहती है कि हमारा सिर न झुक जाए, हमारे अभिमान को धक्का न लगे। परन्तु महाराज जनक की स्थिति क्या है? वे भगवान से ही यही प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! यदि आप प्रसन्न हैं तो आप मेरे अभिमान को नष्ट कर दीजिए, खण्डित कर दीजिए, जीवन में सात्त्विक अभिमान भी शेष न रह जाए। यही जनक के ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति है, यही उनके विदेहत्व की कसौटी के ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति है, उसी के अनुकूल उनकी प्रतिज्ञा भी थी।

परन्तु परशुरामजी की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि उन्होंने सात्त्विक अहंकार के साथ-साथ रजोमय अहंकार को भी स्वीकार किया। रजोगुणी अहंकार होने के कारण दण्ड देने की प्रवृत्ति भी उनमें है। जब सारी पृथ्वी के क्षत्रियों को दण्ड देने के बाद भी उन्होंने राज्य नहीं लिया और निज वंश का विस्तार नहीं किया, तो इस प्रकार उन्होंने अपने दिव्य सात्त्विक अहंकार का परिचय दिया, परन्तु अन्ततः परशुरामजी यह समझ नहीं पा रहे हैं कि अच्छी वृत्ति, अच्छा अभिमान क्या यह भी छोड़ने की चीज नहीं है? इसीलिए वे जनक को समझ नहीं पाते और सोचते हैं कि उन्होंने यह प्रतिज्ञा करके भूल की

है, पर जनक की प्रतिज्ञा बिल्कुल ठीक है और वह धनुष भी कितनी आसानी से टूट गया। अनेक राजा अपना अभिमान, अपना 'मैं' लेकर आए थे। वे उस धनुष के पास भी पहुँचे, परन्तु जितने राजा उसे छूते थे, धनुष उतना ही भारी हो जाता था–

मनहुँ पाइ भट बाहुबलु अधिकु अधिकु गरुआइ।। १/२५०

भारी हो जाने का अर्थ यह है कि वे लोग अपना क्षुद्र 'अहं' लेकर शिवजी के दिव्य अहंकार पर विजय पाने चले। परिणाम यह हुआ कि सभी असफल रहे और भगवान श्रीराम के मामले में यह जो अहंकार है–

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें।।
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। १/२६०/७-८

धनुष टूटने की सर्वोच्च कसौटी क्या थी? परशुरामजी ने भगवान राम से पूछा कि जब तुमने इतने बड़े धनुष को तोड़ दिया, तो तुम्हें अभिमान जरूर हुआ होगा? ठीक ये ही शब्द थे परशुरामजी के–

भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा।
अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा।। १/२८२/६

भगवान राम का अभिप्राय यह है कि 'यदि शंकरजी का धनुष टूटने के बाद भी अभिमान बना रह जाए, तो धनुष टूटा कहाँ? धनुष टूटने का तो अभिप्राय यह है कि तोड़नेवाला मैं हूँ, यह भाव ही न रह जाए।' परशुरामजी कहते हैं कि लेकिन व्यवहार में तो लोग यही कहते हैं। दूसरों को लगता है कि श्रीराम द्वारा तोड़ा गया, पर स्वयं भगवान राम को नहीं लगता कि मैंने तोड़ा इसलिए वे परशुरामजी से कहते हैं कि महाराज! केवल कारण ही ढूंढ़ना हो तो आप भले ही ढूँढ़ें, पर जब कोई घटना होती है और जो व्यक्ति उसमें दिखाई देता है, उसी की हम प्रशंसा करते हैं, उसी को सम्मान देते हैं। पर इसके लिए यदि श्रेय देना ही है, तो आप 'दो' को दीजिए। किन दो को? या तो हमारे गुरुजी को या काल को। क्यों? भगवान बोले कि महाराज! धनुष तो बहुत देर से रखा हुआ था। जनकजी के बन्दी ने प्रतिज्ञा सुना दी, पर तब तो मैं नहीं उठा। क्यों नहीं उठे? भगवान बोले कि यदि मुझमें तोड़ने की शक्ति होती, तो सबसे पहले उठकर तोड़ देता। वस्तुतः होता यह है प्रत्येक कार्य होने का एक समय होता है। जन्म

का भी समय है, मृत्यु का भी समय है, किसी वस्तु के मिट जाने का भी समय है। अन्तर इतना ही था कि अन्य राजा जब धनुष के पास गए, तब उसके टूटने का समय नहीं हुआ था। गुरु विश्वामित्र को काल का ज्ञान था। उन्होंने देखा कि अब समय आ गया, बस, मुझे भेज दिया–

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी।।
उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा।।
सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा।।
१/२५३/५-७

जब भगवान राम धनुष की ओर चले तो उनमें न हर्ष था न विषाद। इसका अर्थ यह है कि यदि अभिमान होगा तो हर्ष भी होगा और विषाद भी। सफलता मिलेगी तो अभिमानी को हर्ष होगा, असफलता मिलेगी तो विषाद होगा। भगवान राम को इसलिए हर्ष-विषाद दोनों ही नहीं हुआ, क्योंकि वे पूर्णतया कर्तृत्व-बोध से रहित हैं। श्रीराम कहते हैं कि महाराज! धनुष मैंने नहीं तोड़ा, वह तो अपने समय से ही टूटा और वह भी गुरुजी ने उस समय के तत्त्व को जाना। केवल लोगों को दिखाई दे रहा है कि मैंने तोड़ा। इसलिए मैं आपसे यही कहूँगा कि आपको जो प्रतीत हो रहा है, वह सही नहीं है।

परशुरामजी के जीवन की धन्यता का यह अन्तिम दर्शन था कि जब वे अपना धनुष, जिसे वे इतने दिनों से धारण किए हुए थे, भगवान राम को समर्पित कर देते हैं और भगवान श्रीराम उसे धारण करके बाद में उसी धनुष के द्वारा रावण का संहार करते हैं। बड़ी अनोखी बात है। रावण को मार सकने वाला धनुष स्वयं परशुराम के पास भी था, लेकिन कैसी विचित्र बात है कि इतने दिनों तक उनके पास वह धनुष होते हुए भी रावण ज्यों-का-त्यों बना रहा। यह अन्तर दिखाई दे रहा है। उन्होंने महत्त्व धनुष को नहीं, फरसे को दिया। धनुष वे रखते तो थे, पर केवल शोभा के लिए। इसलिए उन्होंने अपना नाम भी पसन्द किया तो परशुराम ही। धनुषराम कहलाना पसन्द नहीं किया, न उनको किसी ने धनुषराम कहा। जब उनके पास धनुष भी था तो उन्हें धनुषराम भी कह

सकते थे। लेकिन नहीं, उन्हें परशुराम ही क्यों कहा गया? परशुरामजी कहते थे, नहीं, सबसे अच्छा शस्त्र यह फरसा ही है। इसलिए जब भी वे किसी को फरसा दिखाते तो यही कहते–

सहसबाहु भुज छेदनिहारा।
परसु बिलोकु महीपकुमारा।। १/२७१/८

उन्होंने लक्ष्मणजी से भी यही कहा कि अरे लड़के! जरा इस फरसे की ओर देख ले, फिर मुझसे बात कर। फरसे के प्रति उनकी आसक्ति तीव्र थी। अब भगवान राम जहाँ पर धर्मरथ का वर्णन करते हैं, वहाँ पर परशु और धनुष की जो मार्मिक व्याख्या है, वह है कि दान 'परसु' दान फरसा है। और धनुष क्या है? विज्ञान ही धनुष है–

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा।। ६/७६/८

परशुरामजी के जीवन में दान के प्रति बड़ी महत्त्व-बुद्धि है। क्योंकि सारी पृथ्वी को उन्होंने पाया भी और वितरित भी कर दया, दान कर दिया, पर परशुरामजी के सामने वही समस्या है, वे बार-बार फरसे की ओर दिखाने की चेष्टा करते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? उनकी प्रदर्शन की वृत्ति मिट नहीं पाई है। तो क्या वे शास्त्रों के पण्डित नहीं हैं? क्या उनको सारे महाकाव्य याद नहीं हैं? उनके पास धनुष भी है, विज्ञान उनके पास भी हैं, पर उसका समुचित उपयोग उन्होंने कभी नहीं किया। वे केवल यही दिखाने की चेष्टा करते रहे कि मैंने जीवन में कितने बड़े-बड़े काम किए। वे ब्राह्मण हैं, परन्तु क्रुद्ध होकर कहते हैं–

निपटहिं द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही।।
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोपु मोर अति घोर कृसानू।।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भए पसु आई।।
मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हें। समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हें।।
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें। बोलसि निदरि बिप्र के भोरें।।
१/२८२/१-५

इसका सांकेतिक अभिप्राय क्या है? दान महानतम गुण है, पर महानतम गुण होते हुए भी समस्या तो बनी हुई है। दान लोभ का नाश तो करता है, उसका भी महत्त्व है, पर मोह का नाश करने में

दान का परशु समर्थ नहीं है। गोस्वामीजी कलियुग का वर्णन करते हुए कहते हैं:–

प्रगट चारि पद धर्म के कलि मँहु एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।। ७/१०३ख

कलियुग के लिए तो सर्वश्रेष्ठ धर्म दान ही बताया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दान के द्वारा समाज में न जाने कितनी सेवा, न जाने कितनी दया, दुःख और दारिद्रय का निवारण होता है, लोकहित की कितनी योजनाएँ हैं, उनमें दान का महानतम उपयोग होता है। लेकिन जीवन में यह जो अभिमान तथा मोह है, इसका नाश तो तब होगा, जब हमारी बुद्धि विज्ञान में स्थिति होगी और तभी जीवन में समग्रता आएगी। दान के द्वारा बहिरंग दृष्टि से भी बहुत-सी आन्तरिक समस्याओं का समाधान मिलेगा, पर रावण को मारने के लिए तो विज्ञान का धनुष ही चाहिए। रावण मूर्तिमान मोह है। मोह को मारने के लिए विज्ञान का धनुष होते हुए भी परशुरामजी ने उसका उपयोग नहीं किया। इसीलिए श्रीराम को देखते ही धनुष परशुराम जी के हाथ से भाग खड़ा हुआ। परशुरामजी ने उससे पूछा कि तुम भागे क्यों? धनुष बोला कि महाराज! इतने दिनों तक आपने मुझे अपने पास रखा, पर उपयोग कभी किया नहीं। उपयोग किया तो फरसे का ही किया। अतः सोचा कि जिनके पास रहकर मेरा सदुपयोग होगा, वहीं चला जाऊँ। परशुरामजी को भी परम शान्ति कब मिली? जब यह धनुष उन्होंने श्रीराम को सौंप दिया और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया।

तो यह धनुर्भंग का प्रसंग बताता है कि वस्तुतः जीवन में शान्ति कैसे मिलती है? महाराज जनक को कब मिली? और शान्ति मिलने का क्या अर्थ है?

सीताजी तो श्रीराम की शक्ति है, पर उन्हें पाने के अगणित मार्ग है। यदि हमने शान्तिरूपा श्रीसीताजी को मातृरूप में पा लिया, जो अभीष्ट है, जीवन की सार्थकता भी इसी में है।

इस प्रकार एक प्रक्रिया यह है। और यहाँ पर अंगद के प्रसंग में गोस्वामीजी कहते हैं कि अंगद ने रावण को यह संकेत किया कि तुम स्वयं मूर्तिमान मोह के स्वरूप हो और तुम मोह को जड़ से उखाड़

फेंकने में कभी भी समर्थ नहीं हो। तुम न तो मोह को छोड़ पाए न अभिमान को। तुम मोह और अभिमान दोनों से मुक्त नहीं हो। इसका अर्थ है कि तुम सीताजी को पाने में सक्षम नहीं हो।

इसलिए यह जो अंगद के द्वारा पाद-रोपण है, यह मानो सीताजी को पाने की प्रक्रिया है, पर इसके साथ-साथ गोस्वामीजी ने इसे भक्ति के सन्दर्भ में बड़े ही विलक्षण रूप में प्रस्तुत किया है। भक्ति के सन्दर्भ में अगर सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं, तो यह अंगद का चरण किस रूप में देखा जाए? और अंगद के चरण उठ जाने का क्या अर्थ है? अंगद जो यह कहते हैं कि यदि तुम मेरे पैर उठा दोगे तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा, इस दावे का अभिप्राय क्या है? इस साधना का स्वरूप क्या है? इसकी चर्चा आगे करेंगे।

⇔

दशम

पिछले नौ दिनों से जो प्रसंग चल रहा है, आज उनके समापन पर दृष्टि डालें। 'मानस' के महान पात्रों की गणना करते समय बहुधा उसमें अंगद के नाम पर उतनी सरलता से दृष्टि नहीं जाती। श्री भरत, श्री लक्ष्मण, श्री शत्रुघ्न, श्री हनुमान। इनकी महानता पर तो व्यक्ति का ध्यान तत्काल चला जाता है, पर अंगद के चरित्र में जो विलक्षण प्रतिभाएँ हैं, उस ओर दृष्टि डालें, तो उसमें आपको साधना के भिन्न-भिन्न स्तर दिखाई देंगे और प्रवृत्ति मार्ग में चलने वाले लोगों के जीवन में इस चरित का विशेष महत्त्व है, पर इतना होते हुए भी अंगद के चरित में कुछ दुर्बलताएँ हैं, जिनसे वे क्रमशः ऊपर उठते हैं और उसकी पराकाष्ठा यह होती है कि प्रारम्भ में तो वे भगवान से प्रेम करते हुए दिखाई देते है, पर अन्त में प्रभु ने अंगद को अयोध्या से विदा किया, तब वे बड़े व्याकुल भाव से प्रभु के चरणों में प्रणाम करके जाने को बाध्य हुए और लौटने के पूर्व अंगदजी ने बड़े प्रेमपूर्वक हनुमानजी से अनुरोध किया और कहा कि मेरी आपसे एक प्रार्थना है, आप बार-बार श्रीराम को मेरी याद दिलाइएगा–

कहेउ दण्डवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि।। ७/१९क

हनुमानजी ने लौटकर प्रभु के सामने अंगद के ही प्रेम का वर्णन किया। गोस्वामीजी कहते हैं कि भक्त तो भगवान के प्रेम में डूबते हुए दीख पड़ते हैं, पर श्रीराम जिनके प्रेम में डूबे हुए दिखाई देते हैं,

वे हैं अंगदजी। जब हनुमानजी प्रभु को अंगद का प्रेम सुनाने लगे, तो वे अंगद के प्रेम में डूब गए—

तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भए भगवंत। ७/१९ख

इस प्रकार जो भगवान से प्रेम करते-करते अन्त में भगवान के प्रेमपात्र बन गए, वे हैं अंगदजी महाराज।

अंगद के चरित्र को आप गहराई से पढ़ेंगे, तो आपको यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि अंगद का चरित्र तो सचमुच बड़ा विलक्षण है, बड़ा उज्ज्वल है और सचमुच वे ऊपर उठते हुए कहाँ-से-कहाँ पहुँच गए। उसी क्रम में अंगद के चरित्र के विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग है रावण की सभा में अंगद का पद-रोपण। रावण की सभा में अंगद अपना पाद रोप देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं—रावण, यदि तुम या तुम्हारी सभा का कोई व्यक्ति मेरा पैर हटाने में समर्थ होगा, तो मेरी यह घोषणा है कि मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जाएँगे। कितनी विचित्र प्रतिज्ञा है। बहिरंग दृष्टि से देखें तो लगता है कि अंगद के द्वारा बड़ी भयानक प्रतिज्ञा की गई।

अंगद के द्वारा की गई इस प्रतिज्ञा और पद-रोपण का क्या अभिप्राय है? राक्षस अंगद का चरण हटाने में समर्थ नहीं हो पाते। इसके संकेतों पर पिछले प्रवचनों में चर्चा हुई थी। वहाँ अंगद के पैर की तुलना मोह से की गई है, परन्तु वह उपमा थोड़ी अटपटी इसलिए है, क्योंकि उससे किसी के मन में प्रश्न उठ सकता है तो फिर रावण और अंगद में भेद ही क्या रहा? रावण भी तो मोह है।

परन्तु यह साहित्य की एक शैली है। मुझे विश्वास है कि आप इस शैली से परिचित होंगे और उसको आप रूढ़ अर्थ में नहीं लेंगे। वहाँ पर किसी विशेष उद्देश्य से ही अंगद के पैर की तुलना मोह से की गई है। ऐसे प्रयोग आपको कई प्रसंगो में मिलेंगे। भगवान राम जब मारीच के पीछे दौड़े, उसके पश्चात् भगवान राम का स्वर सुनकर सीताजी ने लक्ष्मण को उनके सहायतार्थ जाने के लिए कहा और जब वे चले, तो वहाँ गोस्वामीजी ने भगवान के लिए जो वाक्य कहा, वह कुछ सुन्दर-सा नहीं लगता। लक्ष्मण वहाँ जा रहे हैं, जहाँ चन्द्रमा-रूप रावण के लिए राहु-रूप राम जा रहे हैं—

बन दिसि देव सौंपि सब काहू।
चले जहाँ रावन ससि राहू।। ३/२७/६

रावण की तुलना चन्द्रमा से करना और श्रीराम को राहु बताना, यह तो प्रचलित परम्परा के विपरीत है। पर वहाँ पर इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि जैसे चन्द्रमा में जब पूर्णता का अभिमान आ जाता है और चन्द्रमा का परतियगामित्व ही उसके जीवन का कलंक है और रावण भी जैसे जनकनन्दिनी सीता का हरण करता है, तो वहाँ उसे देखकर चन्द्रमा का स्मरण आना कवि के लिए स्वाभाविक है। वहाँ पर इसका अर्थ इस प्रकार लिया गया है कि जैसे राहु चन्द्रमा को पूरी तरह से ग्रसने में समर्थ हो जाता है, वैसे ही भगवान श्रीराम की सामर्थ्य रावण को अपना ग्रास बना लेगी। वहाँ भगवान राम को राहु कहकर आदर-अनादर करने का कोई अभिप्राय गोस्वामीजी का नहीं है। इसी प्रकार से अंगद के प्रसंग में भी उनके चरण को मोह का वृक्ष कहने का अभिप्राय यही है कि रावण जैसे कुयोगी के लिए मानो अंगद का चरण मोह का वृक्ष बन गया-

मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी। ६/३३/१४

गोस्वामीजी ने अंगद के सन्दर्भ में दो और भी बड़ी मधुर उपाएँ दी हैं। 'मोह का वृक्ष' सुनकर कानों को जो एक अटपटापन लगता है, वह इन दोनों उपमाओं के द्वारा मिट जाएगा। एक उपमा तो गोस्वामीजी देते हैं, 'मानस' में और दूसरी 'दोहावली' में। 'मानस' में उन्होंने कहा—

भूमि न छाड़त कपि चरन देखत रिपु मद भाग।
कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग।। ६/३४

यह बड़ा विचित्र वाक्य कहा है और इसके दो अर्थ लिए जाते हैं, जैसे करोड़ों विघ्न आने पर भी सन्त का मन नीति का परित्याग नहीं करता, वैसे ही अंगद का पाँव भूमि को नहीं छोड़ रहा है या दूसरे अर्थ में कहें तो पृथ्वी ही अंगद के चरण नहीं छोड़ रही है। इस उपमा में पृथ्वी मानो नीति है और अंगद का चरण मानो सन्त का मन है। इस प्रकार एक तो यहाँ पर गोस्वामीजी ने उस मोह शब्द का परिहार करने के लिए अंगद के चरण की तुलना सन्त के मन से की।

दूसरी उपमा उन्होंने दोहावली में दी, बड़ा आश्चर्यजनक है और

उसके साथ बड़ी विचित्र प्रतिज्ञा है? और प्रतिज्ञा भी कहाँ की? रावण की सभा में किसी बन्दर ने अंगद से पूछ दिया कि महाराज! आपको प्रतिज्ञा करते हुए डर नहीं लगा? जब किसी बन्दर ने पूछा कि आपने उस सभा में यह प्रतिज्ञा की, जबकि आपको यह पता था कि रावण कैलास पर्वत को उठा चुका है, तो जिस रावण ने कैलास पर्वत को उठा लिया, उस रावण की सभा में यह कहना कि तुम या तुम्हारी सभा में कोई भी मेरे पैर उठा दे, यह कैसी बात है? उस समय आपकी बुद्धिमत्ता और गणित का ज्ञान कहाँ गया था? अंगद ने इसका बहुत अच्छा उत्तर दिया। वे बोले—मुझे पता था कि रावण कैलास पर्वत को उठा चुका है, तो भी मेरा पैर नहीं उठा सकेगा। बड़ी विचित्र बात है, यह कौन-सा गणित है? कोई यह कहे कि यह व्यक्ति पचास मन का बोझ उठा चुका है, तो अब वह पाँच मन का बोझ क्या नहीं उठा सकेगा? यह तो बेतुकी बात हुई।

पर अंगद ने बहुत अच्छी बात कही। इसमें बड़ा सुन्दर आध्यात्मिक तत्त्व है। रावण ने कैलास पर्वत उठाकर सचमुच ही बहुत बड़ी भूल की। रावण का यह जो कैलास पर्वत उठाना है, स्थूल दृष्टि से तो यह बड़ी वीरता का कार्य है, पर साधन और अध्यात्म की दृष्टि से रावण के जीवन की यही सबसे बड़ी भूल भी कही जा सकती है।

कैलास पर्वत को उठाने के पीछे रावण की मनोवृत्ति क्या है? भगवान राम और श्री भरत के संवाद में इसका एक बड़ा सुन्दर संकेत आता है। रावण यह घोषित कर चुका है कि शंकर मेरे गुरु हैं और भगवान शंकर रहते हैं कैलास पर। तो कैलास पर्वत सहित गुरु को उठा लेने का अर्थ क्या हुआ? गुरु शब्द का एक अर्थ है—अन्धकार को दूर करने वाला। गुरु शब्द का दूसरा अर्थ है—जब कोई वस्तु भारी होती है तो कहते हैं, वह तो बड़ा गुरुतर बोझ है। 'मानस' में कहा गया है कि सेवा-धर्म कैलास पर्वत या सुमेरु पर्वत से भी भारी है—

हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू। २/२५२/६

यह बड़ा सार्थक शब्द है। साधना में गुरु का महत्त्व क्या है? साधना में गुरु का महत्त्व श्रीराम और भरत के संवाद में चित्रकूट में व्यक्त हुआ। जब भगवान राम ने अयोध्या का राज्य चलाने का भार

भरत को सौंपते हुए कहा कि पिता के धर्म की और प्रजा की रक्षा का भार अब तुम पर है, तब भरतजी ने व्याकुल होकर कहा कि प्रभो! इतना बड़ा भार मुझे देने से पहले आपने मेरी योग्यता पर दृष्टि नहीं डाली? क्या मुझ जैसा अयोग्य व्यक्ति इतना बड़ा बोझ उठाने में समर्थ है?—

देवँ दीन्ह सबु मोहि अभारू। मोरें नीति न धरम बिचारू।। २/२६८/३

प्रभु ने गुरु वशिष्ठ की ओर इंगित करते हुए कहा कि—भरत! तुम चिन्ता क्यों करते हो, इधर देखो, ये कौन हैं? प्रभु ने बड़ा ही सुन्दर, साहित्यिक और दार्शनिक शब्द कहा। बोझ दो तरह से उठाया जाता है। एक तो बोझ को उठाकर आप सिर पर रख लीजिए। और दूसरा बोझ उठाने की शैली यह है कि जब किसी वस्तु को तौलते हैं तब उसे उठाकर सिर पर नहीं रख लेते, पर यदि आप चतुर हैं तो उस वस्तु को पहले तराजू के पलड़े पर रखेंगे, लेकिन दूसरी कला यह है कि तराजू के दूसरे पलड़े पर नाप वाला बाट रख दें, तो परिणाम क्या होगा? आपके बाट का पलड़ा जितना भारी होता जाएगा, आपके बोझ वाला पलड़ा उतना ही हल्का हो जाएगा। भगवान राम ने कहा कि भरत! सिर पर भार लाद देने की क्या आवश्यकता है, तराजू पर तौलो। और कैसे तौलो? एक ओर सार भार और दूसरी ओर के लिए गुरुदेव तो हैं ही, उन्हें रख दो, भार अपने आप हल्का हो जाएगा। भगवान का शब्द यही है, "भरत तुम कहते हो कि यह बोझ बहुत अधिक है, पर हम लोगों को गुरु वशिष्ठ जैसे गुरु प्राप्त हैं। सोचो, मैं इतना बड़ा राज्य छोड़कर चला आया, पिताजी इतने अस्वस्थ थे, पर उस समय मेरे मन में भी यही विश्वास था कि कुछ भी क्यों न हो, गुरुदेव हैं तो कोई चिन्ता नहीं है, अयोध्या का राज्य ठीक-ठीक चलता रहेगा। भरत, मैं तुम्हें भी वही मंत्र बता दे रहा हूँ कि जब कोई समस्या का भार आए, तो तुम गुरु के चरणों की धूल ले लेना—

देसु कोसु परिजन परिवारू। गुरुपद रजहिं लाग छर भारू।। २/३१४/७

ये शब्द कितने सुन्दर हैं, गुरु के चरण-रज का जो कण है, वह इतना भारी है कि वह भारी समस्याओं को हल्का बना देता है। भगवान

का सांकेतिक अभिप्राय यह है कि यदि साधक अपनी चिन्ताओं का सारा भार उनके चरणों में अर्पित कर देता है और उनके चरणों में सच्ची श्रद्धा-वृत्ति रखता है, तो वह बोझ हल्का हुए बिना नहीं रहेगा। भगवान श्रीराम ने भरतजी को यह मंत्र दे दिया—तुम विश्वास रखो, केवल गुरु के चरणों की धूल से ही सब भार हल्का हो जाएगा।

परन्तु रावण यह बहुत बड़ी गलती कर बैठा। यदि कोई व्यक्ति तराजू के पलड़े से तौलने की माप को उठा ले, तो परिणाम होगा कि वह जो भी वस्तु उठाएगा, उसे अपने परिश्रम से ही उठाना पड़ेगा। वह अपने आप नहीं उठेगी। एक ओर बाट रखते ही तराजू के पलड़े वाला बोझा अपने आप उठ जाता है। रावण की सबसे बड़ी बुद्धिहीनता यह थी कि उसने गुरु को ही हल्का बना दिया। वस्तुतः रावण का मनोभाव कुछ भिन्न ही था। परोक्ष रूप से वह कहीं न कहीं शंकरजी को हल्का ही सिद्ध करना चाहता था, क्योंकि उसने सारे संसार को जीत लिया, तो लोग कह सकते थे कि रावण ने शंकरजी को छोड़ सारा संसार जीत लिया। रावण को यह बात कचोटती थी। एक ओर तो वह शंकरजी को गुरु मानता था। दूसरी ओर वह उन्हीं को हल्का सिद्ध करना चाहता है।

एक प्रसिद्ध घटना है। काशी के एक बड़े विद्वान् थे। वे सारे देश में शास्त्रार्थ करने गए। सबको हरा दिया। लौटकर आए तो जिन गुरुदेव से उन्होंने विद्या प्राप्त की थी, उन्होंने प्रेम से पूछा कि बेटा! मैंने तो सुना है कि तुमने सारे विद्वानों को हरा दिया। उन्होंने कहा कि गुरुजी! बस आप ही बाकी हैं। यह क्या है? बड़ी विद्वता का अभिमान है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी न किसी रूप में कहना कि मैं आपसे शास्त्रार्थ नहीं कर रहा हूँ, यह मेरी शिष्टता है, नहीं तो आप भी मेरी विद्वता के सामने टिक नहीं सकेंगे। गुरु का अभिप्राय है अभिमान का त्याग। जब शिष्य ने अपना अभिमान गुरु के चरणों में अर्पित किया, तो शिष्य हो गया हल्का और गुरु हो गए भारी। गुरु का गुरुत्व यही है।

रावण ने सोचा—शंकरजी से सीधे लड़ें तो लोग आलोचना करेंगे कि गुरुजी से लड़ गया और न लड़ें तो कहेंगे कि शंकरजी से छोटा

है। तो कुछ ऐसा उपाय करें कि गुरु भी हल्के हो जाएँ और कोई दोष भी न दें।

रावण को एक उपाय सूझा। शंकरजी कैलास पर्वत पर बैठे थे उसने जाकर कैलास पर्वत को ही उठा लिया। अब बाहर से देखने से तो यही लगा कि बड़ी श्रद्धा का कार्य कर रहा है, पर याद रहे, यह भी एक ढंग है। लोग तो गुरु के चरणों में प्रणाम करते हुए अपना सिर रख देते हैं और रावण ने गुरु को ही उठाकर अपने सिर पर रख लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि जब गुरु के चरणों में सिर रखेंगे, तो आपके सिर का भार गुरु के चरणों में चला गया, पर जब आप गुरु को अपने सिर पर उठा लेंगे, तब उनको अपने सिर पर बोझ बना लेंगे। रावण का उद्देश्य यही था। रावण यह बताना चाहता है कि यह तो मेरी शिष्टता है कि मैं लड़ नहीं रहा हूँ। पर मैं यह भी दिखा देना चाहता हूँ कि ये बिल्कुल हल्के हैं, इन्हें तो मैंने ही गुरु बना रखा है। शंकर जी बड़े कौतुकी हैं। वे बड़े प्रसन्न हुए। बोले कि चलो, अच्छा हुआ, पहले चरणों में प्रणाम करता था, जिसका बोझ मुझे उठाना पड़ता था, अब यह इतना अभिमानी हो गया है कि मेरा बोझ उठाना चाहता है। हल्का हो जाने में मुझे क्या आपत्ति है। इसका सांकेतिक अभिप्राय क्या है? जब उसने आधार को उठाकर सिर पर उठा लिया, जिसके बल पर खड़े होकर वह अपना शौर्य प्रदर्शन करता था, जब आधार ही उठ गया, गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास ही उठ गया, तब उसके पास किसका बल बचा? इसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि रावण अभिमान के कारण ही शिव की कृपा से वंचित रह गया।

रावण ने कैलास को उठाकर संसार को दिखा दिया, परन्तु अब तो वह धनुष को भी नहीं उठा पाता, अंगद को भी नहीं उठा पाता। क्यों नहीं उठा पाता? जिसके सहारे उठा पाता था, वह वस्तु ही जब नहीं रह गयी, तो कैसे उठा पाएगा। वह वस्तु भगवान राम के पास थी। अन्य राजाओं ने भी धनुष को उठाने का प्रयत्न किया, पर उसे हिला भी नहीं सके। फिर जब श्रीराम उठे, तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान ने प्रयत्न भी नहीं किया और धनुष स्वयं ही उठ गया। गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु ने तो उसी कौशल से उठाया जो उनके

पास था। श्रीराम धनुष को तत्काल नहीं उठा लेते। धनुष जो इतना भारी था, वह हल्का कब हुआ? वह हल्का तब हुआ जब तराजू के दूसरे पलड़े पर धनुष से भी भारी बोझ आ गया। धनुष के पास पहुँचकर प्रभु ने क्या किया?मन ही मन गुरुदेव को प्रणाम किया—

गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा।
अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा।।१/२६१/५

और कहा, गुरुदेव, आपने ही धनुष उठाने तथा तोड़ने को कहा है, अतः यह कार्य आपके ही बल से होना है। 'अति लाघव' यह लाघव शब्द लघु से बना है और गोस्वामीजी ने इस पंक्ति में लघु और गुरु, दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ज्योंही श्रीराघवेन्द्र ने माना कि यह तो गुरुजी का संकल्प है, गुरुजी की कृपा से पूरा होने वाला है, इसमें मैं तो केवल निमित्त दिखाई दे रहा हूँ। इस निरभिमानता, इस विनम्रता और इस गुरुभक्ति के कारण ही मानो वह अभिमान का धनुष हल्का हो गया। श्रीराम साक्षात् ईश्वर होते हुए भी संसार के सामने मानो यह एक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

उस धनुष-यज्ञ में रावण भी आया था, परन्तु उसने धनुष उठाने की चेष्टा ही नहीं की। इसका एकमात्र कारण यह है था कि रावण जिसकी कृपा से वह धनुष उठा सकता था, अभिमान के कारण उनकी कृपा से वंचित हो चुका था। अंगद बोले कि मुझे यह पता था कि यह शंकर के कैलास को उठने वाला नहीं है। जब इसने गुरु को ही हल्का बना दिया है तो अब कोई बोझ उठाने की शक्ति इसमें नहीं है। इसका एक दूसरा तात्पर्य भी है। पूछा गया कि अंगद का चरण न उठने का क्या अभिप्राय है? गोस्वामीजी बोल, दो में से एक बात होगी या फिर दोनों होंगी। कौन सी? वे कहते हैं कि मैं समझ नहीं पाता कि इसमें प्रभु की महिमा देखूँ कि सेवक का विश्वास—

तेहि समाज कियो कठिन पन जेहिं तौल्यो कैलास।
तुलसी प्रभु महिमा कहौं सेवक को बिस्वास।।
(दोहावली, १६७)

इस प्रकार एक ओर तो अंगद का चरण सन्त के मन का प्रतीक है और 'दोहावली' में गोस्वमीजी अंगद के चरण को भक्तों के विश्वास

का प्रतीक बताते हैं। रावण की सभा में अंगद की जो प्रतिज्ञा है, यही उनके जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। सर्वोच्च स्थिति का अर्थ क्या है?

ज्ञान का अर्थ है जान लेना। अंगद में ज्ञान और विचार तो पहले से ही था, लेकिन इस ज्ञान का फल है विश्वास। जब हम किसी बात को जानते हैं, जैसे किसी विद्यार्थी ने अपनी पढ़ाई ठीक से की है तो उसकी कसौटी क्या है? उसने जो पढ़ा है उसकी स्मृति यदि उसकी परीक्षा के समय आ जाए, तो वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है और यदि वह उस समय भूल जाए तो अनुत्तीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान की चरम परिणति है जान लेना—

जाने बिनु न होइ परतीती। ७/८८/७

विश्वास दो प्रकार का होता है, बिना जाने विश्वास और जानकर विश्वास। बिना जाने विश्वास में धोखे की सम्भावना बनी रहती है। विश्वास के कारण कई लोग ठगे जाते दिखाई देते हैं। जहाँ पर विश्वास के कारण व्यक्ति ठगा जाता है, वहाँ समझना होगा कि वह अज्ञानमूलक तथा लोभमूलक विश्वास है या किस वृत्ति से प्रेरित विश्वास है। आपने सुना होगा कि किसी साधु वेशधारी ने लोभ दिखा दिया कि हम तो नोट दूना बनाते हैं। सामने वालों ने विश्वास कर लिया। यह विश्वास ज्ञानजन्य नहीं, लोभजन्य है। रहीम ने बहुत बढ़िया बात कही है, जैसे चश्मा लगा लेने से सामने की वस्तु बड़ी दिखाई देने लगती है, वैसे ही जब व्यक्ति लोभ का चश्मा आँख पर चढ़ा लेता है, तो छोटा व्यक्ति भी बड़ा दिखने लगता है—

दिए लोभ चश्मा चखनि दीनहु बड़ो लखाय।

यदि नोट दूना करने वाला चश्मा चढ़ा तो धूर्त भी एक बड़ा साधु लगने लगता है। व्यक्ति उससे ठगा जाता है। यह तो अज्ञानजन्य, लोभजन्य विश्वास है, उस विश्वास में तो हानि की सम्भावना है। लेकिन गोस्वामीजी जिस मार्ग से विश्वास की प्राप्ति बताते हैं, उसके अनुसार भगवान की सबसे बड़ी कृपा तब है, जब विश्वास प्राप्त हो जाए—

रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीति।। ७/८८/६-७

ज्ञान में व्यक्ति के पुरुषार्थ की प्रधानता है, पर विश्वास तो पूर्णतः

भगवत्कृपा का ही फल है। जानने के बाद उस अवस्था में प्रतिष्ठित होना, अंगद के चरित्र की विशेषता है-

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु। ७/६०

वस्तुतः यह विश्वास ही भक्ति का प्राण और भक्ति का सर्वस्व है। और वहाँ यह भी कहा गया—बिना प्रेम के भक्ति दृढ़ नहीं होती—

प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। ७/८८/८

प्रेम बिना विश्वास के नहीं आता। विश्वास बिना ज्ञान के नहीं होता। 'मानस' में तो विश्वास की व्याख्या बड़े ही विस्तार से और विशद रूप में की गई है। विश्वास में क्या विशेषताएँ होती हैं, क्या समस्याएँ आती हैं, उसे भिन्न-भिन्न प्रसंगों में अलग-अलग प्रतीकों के माध्यम से प्रकट करने की चेष्टा की गई है। जैसे विश्वास का एक रूप यह बताया गया कि सन्त समाज मानो तीर्थराज प्रयाग है। आप लोग तो तीर्थराज प्रयाग का दर्शन करने गए होंगे, वहाँ 'अक्षयवट' के दर्शन की परम्परा है। त्रिवेणी संगम के पास एक वटवृक्ष है। उस वटवृक्ष के साथ परम्परा से एक शब्द जुड़ा हुआ है—'अक्षय-वट'। गोस्वामीजी कहते हैं, जहाँ सत्संग हो रहा है, वही त्रिवेणी संगम है तो अक्षयवट क्या है? गोस्वामीजी सूत्र देते हैं, अचल विश्वास ही अक्षयवट है—

बटु बिस्वास अचल निज धरमा। १/१/११

वह अचल शब्द ही उसका प्राण हैं। विश्वास का प्राण है अचल। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि आप कहीं से वट का वृक्ष देखकर चले जाएँ और प्रयागराज के उस वटवृक्ष को देखें, तो बहिरंग दृष्टि से तो दोनों में कोई भेद नहीं दिखेगा, लेकिन भेद है। अन्य वट को हम वट कहते हैं, पर तीर्थराज के संगम पर जो वट है, उसके साथ-साथ एक शब्द और जोड़ देते हैं—'अक्षयवट'। देखने में तो सारे वट एक जैसे दिखाई देते हैं, लेकिन उनमें और अक्षयवट में बड़ा भेद है।

जितने लोग मिलते हैं, सभी कहते हैं कि मैं ईश्वर पर विश्वास करता हूँ, ईश्वर को मानता हूँ। लाखों लोग विश्वासी हैं और सभी एक जैसे दिखाई देते हैं। परन्तु उनका विश्वास क्या अचल और अक्षय है?

अब इस वृक्ष का नाम अक्षयवट क्यों पड़ा? इसकी क्या विशेषता है? इसका परिचय आपने पुराणों में पढ़ा होगा।

'मानस' में भी गोस्वामीजी ने चित्रकूट में जहाँ पर श्रीभरत पुरवासियों और परिवार के साथ प्रभु के पास जाते हैं, वहाँ सीताजी और जनकजी के प्रसंग में एक रूपक का प्रयोग किया।

मार्कण्डेयजी बड़े दीर्घजीवी महापुरुषों में गिने जाते हैं। एक बार उन्होंने भगवान से कहा कि प्रभो! मैं प्रलय देखना चाहता हूँ। भगवान मुस्कुराकर बोले कि तुम जरूर देखोगे। क्यों? इसलिए कि तुम्हारी आयु इतनी लम्बी है, तो प्रलय भी तुम्हारे सामने आ ही जाएगा, तब देख लोगे। मार्कण्डेयजी ने कह कि नहीं महाराज, प्रलय आएगा तो हमें भी मर जाना पड़ेगा। मैं प्रलय देखना चाहता हूँ, पर बिना मरे ही देखना चाहता हूँ। प्रलय देख भी लूँ और मरूँ भी नहीं। भगवान ने कहा कि ठीक है, देखेंगे। उसके बाद अचानक भगवान अन्तर्धान हो गए और मार्कण्डेयजी को चारों ओर प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगा, जैसा कि पुराणों में वर्णन आया है—सारा समुद्र उमड़ पड़ा, सारी पृथ्वी उसमें डूब गई और प्रयाग की भूमि पर भी जल लहराने लगा। और तब मार्कण्डेय को लगा कि हम भी डूबे जा रहे हैं। सहसा उन्होंने एक वृक्ष देखा। ज्यों-ज्यों जल बढ़ रहा था, त्यों-त्यों वह वृक्ष ऊपर उठता जा रहा था। देखकर चकित हो गए। बड़ी विचित्र बात है, सब डूब रहे हैं, पर यह तो ऊपर ही उठता जा रहा है। और इससे भी अधिक आश्चर्य उन्हें तब हुआ, जब उन्होंने देखा कि उस वृक्ष के एक पत्ते पर एक दिव्य सुन्दर साँवले रंग का बालक लेटा हुआ मुस्कुरा रहा है और उसके पैर का अँगूठा उसके मुँह में है। आश्चर्य! सब डूब रहे हैं, और यह बालक बचा हुआ है। बचने के लिए उस बालक ने स्थान भी चुना तो वट के पत्ते को चुना और उससे भी अधिक आश्चर्य कब हुआ? जब मार्कण्डेय जी को लगा कि अब मैं डूबने ही वाला हूँ, तो उस बालक ने मार्कण्डेय की ओर अँगुली बढ़ाई। बालक ने बूढ़े को बचाने के लिए जब हाथ बढ़ाया, तो बड़ा अद्भुत दृश्य था। बालक डूबने लगे तो बूढ़े लोग हाथ बढ़ाकर बचाते हैं, पर यहाँ तो बूढ़े मार्कण्डेय डूब रहे हैं, तो बालक ने हाथ बढ़ा दिया। मार्कण्डेय ने ज्योंही हाथ पकड़ा, भगवान ने ऊपर से सहारा दे दिया। वे भगवान बालमुकुन्द थे। परिणाम यह हुआ कि शान्त होकर वे उसकी डाल के पास खड़े हो गए, सारा

प्रलय का दृश्य समाप्त हो गया। भगवान ने कहा कि मार्कण्डेय! तुम प्रलय देखना चाहते थे, सो मैंने तुम्हें दिखा दिया।

गोस्वामीजी कहते हैं—अक्षयवट अचल विश्वास है। विश्वास के सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने बड़े महत्त्व की बात कही है—केवल चिल्लाने से नहीं होगा कि मेरे पास विश्वास है, मेरे पास विश्वास है। विश्वास तो तब होगा, जब प्रलय होने लगेगा। सृष्टि का प्रलय होगा तब की बात तो अलग है, पर हमारे आपके जीवन में प्रलय होते ही रहते हैं। प्रतिकूलताएँ समुद्र की तरह उमड़ पड़ती हैं और उससे हम चारों ओर से हताश हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि हम गए। ऐसी परिस्थितियाँ हम लोगों के जीवन में आती हैं, तब व्यक्ति को लगता है कि इस समस्या से हम पार नहीं पा सकेंगे। मानो संकेत यह है कि प्रतिकूल परिस्थिति, सब कुछ डूब जाने की परिस्थिति में जो विश्वास बढ़े वही सच्चा विश्वास 'अक्षयवट' है।

जबलपुर में हमारे एक परिचित व्यक्ति थे। पहले तो वे शंकरजी की बड़ी भव्य पूजा करते थे। फिर उनके जवान पुत्र की मृत्यु हो गई। उन्होंने नौकर को आदेश दिया कि शंकरजी की जितनी भी मूर्तियाँ हैं, उन्हें फेंक आओ। इसका अर्थ क्या हुआ? इतने दिन तक तो ऐसा लगता था कि उन्हें पूजा में बड़ा विश्वास था और समझते थे कि मुझे बड़ा विश्वास है, पर जब उनके सामने यह दृश्य उपस्थित हुआ तो उन्हें क्या लगा? लगा कि भगवान ने तो मेरे साथ यह बड़ा विश्वासघात किया है। यह विश्वास तो अक्षय नहीं है। विश्वास की पहली शर्त यह है कि वह अति प्रतिकूल परिस्थिति में भी बढ़ता ही जाए, घटे नहीं।

दूसरा संकेत है—प्रलय के समय वट के पत्ते पर भगवान बैठे हैं, इसका अर्थ क्या है? मानो भगवान ने मार्कण्डेय से कहा कि जब जीवन में प्रतिकूलताओं का समुद्र उमड़ता है, तब सब कुछ डूब जाने पर भी जो बचा रहे, वही विश्वास है। जिसके सहारे जीवन बचा रहता है और विश्वास न रह जाए तो ईश्वर भी बचा नहीं रह सकता। आस्था और विश्वास न रह जाए तो ईश्वर का कोई प्रमाण ही नहीं रह जाएगा। चित्रकूट के प्रसंग में जिसकी चर्चा मैंने अभी आपसे की थी, गोस्वामीजी सीताजी और जनकजी के प्रसंग में इसे इस प्रकार कहते हैं—वट वृक्ष

के पत्ते पर जो बालक सोया हुआ है, वही मानो 'रामप्रेम'—

ता पर राम प्रेम सिसु सोहा।।
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकलु जनु।
बूड़त लहेउ बाल अवलंबु।। २/२८५/६-७

गोस्वामीजी ने इन तीन बातों को जोड़ दिया—वट का वृक्ष, भगवान और मार्कण्डेय। वे कहते हैं—मार्कण्डेय ज्ञान हैं, वट का वृक्ष विश्वास है और यह जो भगवान बालमुकुन्द हैं, वह हैं 'रामप्रेम'। ज्ञान की शोभा वृद्धता में है और प्रेम की शोभा बालक होने में। क्योंकि ज्ञान की परिपक्वता वार्धक्य में मानी जाती है। जैसे वृद्ध की शोभा उसकी परिपक्वता से आंकी जाती है, प्रेम के संदर्भ में इससे ठीक उल्टी बात है। कोई यह नहीं कहता कि ये बड़े परिपक्व प्रेमी हैं। तो जैसे छोटा बालक दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, तभी प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार से प्रेम की स्थिति है। प्रेम की शोभा स्थित हो जाने की तुलना में बढ़ते जाने में ही है। प्रेम का अर्थ ही है जो नित्य नवीन रहे। ज्ञान में बढ़ता-घटता कुछ नहीं। एक बार उसकी प्राप्ति होने के बाद वह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर गोस्वामीजी कहते हैं कि चित्रकूट में भी जब जनकजी के हृदय में श्री किशोरीजी को वन की विपरीत परिस्थितियों में देखा तो जनकजी की स्थिति उन्हीं मार्कण्डेयजी की तरह हो गयी और वे भी इस प्रलय से श्रीराम के प्रेम के सहारे इस प्रलय से उबर सके—

मोह मगन मति नहिं बिदेह की।
महिमा सिय रघुबर सनेह की।। २/२८५/८

गोस्वामीजी कहते हैं कि मैं श्रद्धारूपी भवानी और विश्वासरूपी शंकरजी की वन्दना करता हूँ—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। १/२ मंगलाचरण

यही विश्वास का दूसरा रूप है। भगवान शंकर ने विष को भी पी लिया और उसे अमृत बना लिया। इसलिए विश्वास की दूसरी परिभाषा है, वह जो विष को भी अमृत बना सकता है। शंकरजी के जीवन में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। साधारण विश्वास तो कोई भी कर सकता है, विश्वासपूर्वक मिठाई का प्रसाद लीजिए, कल्याण होगा।

मिठाई का प्रसाद तो कोई भी ले लेगा—चलो, कल्याण नहीं भी हुआ, तो मिठाई का स्वाद तो मिलेगा ही। मिष्ठान्न का प्रसाद ले लेने में और तुलसीदल या जल का चरणोदक लेने में व्यक्ति यह मानकर चलता है कि चलो, कोई लाभ न हो, तो कोई हानि भी तो नहीं है।

एक युवक ने मुझसे एक दिन बड़ा तर्क किया कि मुझे तो ईश्वर पर कोई विश्वास नहीं है। कुछ दिन बाद जब मैं काशी में गोस्वामीजी द्वारा प्रतिष्ठापित संकटमोचन हनुमानजी के दर्शन को गया, तो वहाँ वही युवक हनुमानजी के सामने हाथ जोड़े खड़ा हुआ है। दर्शन कर चुका, तो मैंने उससे पूछा कि लगता है, तुम्हारे विचार बदल गए। उसने कहा नहीं, बदला तो नहीं है। फिर यहाँ कैसे आ गए?' उसने कहा कि आजकल परीक्षाएँ चल रही हैं। इस समय छात्रावास के सभी विद्यार्थी यहाँ दर्शन करने आते हैं, तो मुझे डर लगता है कि सब जा रहे हैं और मैं न जाऊँ तो क्या पता, हनुमानजी हों ही और मुझे फेल कर दें, तो इससे अच्छा है कि चलो, जाने में क्या हानि है? न हुआ, तो समझ लो घूम आए। केवल हाथ ही तो जोड़ना है, सिर ही तो झुकाना है, इसमें हानि क्या है? यदि हैं तो ठीक न हों तो भी ठीक।

तो इस प्रकार का विश्वास तो न जाने कितने लोग करते हैं, पर विश्वास का अभिप्राय यह है कि शंकरजी को पीने के लिए विष दिया गया और उसे भी वे पी गए। मीरा को चरणोदक के रूप में विष दिया गया। मीरा को पता था कि यह विष है, पर कितनी अगाध आस्था रही होगी, कितना अगाध विश्वास रहा होगा कि उन्होंने कहा कि नहीं, नहीं, यह भगवान का चरणोदक है, इससे कल्याण ही होगा। भगवान शंकर को ज्योंही विष दिया गया, प्रभु का नाम लेकर उन्होंने उस विष को पी लिया और उस विष को उन्होंने अमृत बना लिया—

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फल दीन्ह अमी को।। १/१८/८

शंकरजी उस विष को पीकर अमर हो गये। विष अमृत हो गया। इस प्रकार से विश्वास की पहली आवश्यकता यह है कि वह अक्षय है और दूसरी विशेषता है कि वह विष को भी अमृत बना देता है।

पर ऐसे जो विष को भी अमृत में परिणत करने वाले शंकरजी हैं, उनके लिए भी कितनी कठिन समस्या है? विश्वास की बार-बार परीक्षा होती है और उस परीक्षा में व्यक्ति बड़ी कठिनाई से उत्तीर्ण हो जाता है।

शंकरजी के साथ क्या हुआ? पार्वजीजी के साथ शंकर जी का विवाह होना निश्चित हो गया है। दूल्हा बारात लेकर पहुँच गया है। पार्वतीजी श्रद्धा हैं और भगवान शंकर है विश्वास। श्रद्धा-विश्वास का विवाह होना है। क्या यह इतना सरल है? श्रद्धा और विश्वास का विवाह होने के लिए पहले तो सतीजी का पुनर्जन्म हुआ। दक्षपुत्री के स्थान पर वे हिमालय की पुत्री बनीं। सती-शरीर का परित्याग किया। नया जन्म लेकर कितनी तपस्या की, तब भगवान शंकर ने स्वीकार किया। श्रद्धा-विश्वास का मिलन होने वाला है, लेकिन अभी परीक्षा बाकी है। पार्वती किसकी बेटी हैं? माता-पिता कौन हैं? पिता हिमाचल हैं और माँ है मैना। वही सूत्र है—हिमाचल माने जो अचल है। पर्वत का एक नाम है अचल। पार्वती के पिता अचल है और माँ मैना अर्थात् 'बुद्धि' हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब मैना और हिमाचल का योग हो, जब अचल-आस्था और शुद्ध-बुद्धि का योग हो, तब श्रद्धा का जन्म होता है। अब जब परीक्षा हुई, तो मैना यानी इतनी पैनी बुद्धि भी प्रारम्भ में अनुत्तीर्ण हो गई। इसलिए तो महापुरुषों ने भगवान से प्रार्थना की है कि प्रभो, मेरे विश्वास की परीक्षा कभी मत लेना। दूसरे लें तो कोई बात नहीं, लेकिन आप न कीजिएगा, क्योंकि वह विश्वास तो हमें आपसे ही मिलता है और आप ही हमारे विश्वास तो छीनकर हमारी परीक्षा लेंगे, हममें विश्वास देखना चाहेंगे, तब तो हम अनुत्तीर्ण हुए बिना नहीं रहेंगे। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी प्रतिकूल परस्थिति होने पर विश्वास खो बैठता है। मैना ने तो हिमाचल से बुद्धि की भाषा में कह दिया था, घर भी अच्छा हो, वर भी अच्छा हो और उसका कुल भी अच्छा हो—

जौं घरु बरु कुल होइ अनूपा। करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा।। १/७०/३

पर जब बाद में पता लगाया कि शंकरजी का घर कहाँ है? तो पता चला कि श्मशान में रहते हैं। जब पता लगाया कि इसका कुल कौन-सा है? तो पता चला कि उनके पिता का ही कुछ पता नहीं है

और जब पूछा कि वर कैसा है? तो बोले—पागल हैं। फिर यह दूल्हा आया था अपने स्वाभाविक वेश में। शंकरजी यदि चाहते तो रूप बदलना उनके संकल्प मात्र से ही सम्भव था। और जब देवताओं ने कहा कि "महाराज, कुछ समय के लिए आप जरा अपना यह रूप छोड़ दीजिए।" तो शंकर जी ने मुस्कुराकर कहा—"अब जब श्रद्धा की परख ही हो रही है, तो हमारा असली रूप देखकर श्रद्धा यदि बनी रहे, तब तो वह श्रद्धा है, नकली रूप देखकर जो हो, वह वास्तविक श्रद्धा है क्या? श्रद्धा तब मानेंगे, जो विश्वास के प्रतिकूल रूप को देखकर भी बनी रहे। अब संसार के जो दूल्हे हैं, वे बिचारे यही कोशिश करते हैं कि अन्य दिन चाहे न भी मिले, पर उस दिन तो सवारी अवश्य मिल जाए। अन्य दिन उतना अच्छा कपड़ा न भी हो, पर उस दिन मिल जाए। इस बात का संसार में बड़ा सम्मान है, इसके बिना वर दूल्हा नहीं माना जाता। पर भगवान शंकर कहते हैं कि जो वरत्व सवारी और कपड़े से मिलेगा, वह तो दूसरे दिन उतर जाएगा, पर मेरा वरत्व तो यही है कि मैं जैसा हूँ, वैसा ही चलूँगा, नकली वेश में बिल्कुल नहीं।

इधर मैना सोने की थाल में दीपक जलाए हुए प्रतीक्षा कर रही थीं। उसके मन में कैसी मधुर-मधुर कल्पनाएँ उठती हैं। मैंना उस बुद्धि की प्रतीक हैं कि जो दूल्हे का काल्पनिक रूप का चिन्तन कर प्रसन्न रहती हैं। परन्तु जब दूल्हा द्वार पर पहुँचा और मैना थाल लेकर आईं, तो क्या दिखाई पड़ा? बिल्कुल उल्टा दृश्य—

मैंना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी।।

कंचन थार सोह बर पानी। परिछन चली हरहि हरषनी।। १/९५/२-३

इस दूल्हे की आरती कौन उतारे? थाली पटक दिया और बस, घर में रोना-धोना मच गया—

बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा।।

भागि भवन पैठीं अति त्रासा। १/९५/४-५

बुद्धि भ्रमित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कल्पित चीज पर हम आस्था और विश्वास भले ही पा लें, पर कभी-कभी जब वह अपने वास्तविक रूप में आती है, तो हम देखकर चौंक जाते हैं। मैना जैसी बुद्धिमती, नारी जिनकी बुद्धि बड़ी पैनी है, वे भी भ्रमित हो जाती हैं

और उनकी बुद्धि यहाँ तक बिगड़ती है कि जिसने इस विवाह की योजना बनाई, उसको भी दस-पाँच बातें सुना दी—

नारद कर मैं काह बिगारा। भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा।।

साचेहुँ उन्ह कें मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया।।

पर घर घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा।।

१/९६/१, ३-४

नारद से रुष्ट, शंकर से भी रुष्ट। नारद गुरु हैं, शंकर इष्ट हैं। विश्वास जब हमारी कल्पना के अनुरूप नहीं आता, तब हमारे मन में गुरु और इष्ट दोनों के प्रति भ्रान्ति पैदा हो जाती है। वह भ्रान्ति पार्वती में नहीं हैं। उन्हें ऐसा नहीं लगा कि कैसे पागल से मेरा विवाह कर दिया, क्यों? देवताओं ने शंकरजी को उलाहना दिया कि "महाराज, मैना को यदि धोखा हुआ, तो इसमें दोष तो आपका ही है। एक दिन के लिए आप ये साँप आदि हटा लेते, तो कुछ बिगड़ जाता क्या? अब साँप को देखकर तो किसी को भी डर लगेगा। शंकरजी बोले कि पार्वती ने भी सर्प देखा, पर उन्हें तो डर नहीं लगा। डरना मैना को चाहिए या पार्वती को? विवाह तो पार्वती से हो रहा है। जो मेरे पास बैठेगी, उसे यदि डर लगे तब तो समझ में आता है। मैना को तो बस दूर से ही आरती उतारनी थी। यही तो दृष्टि का भेद है।

किसी ने पार्वती से पूछा कि आपको शंकरजी के शरीर पर साँप देखकर कैसा लगा? वे बोलीं—मैं तो यह सोचकर गद्‌गद हो गई कि सर्प तो काल है, काल से सब डरते हैं, पर धन्य हैं हमारे पतिदेव, जिन्होंने उसे भी आभूषण बना रखा है। जब मैं देखती हूँ कि काल को आभूषण बनानेवाला दूल्हा मिला, तब तो मेरे जीवन में सौभाग्य नष्ट होने की समस्या ही नहीं है। शंकरजी कहते हैं कि मैना तो केवल सर्प ही देखती रह गयीं। सर्प किसके हाथ में है? उसे धारण करने वाला कौन है? उस पर सर्प का परिणाम हो रहा है या नहीं, यह सब दिखाई ही नहीं दिया, पर अन्त में बुद्धि का वह दोष मिटा। नारदजी हार मानने वाले नहीं थे। सन्तों के प्रति भी कभी-कभी क्रोध आ जाता है, पर सन्त कभी हार नहीं मानते। नारदजी तुरन्त सप्तर्षियों को लेकर पहुँचे और मैना से पूछा कि तुमको इतनी चिन्ता क्यों हो रही है?

सुनकर मैना का पारा और चढ़ गया। बोलीं कि बेटी की चिन्ता मैं न करूँगी, तो क्या आप करेंगे? आपका क्या, आपके तो न बेटी, न घर, न परिवार है—

बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा। १/६६/४

हिमाचल की आस्था तो अचल रही, पर बुद्धि थोड़ी देर के लिए विचलित हो गई। जब विश्वास हमारी कल्पना से भिन्न भयानक रूप में सामने आता है, तब बुद्धि विचलित हो जाती है और तब उसे शान्त करने का उपाय है सत्संग। मैना की बुद्धि की भ्रान्ति सत्संग से दूर हुई। सन्त स्वयं आ जाएँ या फिर हमें सन्तों के पास जाना चाहिए।

नारदजी ने कहना प्रारम्भ किया। मैनाजी, पहले यही निश्चय हो जाना चाहिए कि ये तुम्हारी बेटी हैं या तुम इनकी बेटी हो और कहा—भले ही ये तुमको बेटी दिखाई दे रही हैं, पर वस्तुतः ये तुम्हारी बेटी नहीं, माँ हैं, जगदम्बा हैं। तुम इनकी चिन्ता मत करो, बल्कि ये ही तुम्हारी चिन्ता करें। माँ को ही अपनी सन्तान की चिन्ता करनी चाहिए—

मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदम्बा तव सुता भवानी।। १/६७/२

आप सोच रही हैं कि पार्वती का विवाह शंकरजी से नहीं होने देंगी, पर देखिए तो पार्वती कहाँ बैठी हुई हैं? जब ये बातें हो रही थीं, तो पार्वजीजी मैना की गोद में बैठी थीं, पर नारदजी के कहने पर मैना ने क्या देखा? अद्‌भुत दृश्य था। मैनाजी ने देखा कि पार्वती भगवान शंकर की गोंद में बैठी हुई हैं। नारदजी ने दृष्टि देकर कहा—देखा, पार्वतीजी कहाँ हैं? मानो मैना को संत के द्वारा वह दृष्टि मिली जो दिख रहा है, सत्य वह नहीं है, जो तत्त्वतः सत्य है, वह यह है कि जिनसे वे कभी अलग नहीं हो सकती, जिनकी वे अभिन्न शक्ति हैं, वे हैं भगवान शंकर—

अजा अनादि सक्ति अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि।।
जग सम्भव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि।।
१/६७/३-४

और तब पार्वती के माता-पिता मैना और हिमाचल—दोनों बड़े प्रसन्न हुए और सबसे पहला काम उन्होंने जो किया, वह था कि उन्होंने

पार्वतीजी को साष्टांग प्रणाम किया—

तब मयना हिमवंतु अनंदे। पुनि पुनि पारबती पद बंदे।। १/६८/१

एक बार नहीं बारम्बार। पार्वती जी संकोच में पड़ गयीं, पूछती हैं—मुझे क्यों प्रणाम कर रहे हैं आप लोग। मैना और हिमाचल ने कहा—कि बचपन से ही हर रोज तो तुमने प्रणाम किया है, अब जीवन भर तुम्हें प्रणाम करके ही हम तुम्हारे प्रणाम को नहीं लौटा पाएंगे।

इसके बाद तीसरा संकेत है—विश्वास की कल्पित रूपरेखा के स्थान पर विश्वास के वास्तविक स्वरूप को देखें। विश्वास शिव हैं। वे कभी रुद्र रूप में भी दिखाई देते हैं, पर तत्त्वतः शिव तो शिव हैं, कल्याण-स्वरूप हैं। पर कभी-कभी जीवन में प्रतिकूलता आ जाती है। दूसरा संकेत था कि विश्वास अक्षयवट है वह कभी नष्ट नहीं होता। विश्वास विष को अमृत बना देता है और प्रतिकूलता में भी कल्याण-स्वरूप है। तत्त्वतः वह शिव है। विश्वास चाहे शिव के रूप में दिखाई दे या रुद्र के रूप में दोनों रूपों में वह शिव है।

गोस्वामीजी ने विश्वास के रूप में भरतजी के हृदय को चुना और उसकी तुलना आकाश से की। जैसे नभ में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि उदित रहते हैं, वैसे भी भरतजी का प्रेम चन्द्रमा है और जप, तप, पूजा, उपवास आदि मानो तारे हैं—

नखत भरत हिय बिमल अकासा। २/३२४/४

लेकिन इसमें सबसे विलक्षण तारा कौन-सा है? ये तारे अपना स्थान बदलते रहते हैं। कभी इधर दिखाई देते हैं कभी उधर। लेकिन इनमें एक तारा ऐसा है, जिसे 'ध्रुव' कहते हैं। ध्रुव अर्थात् जो अपना स्थान कभी न छोड़े। इसलिए विवाह की विधि में, वर-कन्या का गठबन्धन करने के बाद दोनों से कहा जाता है। अब तुम ध्रुवतारे को देखो। अब मण्डप तो बना हुआ है घर में। तो ऐसी स्थिति में आकाश में ध्रुव कैसे दिखाई देगा। तो कहना होगा कि दूल्हा-दुल्हन दोनों को नहीं दिखाई दे रहा है। उस समय शास्त्र का निर्देश है कि न दिखाई दे तो भी दोनों को कहना चाहिए कि दिखाई दे रहा है। तो क्या यह झूठ बोलने की प्रेरणा दी जा रही है। शास्त्र का अभिप्राय यह है कि आँख से दिखाई देना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्व ध्रुव के तात्पर्य का

है और वह तो व्यक्ति के हृदय में है। अगर वह ध्रुववृत्ति आ गई, तो स्थूल आँखों से दिखाई दे रहा है या नहीं इसका महत्त्व नहीं रह जाता। ध्रुव आकाश में दिखाई दे और ध्रुव का तात्पर्य हमारे जीवन में न आवे, तो ध्रुव का कोई अर्थ नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं–

ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी।
स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी।। २/३२४/५

भरत जी के हृदय का विश्वास मानो ध्रुव है। विश्वास की यह चौथी परिभाषा है–जो अटल है, जो अपनी दिशा कभी नहीं बदलता, वही विश्वास है। तात्पर्य यह कि साधना, उपासना-पद्धति बदलती रहती है, पर विश्वास कभी नहीं बदलता। वर-कन्या के विवाह के सन्दर्भ में भी इसका आभिप्राय यही है कि दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति ध्रुव-विश्वास का उदय हो, जीवन में यह ध्रुवतारा आना चाहिए।

विश्वास की पाँचवी परिभाषा आपको मिलेगी उत्तरकाण्ड में। वहाँ पर गोस्वामीजी कहते हैं कि पात्र विश्वास है-

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा।। ७/११६/१२

यह सूत्र भी बड़ा सार्थक है। इसका अभिप्राय है कि बर्तन की तुलना में महत्त्वपूर्ण तो दूध को ही माना जाता है, परन्तु यदि आप बिना बर्तन के गाय के पास दूध लेने पहुँच गए और उसे दूहने लगे, वह दूध देने भी लगी, पर बर्तन न होने पर तो सारा दूध भूमि में गिरकर नष्ट हो जाएगा। वैसे ज्ञान का दीपक जलाने के लिए जब श्रद्धा की गाय को दूहा जाएगा, तो उसके लिए पात्र चाहिए। पहले जीवन में श्रद्धा की गाय ले आइए। उसे साधना की हरी-हरी घास खिलाइए–

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई।।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
७/११६/६-१०

पहले श्रद्धा और उसके बाद सत्कर्म। सत्कर्म की तुलना घास से की गई। घास क्या है? किसी को यदि तुच्छ कहना हो, तो उसकी तुलना घास-फूस से करते हैं, पर गाय जितना भी दूध देती है, वह चारे के द्वारा ही देती है। अब चारे और दूध में कितना अन्तर है? कोई अतिथि आपके घर आए और आप दूध दीजिए, तो उसे वह

अपना स्वागत समझेगा। और उसके सामने चारा रख दें कि इसी से दूध बनता है, लीजिए इसी को खा लीजिए, तो वह अपमान से क्रुद्ध होकर उठकर चला जाएगा, तुम मुझे पशु समझते हो? इसका अभिप्राय यह है कि श्रद्धारहित कर्म अपमानजनक घास के समान होगा। गाय उस चारे को खाकर दूध बना दे। इस प्रकार श्रद्धा में यह सामर्थ्य है कि वह हमारे सत्कर्म को दिव्य दूध के रूप में परिणत कर देती है। उसके बाद बताया गया कि चारा कैसा हो। आलस्य के कारण चारा सुखाकर रख लिया जाता है, वही खिला देंगे। पर गाय को पूरा आनन्द तब आएगा, जब उसे हरा-हरा ताजा चारा दिया जाएगा अर्थात् साधना सूखी नहीं सरस चाहिए। सूखी साधना माने? दस दिन साधना किया, फिर साल भर के लिए छुट्टी पा ली, हो गई साधना। यह नित्य साधना, हरी घास जैसे आप नित्य काटकर लाते हैं, वैसे ही साधना एक दिन को भी न छूटे। नई-से-नई साधना होती रहे। अब चारा खिलाने के बाद भी गाय के स्तन में दूध कब आएगा? जब बछड़ा होगा–

भाव बच्छ सिसु पाई पेन्हाई। ७/११६/११

श्रद्धा हो, सत्कर्म हो, भाव हो। फिर तीनों के बाद दूहने वाला अहीर हो और वह अहीर भी कैसा चुना गया? दूहने की कला भी सब नहीं जानते। जिनको गाय दूहने का निरन्तर अभ्यास हो, वे ही बुढ़िया दूहते हैं। वैसे तो लोग दूध दूहने वालों को बुला लेते हैं, पर उनके साथ अक्सर झगड़ा होता रहता है। क्यों? उसको कई जगह गाय दूहनी होती है। वे कभी जल्दी आ जाते हैं, तो कभी देर से। गोस्वामीजी कहते हैं कि इस गाय को दूहने के लिए अहीर रखे समय ध्यान रखना कि वह अधिक घरों में दूध दूहनेवाला न हो। और वह अहीर कौन है? मन ही वह अहीर है। श्रद्धा सत्कर्म और भावना का जो फल होगा, उसे दूहनेवाला मन ही है। गोस्वामीजी मन के साथ दो बातें जोड़ देते हैं–एक तो हाथ धोकर दूहेगा तो दूध साफ रहेगा, गन्दे मन से मत दूहिए और उसके साथ अगला वाक्य और भी सुन्दर है–वह निज दास हो–

निर्मल मन अहीर निज दासा। ७/११६/१२

'निज-दास' का क्या अर्थ है? जिनका मन बहुधंधी है, न जाने कहाँ-कहाँ भटकने वाला है, कभी यहाँ गाया, कभी वहाँ गया, वह क्या दूहेगा? तो इस मन के अहीर में स्वच्छता हो, निजदासत्व हो। इस प्रकार सत्कर्म हो, सद्भाव हो, मन निर्मल हो। इस प्रकार सत्कर्म हो, सद्भाव हो, मन निर्मल हो, भटकने वाला न हो, शान्त हो, पर इसके बाद भी आपके जीवन में उतना ही दूध आएगा, जितना बड़ा आपके पास बर्तन होगा—

नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा।। ७/११६/१२

बर्तन न हो, तो दूध आएगा भी तो वह नीचे बह जाएगा। यह विश्वास ही बर्तन है और बर्तन हो, पर उसमें छेद हो, तो क्या होगा? उधर से दूध आता रहेगा और इधर से बहता जाएगा। अतः विश्वास का जो बर्तन है, उसमें छिद्र न हो। इस प्रकार विश्वास का एक रूप बर्तन है।

जो प्रसंग चल रहा है—अंगद का पैर क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं—यह विश्वास है। जब अंगद ने रावण से कहा—तुम या तुम्हारा कोई भी सभासद यदि मेरा पैरा उठा देगा, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा। अंगद का चरण विश्वास है और रावण मोह तथा राक्षस दुर्गुण-दुर्विचार हैं। यदि मोह या दुर्गुण-दुर्विचारों द्वारा विश्वास डिग गया, तो भक्ति की हार हो गई—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।। ७/९०

अंगदजी कहते हैं कि पैर डिगने से मैं सीताजी को हार जाऊँगा और उनका अभिप्राय यह है कि जब मेरा विश्वास डिग जाएगा, मेरी आस्था ही डिग जाएगी, तो सीताजी की, भक्ति की हार तो हो ही जाएगी। और विश्वास डिग गया, भक्ति की हार हो गई, तो भगवान तो चले ही जाएँगे।

अंगद के इस कथन का अभिप्राय यह है कि परिस्थिति चाहे जितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो, हमारा विश्वास कभी न डिगे। किसी ने अंगद से पूछा—आपने ऐसी प्रतिज्ञा करते समय सोचा नहीं? अंगद ने कहा—प्रतिज्ञा मेरी नहीं, स्वयं भगवान की थी, हमने तो केवल

दुहरा भर दी। जनक के दूतों ने जब प्रतिज्ञा की, तो अपनी ओर से थोड़े ही की थी, उन्होंने तो बस जनकजी के वाक्य को दुहरा दिया था—

बोले बंदी बचन पर सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल।। १/२४६

भागवत में बड़ा सुन्दर सूत्र आता है, जिसमें भक्ति-मार्ग की एक विशेषता बताई गई है। मार्ग में चलते हुए एक बहुत बड़ी आशंका रहती है कि व्यक्ति गिर न पड़े। लोग कई तरह से गिर पड़ते हैं। आँख कहीं इधर-उधर हुई, तो ठोकर लगेगी और व्यक्ति गिर जाएगा, या कभी तेजी से दौड़े तो गिरने का डर बना रहेगा। ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग में गिरने और चोट लगने की सम्भावना है, लेकिन भक्ति-मार्ग की विशेषता क्या है? भागवत में बड़ी अनोखी बात कह दी गई है और अंगद ने मानो इसी वाक्य को अपने जीवन में धारण कर लिया। क्या? इस सूत्र के अनुसार यह भक्ति का मार्ग इतना अनोखा है कि यदि कोई आँख मूँदकर दौड़े, तब तो अच्छा खासा व्यक्ति भी गिर पड़े। आँख खोलकर दौड़ते हैं तो गिर पड़ते हैं, पर—

धावन् निमील्य वा नेत्रे न पतेत् न स्खलेदिह।

कोई व्यक्ति आँख मूँदकर भी दौड़े, तो भी भक्ति के इस मार्ग में न तो पतन है न स्खलन।

अंगद का अभिप्राय क्या है? भगवान से लेकर सन्तों तक ने आँखें मूँदने के लिए कहा, तो मैंने मूँद लीं। कैसे? अपना गणित मैंने बिल्कुल नहीं सोचा कि मेरा चरण उठेगा या नहीं। इसका सांकेतिक अर्थ क्या है? जीवन के मार्ग में जहाँ पुरुषार्थ-प्रधान मार्ग है, वहाँ तो व्यक्ति को निरन्तर सजग रहना होगा। यदि वह सजग-सावधान नहीं रहेगा, तो पतन होने में देर नहीं लगेगी। कर्ममार्ग में भी पतन है और ज्ञानमार्ग में भी। पर नेत्र मूँदकर दौड़ने का संकेत रामायण में भी सुतीक्ष्णजी के प्रसंग में बड़ा सुन्दर दिया गया है कि भगवान राम आ रहे हैं। यह सुनते ही सुतीक्ष्ण जी दौड़ पड़े—

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा।। ३/९/३

तो "धावन् निमील्य वा नेत्रे" का सबसे बढ़िया उदाहरण है सुतीक्ष्णजी का चरित्र। सुतीक्ष्णजी दौड़े, पर दौड़े ही नहीं, आँखें भी मुँद गई। दोनों बातें उनके जीवन में हुई। आगे चलकर लिखा हुआ है, दिखाई देना बन्द हो गया, मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम कुछ भी नहीं समझ में आ रहा है। यह भी भूल गए कि मैं कौन हूँ, मुझे कहाँ जाना है, किस दिशा में जाना है, सब कुछ भूल गए–

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।। ३/६/११

लेकिन बड़ी अनोखी बात हुई। जब दिखाई देना बन्द हो गया तो बैठ गए-

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। ३/६/१५

बड़ी सुन्दर बात है। जब हमको अपना लक्ष्य, अपना प्रयत्न न सूझे, जैसे हमें किसी गाँव में जाना है और हम गाँव में न पहुँचे, तो गाँव हमारे पास थोड़े ही आएगा? पर यदि हम भगवान की ओर चलें तो उसमें विशेषता यह है कि भगवान गाँव की तरह जड़ तो नहीं हैं, यदि आप नहीं पहुँचेंगे तो वे ही यह सोचकर आपके पास आ जाएँगे, वह मेरी ओर आ रहा था, नहीं आ पाया तो हम ही चलें। भगवान ने देखा कि सुतीक्ष्ण दौड़े चले आ रहे हैं, तो लक्ष्मण जी से कहा, सुतीक्ष्ण स्वागत करने दौड़े चले आ रहे हैं। लक्ष्मण जी बोले, महाराज, बहुत देर हो गई, वे नहीं आए। तो प्रभु ने कहा कि चलो देखें, कहाँ रह गए? सुतीक्ष्णजी बैठे हुए हैं, आँखें मुँदी हुई हैं और भगवान सामने खड़े हुए हैं। भगवान राम सुतीक्ष्णजी का हाथ पकड़कर बार-बार कहते हैं, अरे भाई, आँखें खोलो, कहाँ तो स्वागत करने आ रहे थे और कहाँ मैं आ गया हूँ, फिर भी देख ही नहीं रहे हो। गोस्वामीजी कहते हैं–

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। ३/६/१७

गोस्वामीजी एक सूक्ष्म संकेत यह देते हैं कि एक भगवान राम तो बाहर दीख रहे हैं, पर वे सुतीक्ष्णजी से मिलने को इतने उतावले हैं कि इनके हृदय में भी प्रकट हो गए–

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदय हरन भव भीरा।। ३/६/१४

सामने पहुँचने में तो समय लगेगा, चलना पड़ेगा, लेकिन वे सुतीक्ष्ण जी के हृदय में तो पहले ही प्रकट हो गए थे। सुतीक्ष्णजी तो भीतरवाले राम में डूबे हुए हैं। अब एक भीतर वाले राम हो गए और एक बाहर वाले राम। भीतरवाले राम के रस में डूबे हुए हैं सुतीक्ष्ण जी और बाहरवाले राम उन्हें जगा रहे हैं। मुनि जी का अभिप्राय मानो यह था कि भीतर के इस दिव्य रस को छोड़कर बाहर कहाँ जाएँ। तब प्रभु ने सोचा कि मैं तो लोक कल्याण के लिए निर्गुण से सगुण बना, पर यदि लोग केवल भीतर ही भीतर देखेंगे तो अवतार लेकर बाहर आने का तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। तब भगवान श्रीराम ने–

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा।।
मुनि अकुलाई उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिबर जैसें।।
आगें देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा।।
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़ भागी।।
३/६/१८-२१

सुतीक्ष्णजी भगवान के चरणों में लिपट जाते हैं और इससे भगवान की बड़ी विचित्र शोभा हो गई–

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।
कनक तरुहि जनु भेंट तमाला।। ३/६/२३

बड़ी उलटी उपमा है। मुनिजी से मिलकर भगवान की शोभा ऐसे बढ़ गई, मानो तमाल का वृक्ष सोने के वृक्ष से लिपट गया हो। तमाल वृक्ष हैं श्रीराम और सोने के वृक्ष हैं सुतीक्ष्णजी। अब प्रश्न यह है कि सुतीक्ष्णजी की शोभा राम से बढ़ी या राम की शोभा सुतीक्ष्णजी से? गोस्वामीजी कहते हैं कि सुतीक्ष्ण जी से राम की शोभा बढ़ी, क्योंकि सुतीक्ष्णजी मूर्तिमान प्रेम तथा श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं, और ईश्वर की शोभा तो प्रेम से ही बढ़ती है। प्रेम के बिना ईश्वर अपूर्ण लगता है।

इसका अभिप्राय यह है कि अब हमारा प्रियतम चैतन्य है, आँख

मूँद लेने का तात्पर्य यह है कि पूरा विश्वास कर लिया। यह एक विलक्षण बात है कि विश्वास के मार्ग से चलने के लिए हम अपनी बुद्धि से नहीं सोचेंगे, अपनी दृष्टि से नहीं देखेंगे, अब तो पूरी तौर से आपकी ओर चल रहे हैं, अब ऐसी स्थिति में इस मार्ग में गिरेगा तो कौन गिरेगा? यदि भक्ति के मार्ग में चलता हुआ भक्त गिर जाए तो किसके यश की हानि है भक्ति की या भगवान की? जब हनुमानजी का प्रभु से मिलन हुआ, तब उन्होंने प्रभु और लक्ष्मणजी से प्रार्थना की, आप दोनों मेरे पीठ पर बैठकर जाइए। प्रभु ने मुस्कुराकर लक्ष्मण को संकेत किया कि इतना अच्छा बोझ ढोनेवाला नहीं मिलेगा, हम दोनों का भार ले रहा है। ऐसे अवसर का लाभ अवश्य उठाना चाहिए। ऐसा भक्त कहाँ मिलेगा? हनुमानजी ने मुस्कुराकर दोनों को कन्धों पर उठा लिया। पर वे बोले कि प्रभो, पहले निर्णय हो जाए कि भार किसने उठाया? प्रभु बोले, तुमने उठाया। बोले, नहीं प्रभु, आप ध्यान रखिए, मैंने जान-बूझकर आपको पीठ पर बैठाया है। क्यों? बोले, पहाड़ पर चढ़ना है। परन्तु जब आप इतनी दूर चलकर आए हैं, तो पहाड़ पर भी चढ़ सकते हैं। मगर मुझे चिन्ता यह हो गई है कि मुझे भी तो पहाड़ पर चढ़ना है और चढ़ने में सबसे बड़ा डर यह है कि जरा भी पैर फिसला कि व्यक्ति नीचे गिर जाता है। लेकिन पहाड़ पर चढ़नेवाला यदि किसी को अपनी पीठ पर बैठा लें, तो जितनी चिन्ता चढ़ने वाले को नहीं होती, उससे अधिक चिन्ता पीठ पर बैठने वाले को होती है कि यह कहीं गिरा, तो सारी चोट मुझे ही तो लगेगी। इसलिए महाराज, जरा सोचिए कि कितनी बड़ी चिन्ता का भार मैंने आपको दिया कि हनुमान गिरेगा, तो चोट आपको लगेगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त का यदि पतन हो जाए, तो क्या होगा, इसकी चिन्ता भगवान करें क्योंकि इससे चोट तो भगवान को ही लगेगी। लोग कहेंगे कि कैसे भगवान हैं, अपने भक्त को पतन से नहीं बचा पाए। इसलिए इस मार्ग से भक्त समग्र रूप से समर्पित हो गया है। और आँख मूँद लेने का तात्पर्य है, भगवान में पूरी तौर से विश्वास। परिणाम यह होता है कि वहाँ पर पतन और स्खलन यदि किसी का होता है तो वह भगवान का ही माना जाएगा। अंगद से

पूछा गया, आप निश्चिन्त क्यों थे? बोले कि जब शास्त्र कहते हैं, महात्मा कहते हैं, भगवान कहते हैं कि इस मार्ग में स्खलन नहीं होता, तब चिन्ता किस बात की?

समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माझ पन करि पद रोपा।।

६/३३/८

अंगद की इतनी अचल आस्था है और उस आस्था का परिणाम यह होता है कि अंगद का पतन नहीं हुआ। अंगद के पैर को खींच लेने का अर्थ होता, अंगदका नीचे गिर जाना। भक्त कभी नहीं गिरता। जिसने भगवान पर सारा भार दिया हुआ है, जिसने भगवान को सारा विश्वास सौंप दिया है, वह भक्त कभी नहीं गिरता। अंगद से किसी बन्दर से पूछा कि जब आपने अपना पैर रोप दिया, तब आपको कैसा लग रहा था? एक ओर अकेले आप और दूसरी ओर इतने सारे राक्षस सब मिलकर आपका पैर उठा रहे थे। अंगद ने कहा कि तुम लोग कह रहे हो कि मैं अकेले था, पर मैं अकेले कहाँ था? अरे, हनुमानजी मेरे पैर को कसकर पकड़े हुए थे और पृथ्वी भी मेरे पैर को जोर से पकड़ी हुई थी, लंका भी मेरे पैर को पकड़े हुए थी, क्योंकि हनुमान जी ने रावण की सभा में घोषणा कर दी थी—

राम चरन पंकज पर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२२/१

जब हनुमानजी कह चुके हैं कि भगवान की कृपा से जीव का पद अचल हो जाता है, पर यहाँ तो तीनों एक साथ हैं, भक्ति, भक्त और भगवन्त। तीनों में से एक भी मिल जाए, तो वह अचल हो जाए, पर यहाँ तो तीनों मिल गए अंगद के पक्ष में। भक्तिरूपा सीता-माँ चिन्ता करें, क्योंकि मैंने दाँव पर तो उन्हीं को लगा दिया, अतः चिन्ता उन्हीं को होनी चाहिए। या फिर चिन्ता भगवान को होनी चाहिए, जिनकी वे प्रिया हैं, या चिन्ता हनुमानजी करें कि उनका वचन मिथ्या न हो जाए। जहाँ इतने लोग चिन्ता करने वाले हैं, वहाँ मैं काहे की चिन्ता करूँ? मैं तो निश्चिन्त था।

मानो संकेत यह था, अरे भई! मेरा पैर कैसे हटता, भले ही उधर से इतने राक्षस थे; परन्तु जब महाकाल शंकरजी, महाशक्ति

सीताजी और साक्षात् ईश्वर भगवान राम। जब ये तीनों बचाने में लगे हों, तो डिगने और गिरने की सम्भावना कहाँ है। अंगद को भगवान की महिमा पर सच्चा विश्वास था, सन्त की वाणी पर सच्चा विश्वास था और अन्त में जो उन्होंने विजय प्राप्त की वह विश्वास की विजय थी। मानो इसका सांकेतिक अभिप्राय यही है कि यह भक्ति-विश्वास का जो परम लक्ष्य है, उस विश्वास के साथ जो समस्याएँ आती हैं, उनसे बचकर जब हमारा विश्वास अडिग हो जाता है, अचल हो जाता है, तब वह कभी नीचे की ओर नहीं आता। तब ऐसी परिस्थिति में यही भगवान की विजय है, भक्ति की विजय है और इसलिए यह अंगद की विजय है।

⇔